गुरु मण्डल

का

छठा पुष्प

सत्य की जय हो
असत्य का नाश हो
अहिंसा की जय हो
भावना पवित्र हो

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

गृहस्थ-धर्म

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग भवेत् ॥

श्रीविष्णवे नमः।

प्रातः स्मरण मन्त्र :—(ऋग्वेद मंडल ७। सूक्त ४१)

ओ३म् प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रा वरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम ॥ १ ॥
ओं प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्त्ता।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥ २ ॥
ओं भग प्रणेतर्भग सत्यराधो, भगेमां धियमुदवा ददन्नः।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥ ३ ॥
ओं उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ ४ ॥
ओं भग एव भगवां अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति, स नो भग पुर एता भवेह ॥ ५ ॥

अर्थ—प्रातःकाल हम प्रकाशस्वरूप, ऐश्वर्य के दाता, प्राण एवं उदान के समान प्रिय, वेदोंके कर्त्ता, भक्तोंके प्रतिपालक, अन्तर्यामी, न्यायकारी प्रभुकी स्तुति करते हैं ॥ १ ॥

हम प्रातः तेजस्वी, सूर्यादिके धारणकर्त्ता, विश्वके पालक, चेतन स्वरूप, परम माननीय सबके राजा, परमेश्वर की स्तुति करते हैं जिस प्रभुने विश्वके समग्र ऐश्वर्य हमारे लिये रचकर उनके भोग (अनासक्त भाव से) करने की पूरी स्वतन्त्रता हमें दी है ॥ २ ॥

हे सकल ऐश्वर्यके स्वामिन्, हे हमारे नेता और पथप्रदर्शक प्रभो! आप हमें सत्यसे उपार्जित धन दीजिये, बुद्धि दीजिये, भूमि वाणी वशमें रहनेवाली इन्द्रियां एवं गौ, घोड़े आदि दीजिये। आपकी कृपासे हम कुटुम्बी मित्रादि बहुत मनुष्योंसे युक्त होवें ॥ ३ ॥

हम इस ब्राह्म मुहूर्त्तमें, सूर्योदयके समय, दो पहर और सब समय ऐश्वर्योंसे युक्त रहें। परोपकारी विद्वानों की नेक सलाहमें रहें ॥ ४ ॥

हे नाथ, भग अर्थात् धन, बल, विद्या, ज्ञान, वैराग्य (ममता त्याग एवं आस्तिकता रूप छः ऐश्वर्योंके हम स्वामी होवें। ये हमारे ऐश्वर्य आपकी सेवामें ही अर्पित होवें। आप हमें सारे ऐश्वर्य दीजिये

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

गृहस्थ-धर्म

संग्रहकर्त्ता

मनसुखराय मोर

तृतीय संस्करण के सम्पादक

अवधविहारीलाल

साहित्याचार्य, एम० ए०, बी० एल०

श्रीनाथादि गुरुत्रयं गणपतिं पीठत्रयं भैरवं ।
सिद्धौघं वटुकत्रयं पदयुगं दूतीक्रमं मण्डलम् ॥
वीरान्द्व्यष्ट चतुष्कषष्टिनवकं वीरावली पंचकं ।
श्रीमन्मालिनिमन्त्रराजसहितं वन्दे गुरोर्मण्डलम् ॥

मिलने का पता :—

५, क्लाइव रो, कलकत्ता ।

पञ्चम संस्करण २०,०००] १९५० [सं० २००६ वि०

ओ३म्

प्राक्कथन

जिनके भव्य भावोंकी चारु कुसुमाञ्जलिको प्रस्तुत पुस्तकाकार मालाके रूपमें ग्रथित कर मैं जनता जनार्दन को अर्पित करने जा रहा हूं वह सेठ मनसुखरायजी मोर एक आदर्श गृहस्थ हैं। स्कूली शिक्षा अधिक न पाकर भी किस प्रकार मनुष्य अपने सतत स्वाध्याय और अध्यवसायसे शास्त्रोंके निगूढ़ तत्त्वोंका गम्भीर अन्वेषक और पर्यालोचक हो सकता है, विपुल सम्पत्तिका स्वामी होकर भी कैसे सादा, सात्त्विक, आडम्बरशून्य जीवन बिता सकता है, इस सम्बन्धमें प्रशंसित सेठजीका जीवन जनसाधारणके लिये तथा पूंजीवादके प्रति बढ़ते हुए असन्तोषके इस वर्तमान युगमें धनिकवर्गके लिये भी विशेष अनुकरणकी वस्तु है। संस्कृत भाषामें अधिक प्रवेश न होनेपर भी आपका इसमें अगाध प्रेम है। आप सदा रामायण, महाभारत, पुराण एवं स्मृति आदि ग्रन्थोंका पाठ करते रहते हैं और उनमेंसे ही अनमोल रत्न निकालते रहते हैं। आप शास्त्रोंके मर्मको बड़ी गहराईसे विचारते हैं। वैदिक साहित्यसे यद्यपि आपका सम्पर्क मेरे ही कारण हुआ है फिर भी वेदार्थ करनेमें कहीं-कहीं मैं आपकी अनोखी सूझसे बहुत अधिक प्रभावित हुआ हूं। आपका यह उद्योग वर्षों से आ रहा है कि आर्ष ग्रन्थोंके पवित्र आदेश स्वयं निकालकर अथवा विद्वानोंके सहयोगसे सङ्कलित कराकर जन-साधारणके सामने पुस्तकाकारमें बिना मूल्य पहुंचाये जांय। प्रस्तुत पुस्तक उसी श्लाघ्य सत्कार्य का नूतनतम रूप है

आप धर्मको उसके वास्तविक शुद्ध रूपमें माननेवाले और प्रचार करनेवाले हैं। यथार्थमें धर्म कोई मतमतान्तरके झगड़े और वैर-विरोधकी वस्तु नहीं है। धर्म तो सारे प्राणिमात्रका धारण अर्थात् पालन करनेवाला है। 'धारणाद् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः' महर्षि व्यासका यह कथन सभी धर्म-प्रेमियोंको सदा स्मरण करने योग्य है। महर्षि कणादने तो वैशेषिक दर्शनमें यहाँ तक कह दिया है कि 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' अर्थात् जिससे सांसारिक उन्नति (लोकयात्रा का सुन्दर सफल निर्वाह) एवं परलौकिक परमानन्द मोक्ष सुखकी प्राप्ति हो वही धर्म है। मनुमहाराजके बताये धर्मके दश लक्षण तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं ही—

> धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
> धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

धृति (धैर्य रखना, उतावला न होना, विपत्तिमें न घबड़ाना), क्षमा (अपने प्रति किये गये अपकारों वा अशिष्ट व्यवहारों को स्मरण न रखना, प्रतिहिंसा की भावना त्याग देना), दम (अपने मनको वशमें रखना), अस्तेय (दूसरे की वस्तु वह कितनी ही तुच्छ क्यों न हो उसकी आज्ञाके विना, किंवा उसकी इच्छाके विरुद्ध न लेना), शौच (शरीर, मन और आत्मा की पवित्रता), इन्द्रियनिग्रह (इन्द्रियों को अपने वशमें रख उनसे सदुपयोग लेना, स्वयं उनके दास न होना), धीः (बुद्धि), विद्या (सृष्टिसे लेकर ब्रह्म तक सबका यथावत् ज्ञान प्राप्त करना), सत्य (मनसा

वाचा कर्मणा सत्यका पालन करना) एवं अक्रोध (क्रोध न करना) ये ही दश लक्षण धर्म के हैं। यदि किसी मनुष्यमें इन लक्षणोंकी विद्यमानता है तो समझना चाहिये कि वह मनुष्य धर्मात्मा है। यदि ये लक्षण नहीं हैं तो उस मनुष्यमें धर्म नहीं है यह समझना चाहिये, चाहे उसने बाहरी चिन्ह माला, छाप, तिलक, रंगीन वस्त्र आदि कितने ही क्यों न धारण किये हों। क्योंकि 'न लिंगं धर्मकारणम्' वेशविशेष धर्म के कारण नहीं हैं।

धर्म अविभाज्य, सार्वभौम और सार्वकालिक है। कालविशेषमें व्यक्तिविशेषके साथ सत्यका व्यवहार करना चाहिये कालान्तरमें अन्य व्यक्तिके साथ नहीं, यह मत मान्य नहीं है। सच्चे धर्म में नीति, पालिसी, सुविधावाद आदि का स्थान नहीं है। मनुष्यको किसी समय, किसी परिस्थिति में भी असत्य भाषण किंवा असत्य व्यवहार नहीं, करना चाहिये।

ब्रह्मचर्य मानव-जीवनके उत्थानमें बड़ा सहायक है। इस पुस्तकमें इस तथ्यका प्रतिपादन किया गया है। कम उम्रके बालक बालिकाओं का दाम्पत्य सम्बन्ध मानवमात्रके लिये घातक है। गृहस्थ आश्रममें भी ऋतुगामी होने और पति-पत्नी सन्तानार्थ ही दाम्पत्य सहवास करें इसपर इस पुस्तकमें बड़ा बल दिया गया है। गृहस्थ को एक सन्तानके बाद दूसरी सन्तान की उत्पत्तिमें पांच वर्ष का अन्तर आवश्यक रूपसे रखना चाहिये। अन्यथा सन्तान दुर्बल, विकलाङ्ग एवं अल्पायु होगी। माता-पिता का भी स्वास्थ्य नष्ट होगा। इस विषय को भी इस पुस्तक में

समझानेका प्रयास किया गया है। मनुष्य का जीवन कर्ममय होना चाहिये। प्रभुने जीवके कल्याणार्थ संसार रूपी कर्मक्षेत्र की रचना की है और मानव जन्म दिया है कि जिससे मनुष्य कर्म करनेका अवसर प्राप्त करे और अपने पुरुषार्थ से विश्वके इतर प्राणियों का कल्याण कर प्रभुके अमृतपुत्र कहलाने का अधिकारी अपने को बना सके एवं इहलौकिक जीवनकी समाप्तिके अनन्तर परमपद की प्राप्ति कर सके। ऐसे अमूल्य जीवनको आलस्य, प्रमाद, दिवा-निद्रा एवं दुर्व्यसन में बिताना हीरा को कांच के मोलमें बेचनेके समान है। मनुष्यको कदापि निठल्ला नहीं रहना चाहिये। सब समय अपने को किसी न किसी प्रकारके उद्योगमें व्याप्त रखना चाहिये। 'बैठे से बेगार भला' यह लोकोक्ति इस भावको लेकर बनी है। कारण, निरुद्यमी बेकार बैठे मनुष्यका मस्तिष्क शैतान का कारखाना है—(*An idle brain is devil's work shop*)। किसी भी प्रकार का शुभ काम तो करते ही रहना चाहिये। अपनी शरीर रक्षा, जीविका, परिवार पालन, लोकोपकार इत्यादि सभी कार्योंके लिये सदा उद्योग करते रहना चाहिये। यदि ऐसी परिस्थितिमें पड़ जाय कि शारीरिक परिश्रम न कर सके तो प्रभुका नामस्मरण गायत्री जप इत्यादि ही करे, मनको निकम्मा न छोड़े। यह भी इस पुस्तक का एक मुख्य विषय है।

इस पुस्तकमें प्रतिपादित यह सिद्धान्त तो बड़ा ही मौलिक एवं विद्वानोंके विचारने योग्य है कि बच्चोंको गौ, बकरी आदि

पशुओंका दूध कभी नहीं देना चाहिये। प्रत्येक प्राणी शैशव-कालमें अपनी माताके ही दूधसे लालित-पालित हो बादमें पृथिवी माताके दुग्धरूप अन्न, फल, मेवा आदिके द्वारा शरीर धारण करे। किसी भी उम्रमें मनुष्य को गोदुग्ध किंवा भस, बकरी आदि का दूध नहीं सेवन करना चाहिये। कारण, ऐसा करना प्रकृतिके नियमके विरुद्ध है, उन पशुओंके प्रति घोर अन्याय एवं पशु-दुग्धसेवी मनुष्य की शारीरिक एवं मानसिक शक्तिके लिये भी विघातक है। गो-दुग्ध आदि किसी भी अवस्थामें लिये जांय अथवा नहीं, इस विषयमें मतभेद का अवकाश हो सकता है। परन्तु यह तो निर्विवाद है कि जिस रूपमें आज दुग्धके प्रति हमारी लोलुपता बढ़ रही है और येन-केन प्रकारेण दूध देनेवाली मादा पशुओंका अन्तिम बून्द तक दुग्ध दूह कर हम अपने उपयोगमें लानेपर पूरे उतारू हो गये हैं, उससे उन गौ आदि पशुओंके बछड़े मातृ-दुग्ध से सवदा वंचित किये जाकर मृत्यु मुखमें ढकेले जा रहे हैं, गोवंश का ह्रास हो रहा है। हम गौ को तो माता कहते हैं, परन्तु यह कहां की मातृभक्ति है कि अपनी माता के बच्चोंके साथ भ्रातृ-प्रेम न रखें, उनका ईश्वर-प्रदत्त आहार छीन लेवें।

हमें सादा सात्त्विक एवं तपस्वी जीवन बनाना चाहिये कृत्रिमता और फैशानपरस्ती से बचकर प्राकृतिक जीवन बितान चाहिये, प्रकृति-माताकी गोदमें स्वच्छन्द खेलना चाहिये। इस ओर भी इस पुस्तक में संकेत किया गया है। यथार्थ में इ

प्राकृतिक तत्त्वोंके जितने समीप होंगे उतने ही हमारे शरीर, मन और प्राण शुद्ध, स्वस्थ और बलवान् होंगे।

इस पुस्तकमें ऐसी ही बातें ग्रह की गई हैं जो सार्वतन्त्रिक एवं निर्विवाद हैं, जिन्हें अपनानेमें किसी देश, जाति या वर्गके मनुष्योंको लेशमात्र भी संकोच नहीं हो सकता है। शुद्ध सनातन वैदिक धर्म सार्वभौम धर्म है, मानव धर्म है उसकी शिक्षाओंका, जो इस पुस्तक में लेखबद्ध की गई हैं, पालन करनेसे मनुष्य क्या प्राणिमात्र का कल्याण होगा ?

आवश्यक है कि इस सनातन सत्योंका विश्वमें व्यापक प्रचार हो। प्रस्तुत पुस्तक के लिखे जाने और उसकी प्रतियोंकी मांग के अनुसार किसी भी संख्यामें जनता तक विना मूल्य पहुंचाने में सेठजी का यही पवित्र उद्देश्य है। हमें अपने कल्याण की दृष्टिसे ऐसी मर्यादा वना लेनी चाहिये जो वेदादि शास्त्रोंके अनुकूल, सदाचारी, लोक-संग्रही पूर्वज महात्माओंके आचरण के अनुरूप एवं अपनी आत्मा को प्रिय हो। ऐसा ही करनेसे हम स्वयं संसारमें सुख-शान्ति पूर्वक रह सकते हैं, समस्त विश्वमें सुख-शान्ति का राज्य स्थापित कर सकते हैं। विद्वानोंको, जिनके हाथमें ही मनुष्यमात्र का नेतृत्व करने, उन्हें सच्चा पथ दिखाने का विशेष उत्तरदायित्व है, अति उचित है कि एक मत होकर हमें कल्याण पथपर चलाने में प्रवृत्त होवें। वे हमें ऐसी शिक्षा देव एवं दिलानेका प्रबन्ध करें जिससे हम फैशन की दासता से छूट ब्रह्मचर्य पूर्वक रह सकें, पारस्परिक वैर

विरोध छोड़कर प्राणिमात्र के हित करनेमें सम्मिलित प्रयत्न कर सकें।

पाठकोंसे मेरी सानुरोध प्रार्थना है कि वे इस पुस्तक को आदि से अन्त तक मनोयोग देकर स्वयं पढ़ें और दूसरों को भी पढ़ावें। इसमें वेदमन्त्रों, महाभारत, रामायण, श्रीमद्भागवत आदिके सुन्दर मन्त्रों और श्लोकों को कण्ठस्थ कर लेने अथवा समय-समय पर उनका पाठ करने से पाठकों का बड़ा कल्याण होगा, यह मेरी दृढ़ धारणा है।

विश्वाधार, जगन्नियन्ता प्रभुसे प्रार्थना है कि वे सेठ मनसुख-रायजी मोरकी धार्मिक प्रवृत्ति और लगन को उनकी परोपकारी भावना और सात्त्विक बुद्धि को दृढ़ करें, जिससे आपके द्वारा एवं आपके आदर्शोंसे अनुप्राणित अन्यान्य धनीमानियोंके द्वारा भारत में धार्मिकता, आस्तिकता एवं सात्त्विकता के प्रचार में पूर्ण साहाय्य प्राप्त हो सके और आर्य ऋषियोंकी यह पुण्यभूमि फिरसे अपने लुप्त गौरव को प्राप्त कर विश्वका धार्मिक क्षेत्रमें नेतृत्व कर सके और समग्र संसार में रामराज्य की स्थापना हो सके।

शमित्योम्
अवधबिहारीलाल

भूमिका

(ले० रायबहादुर रामदेवजी चोखानी)

साधारणतः आजकल सनातनधर्मावलम्बी कहलानेवाले तो बड़ी संख्यामें पाये जाते हैं, परन्तु वस्तुतः धर्ममें श्रद्धा और विश्वास रखनेवाले बहुत कम हैं तथा शास्त्रोक्त पथका अनुसरण करनेवाले तो विरले ही हैं। अनेक लोग तो धर्ममें प्रेम रखना दूर रहा उसको उपहास और घृणा की दृष्टिसे देखते हैं और पुराने चालके भाइयों को पोंगापंथी, कूड़ापंथी, लकीर के फकीर इत्यादि आख्या देकर अनाचार तथा कदाचार एवं दुराचार को प्रोत्साहन देनेमें गर्वका अनुभव करते हैं। यह देशके भविष्यके लिये बड़े ही खेद का विषय है। 'स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः' ऐसा कहकर मनु महाराजने संसारके सारे देशोंको ललकार कर कहा था कि भारतके आदर्श को देखते हुए सब कोई अपना चरित्र निर्माण करें और आज उसी देशका ऐसा अधः-पतन हुआ कि धर्मकी अपेक्षा फैशन समझा जाने लगे! 'किमा-श्चर्यमतःपरम्'? हां यह मैं माननेके लिये प्रस्तुत हूं कि परि-स्थितिके परिवर्त्तन से कहीं-कहीं हमारी रहन-सहन और चाल-चलनमें परिवर्त्तन की आवश्यकता है। पर, इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस पुण्य भूमि के समस्त प्राचीन रत्नोंको मूल्यहीन समझकर ठुकरा दिया जावे और समुद्र पारके चमकीले और भड़कीले कांचोंको अपनाया जावे।

अस्तु, इस समय अच्छे पुस्तक, व्याख्यान, कथा, गायन इत्यादि द्वारा धर्मभावको जागृत करना महान् कार्य है। प्रस्तुत पुस्तक में गृहस्थ जीवनमें पालनीय अनेकानेक नियमों का उल्लेख विस्तारपूर्वक किया गया है। पाठकों को पढ़ने से मालूम होगा कि सनातन धर्म कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि ताकमें रख दी जाय और किसी विशेष अवसर पर पहन ली जाय। धर्म तो हमारे चाल-चलन में, भोजन में, शयन में, कार्य सम्पादन में, पूजा में, संक्षेपतः समस्त कार्यों में, हम में ओतप्रोत रूपमें रहना चाहिये *Religion is to be lived.* यदि साधारण बुद्धिसे भी इस पुस्तक को पढ़ेंगे तो ज्ञात होगा कि धर्मानुकूल चलने से हमारा स्वास्थ्य, हमारी आयु, हमारा सौभाग्य, हमारा पारलौकिक तथा ऐहिक दोनों कल्याण वर्धित होंगे।

मैं श्री मनसुखरायजी मोर को धन्यवाद देता हूं। उनकी पुस्तक से बड़ा उपकार होनेवाला है। मुझे विश्वास है कि हमारे श्रुतिस्मृति पुराण-प्रतिपादित धर्म का पुनरुत्थान अवश्यम्भावी है। श्रीमद्गीता में कहा है—'त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे' (हे भगवन्! आप शाश्वत अर्थात् सनातनधर्मके गोप्ता अर्थात् रक्षक हैं)। इसलिये आजके इस महान्धकार में भी मुझे ज्योति की किरणें दिखाई पड़ती हैं और मैं आशान्वित हूं। ईश्वर से प्रार्थना है कि लोगोंका मन (धियो यो नः प्रचोदयात्) ठीक रास्तेपर ले जानेकी कृपा कर।

राजगुरु पं० हरिदत्तजी शास्त्री (देहरादून) की शुभ सम्मति

सेठ मनसुखरायजी ने गृहस्थ-धर्म नामसे एक निबन्ध लिखा है। इसमें श्रुतिस्मृति, पुराण, उपनिषदोंके प्रमाणोंसे आदर्श गृहस्थ दिखलाया है। संस्कारोंसे जो इस देशमें संस्कृति थी उसका विशदीकरण और गृहस्थाश्रमी किस अवस्थासे होना चाहिये तथा सारे जीवन का उत्कर्ष वीर्य रक्षा पर निहित है इस प्रकरणको युक्ति तथा शास्त्र प्रमाणोंसे दिखाया है। मनुष्य स्वार्थी होनेसे अनेक प्रकारके आतंक और रोगका पात्र अपनेको बनाता है। आपने यहां तक निःस्वार्थता की सीमा दिखाई, जिस पशुका जो दुग्ध प्रकृतिने उसकी माताके स्तनोंमें दिया है वही उसका उपयोग कर सकता है दूसरे जो उपयोग करते हैं वे स्वार्थ परायणतासे उस वत्सका अंश अपहरण करते हैं। मनुष्योंके लिये पृथ्वीमें उत्पन्न हुए अन्न शाक फल उसकी आवश्यकताओं को पूर्ण करनेके लिये प्रकृतिने पर्याप्त मात्रामें रखे हैं इत्यादि गृहस्थोपयोगी बातें इसमें अच्छी तरह विन्यास की गयी हैं। सेठ मनसुखरायजी का शास्त्रोंको देखना और उनसे तत्त्वकी बातें निकालकर जन-समुदाय को समर्पण करना अपना विनोद बना हुआ है। ईश्वर इनके इस विनोद को सफल करें गृहस्थी लोग पढ़नेसे अपने गृहस्थ जीवन का उपकार कर यही आशीर्वाद है।

नम्र निवेदन

माताओ और भाइयो, जब हम अपनी वर्तमान दशापर दृष्टि-पात करते हैं तो हमें स्पष्ट विदित होता है कि हम पीढ़ी दर पीढ़ी नीचेकी ओर जा रहे हैं। हमारा पारिवारिक जीवन दुःखमय और सामाजिक जीवन विश्रृंखल हो रहा है। इस अवस्थाको देखकर मेरे हृदयमें जो विचार वर्षोंसे उठते आ रहे हैं उनको एकत्र करके इस पुस्तकके द्वारा मैंने आपके सामने रखनेकी धृष्टता की है। आप महान् हैं, मैं आपका तुच्छ सेवक हूं। आपसे विनम्र निवेदन है कि आप कृपा पूर्वक इस पुस्तकको आरम्भसे अन्त तक एक बार अवश्य पढ़ जावें। जो बातें आपको भली लगें उनको आप ग्रहण करें और उनका प्रचार अपने परिवार वर्ग एवं इष्टमित्रोंमें करें। जो स्थल आपको पसन्द न आवें उनपर आप अपनी दयादृष्टि एक बार और डालें और फिर न जंचे तो उस अंशको छोड़ देवें। मैं कोई विद्वान् वा उपदेशक नहीं हूं। मेरा अनुभव भी विशेष नहीं है। अतएव आप मेरी भूलके लिये मुझे क्षमा करेंगे।

मानवताके उत्थानका यह प्रश्न समस्त मानवमात्र का प्रश्न है। सामूहिक कार्य सम्मिलित उद्योगसे ही सफल हो सकता है। जिनके पास जो साधन हैं वे अपने साधनोंसे यथाशक्ति इस कार्यको करनेके लिए जब आगे बढ़ेंगे तभी हम सबोंका कल्याण हो सकेगा। अतएव विद्वान् अपनी विद्या और धनवान् अपने धनादि को मानव उत्थानके पुण्य कार्यमें अर्पित कर देनेका शुभ संकल्प करें। देश के विद्वानों एवं धनीमानियों से

मेरी विनम्र प्रार्थना है कि वे ऐसे ब्रह्मचर्य आश्रम, विद्यालय आदि स्थान-स्थान पर संचालन कर तथा अन्य उपायों से भी हमारे अन्दर सद्विद्या का प्रचार करें और करावें जिससे हमें ब्रह्मचर्य पूर्वक रहकर ईश्वरीय प्राकृतिक नियमानुसार अपने जीवन को बिताने का अवसर प्राप्त हो, हम अपनी तथा अपनी भावी सन्तान की उन्नति कर सकें। हमारा व्यक्तिगत जीवन पवित्र तथा सदाचार सम्पन्न बने, हमारा गृहस्थ आश्रम सुख-शान्ति से भरपूर होवें, एवं सामाजिक जीवन दृढ़, सुसंगठित और वैर-विरोध से रहित होवे।

प्राचीनकालमें धर्म की मर्यादा बनाये रखनेका भार राजाओं पर होता था। दुर्भाग्य से मुसलमान, ईसाई आदि अन्य मतावलम्बी शासकों के शासन काल में यह अवस्था न चल सकी। अब प्रभु की अपार अनुकम्पा से देश स्वतन्त्र हो गया है। स्वराज शासन महान् तपस्वी, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि धर्म के आधारभूत अंगों के अनन्य उपासक महात्मा गान्धीजीकी शुभ प्रेरणासे अनुप्राणित होकर राष्ट्र त्यागी तपस्वी नेताओं द्वारा संचालित हो रहा है। अतएव हम अपनी सरकार से अब पूरी आशा कर सकते हैं कि वह धर्म की मर्यादा फिरसे स्थापित करेगी वह ऐसी अवस्था करेगी जिससे देश में सारे मनुष्यों के दुःखदारिद्र्य, आलस्य, अनुद्योग दूर होवें और हमारे बच्चे सुन्दर शिक्षा पाकर शीलवान्, सच्चरित्र तथा ब्रह्मचारी बनें एवं आगे चलकर सद्गृहस्थ के रूप में अपना और दूसरों का अधिक से

अधिक कल्याण कर सकें। परमपिता, परमात्मा यह दिन दिखावे कि हमारे राष्ट्रीय शासन के सूत्रधार, हमारे प्राचीन महाराज अश्वपति की तरह यह घोषणा उच्च स्वर से कर सकें, जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् में आया है।

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः। अर्थात् मेरे राज्यमें कोई चोर नहीं है, कोई कंजूस (दान नहीं देनेवाला) नहीं, कोई शराबी भी नहीं है, कोई मनुष्य ऐसा नहीं जो यज्ञ (पुरुषार्थ) न करता हो, कोई मूर्ख नहीं, कोई व्यभिचारी नहीं तो व्यभिचारिणी स्त्री कहां से ?

पंचम संस्करण आपको भेंट कर रहा हूं। इसे आप कल्याणकी दृष्टिसे मनन कर इसमें घटाने या बढ़ानेकी राय कृपया मुझे लिख भेजें। प्रस्तुत पुस्तक आप सब लोगोंकी है, कोई मेरी अपनी चीज नहीं है। कारण, इसके संग्रह एवं प्रकाशन का हेतु मानव-जीवन का उत्थान करना है। मेरे जो भाव हैं उन्हें मैं आप विद्वोंके सामने सुझाव के रूपमें रख रहा हूं। इस सम्बन्ध में बराबर आपके आशीर्वाद का प्रार्थी हूं ताकि उससे सहारा पाकर मैं अपने ऐसे विचार समय-समय पर आपके सामने रख सकूं।

संवाद-पत्रोंकी आलोचनाओं एवं पत्र-प्रेषक महानुभावोंकी सम्मतियों के लिये जो बड़ी मात्रा में मुझे प्राप्त हुई हैं, मैं आभारी हूं। विज्ञजनों से आज भी मेरा आग्रह है कि कृपया यथासमय आप इस सम्बन्ध में अपनी राय प्रकाशित करते रहें।

मनसुखराय मोर

संक्षिप्त विषय-सूची

—:o:—

॥ गणेशायनमः ॥

गृहस्थ धर्म

अथोच्यते गृहस्थस्य नित्यकर्मयथाविधि ।
यत्कृत्वाऽनृण्यमाप्नोति दैवान्पित्राच्चमानुपात् ॥

अपने पूर्व जन्म के अच्छे कर्मों के फलस्वरूप हमको यह मानव शरीर प्राप्त होता है और इसी मानव शरीर को ईशरचित इस असार संसार में उसके ज्ञान द्वारा सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इस मानव शरीर की विशेषता को जानकर ही देवता भी इस भारतखण्ड में प्राणीमात्र की सेवा करने के लिये मनुष्य शरीर में जन्म लेने को सदा ही इच्छुक रहते हैं। अतः परम पिता परमात्मा को हर समय ध्यान में रखते हुए सद्बुद्धि की प्राप्ति कर ईश्वरीय (प्राकृतिक) नियमानुसार चलकर ज्ञान सहित सत्कर्म करते हुए आत्मा का प्रकाश बढ़ाते हुए मोक्ष की प्राप्ति करे इसी में मानव जीवन की सफलता है।

गृहस्थाश्रम सब आश्रमों में श्रेष्ठ माना गया है। ब्रह्मचर्याश्रम के विधिपूर्वक पालन करने के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिये क्योंकि उस समय तक हमारी बुद्धि परिपक्व हो जाती है। हमारा शरीर बलवान्, वीर्यवान् और आरोग्य रहता है। हमारा मन शुद्ध और सत्कार्यों की ओर झुका हुआ होता है।

सब आश्रमों के लोग गृहस्थाश्रम में आकर ही आश्रय पाते

हैं। अन्य तीनों आश्रमवालों के पालन-पोषण का भार गृहस्थों के कन्धों पर ही होता है। कमजोर कन्धे इस भार को कैसे सम्हाल सकते हैं। शास्त्र कहते हैं कि दुर्बलेन्द्रिय स्त्री-पुरुष इस आश्रम को धारण नहीं कर सकते। अतएव गृहस्थाश्रम को चलाने के लिये आवश्यक है कि स्त्री-पुरुष अपने शरीर और मन को खुब बलवान् बनावें। सांसारिक व्यवहारों को उत्तम रीति से चलाने की सामर्थ्य और विद्याबल प्राप्त करें। तभी शूर-वीर और बुद्धिमान सन्तान पैदा होगी एवं गृहस्थाश्रम का बोझ सम्हालकर अन्य आश्रमों की सेवा की जा सकेगी। इस आश्रम में आकर मनुष्य सत्कर्म करता हुआ मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

स्त्री-पुरुष का जो वैवाहिक बन्धन है उसीका नाम गृहस्थाश्रम है और उन दोनों के एक होकर रहने से ही गृहस्थ का काम सुचारु रूप से संचालित होता रहता है।

गृहस्थाश्रम में स्त्री-पुरुष को कामवासना रहित प्रेम भाव से रहकर ज्ञान सहित सन्तानोत्पत्ति करनी चाहिये। वह गृह स्वर्गोपम है जिसमें स्त्री-पुरुष एक दूसरे से प्रेमयुक्त व्यवहार करते हों तथा दोनों ईश्वरीय प्राकृतिक नियमानुसार अपने कर्तव्य का पालन करते हों।

स्त्री-पुरुष का आधा अङ्ग मानी गई है। अतः वह पूर्ण अङ्ग वैवाहिक बन्धन से ही बनता है और वैवाहिक बन्धन के बाद भी दोनों की प्रकृति का अनुकूल होना अत्यावश्यक है। दोनों की प्रकृति मिलने से उनमें प्रेमभाव की मात्रा बढ़ेगी और आपस के

प्रेम से उस घर के सब कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न होते रहेंगे तथा वह घर स्वर्ग तुल्य बन जायगा।

स्त्री पर ही घर का सब भार आश्रित है। स्त्री के ही अच्छे कर्मों से वह घर सुखी रहता है। घर के समस्त कार्यों की देख-रेख तथा सन्तान का लालन-पालन सब स्त्री पर निर्भर करता है, अतः इस गृहस्थाश्रम के कार्यों को सुचारु रूप से संचालित करने के लिये स्त्री को शिक्षित, सदाचारिणी, गुणशालिनी एवं गृह-कार्य में प्रवीण होना अत्यावश्यक है। साथ ही पुरुष को भी अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए स्त्री को उसके गृहकार्य में बराबर सहायता पहुंचाते रहना चाहिये। दोनों के प्रेमयुक्त सम्पर्क से ही उस घरका काम ठीक से चल सकता है।

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पश्चात् स्त्री-पुरुष को स्वधर्म में रत रहते हुए एक दूसरे का रक्षक होकर रहना चाहिये, न कि इन्द्रियों के क्षणिक सुख के वशीभूत होकर एक दूसरे का भक्षक बन जाय। इस समय हमको ज्ञानसहित अपनी शक्ति को पर्याप्त रूप में संचित करते हुए अपनी आत्मा एवं उसके प्रकाश को बढ़ाते हुए एवं पुरुपार्थ के साथ प्राणीमात्र को निःस्वार्थ भाव से सेवा करते हुए अपने गार्हस्थ्य-जीवन को सुचारु रूप से संचालित करते रहना चाहिये। इसीमें मानव जीवन का कल्याण है।

महाभारत के अनुशासन पर्व में पुरुष के, स्त्रीके प्रति जो निम्न-लिखित कर्तव्य हैं उनको पूर्णरूप से ध्यान में रखते हुए एवं उनका अनुकरण करते हुए हमको गृहस्थ कर्मों को संचालित करना चाहिये।

पुरुष का कर्तव्य स्त्री के प्रति

प्राचेतसस्य वचनं कीर्तयन्ति पुराविदः,
यस्याः किंचिन्नाददते ज्ञातयो न स विक्रयः।
अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यतमं च तत्,
सर्वं च प्रतिदेयं स्यात्कन्यायै तदशेषतः।

विवाह के प्रसंग में पुराने विद्वान् दक्ष प्रजापति का यह वचन याद करते हैं। वर पक्ष के लोग जो चीजें—आभूषण आदि कन्या को देते हैं यदि उसे कन्या पक्षवाले स्वयं न लेकर कन्या को ही दे देते हैं, तो इस वस्तु ग्रहण से कन्या का विक्रय नहीं होता। यह तो कन्या का पूजन है और स्नेह भाव की पराकाष्ठा है। फलतः वर पक्ष से जो चीजें प्राप्त होती हैं वे सभी कन्या को ही दे देना चाहिये।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चापि श्वशुरैरथ देवरैः,
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः :
यदि वै स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्,
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनो न प्रवर्द्धते।
पूज्या लालयितव्याश्च स्त्रियो नित्यं जनाधिप,
स्त्रियो यत्र च पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।

अपना कल्याण चाहनेवाले पिता, भाई श्वसुर और देवर को चाहिये कि वे अपनी पुत्री, बहन, पतोहू और भौजाई का सत्कार करें और सदा वस्त्र आभूषणों से उन्हें अलंकृत करें। यदि नारी

प्रसन्नता से प्रफुल्लित न होगी तो वह पुरुष का मनोरञ्जन न कर सकेगी और पुरुष की उदासीनता से संतान की बढ़ती नहीं होती है। हे युधिष्ठिर, स्त्रियों का हमेशा आदर करना चाहिये तथा उनका लाड़ प्यार करना चाहिये। क्योंकि जहाँ स्त्रियों का आदर होता है वहीं देवता वास करते हैं।

अपूजिताश्च यत्रैताः सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः,
तदा चैतत्कुलं नास्ति यदा शोचन्ति जामयः।
जामीशप्तानि गेहानि निकृत्तानीव कृत्यया,
नैव भान्ति न वर्द्धन्ते श्रिया हीनानि पार्थिव।
स्त्रियः पुंसां परिददे मनुर्जिगमिपुर्दिवम्,
अवलाः स्वल्पकौपीनाः सुहृदः सत्यजिष्णवः।

हे युधिष्ठिर जिस घर में स्त्रियों का सत्कार नहीं होता वहां के सभी सांसारिक एवं धार्मिक काम अपूर्ण होते हैं। जिस कुल में स्त्रियों की आत्मा को कष्ट पहुंचता है वह कुल पतनकी ओर जाता है और श्री से हीन हो जाता है। उनकी कीर्ति और बुद्धि मारी जाती है। भगवान् मनु ने स्वर्ग जाते समय स्त्रियों की रक्षा का भार पुरुषों पर सौंपा। कारण कि स्त्रियां निवल (शीलवती) और साधारण (शरीर से विना चिपका हुआ यानी ढीला) वस्त्र धारण करनेवाली और सरल हृदय की एवं सत्य पर अटल रहनेवाली होती हैं।

ईर्ष्यवो मानकामाश्च चण्डाश्च सुहृदोऽवुधाः,
स्त्रियस्तु मानमर्हन्ति ता मानयत मानवाः।

स्त्रीप्रत्ययो हि वै धर्मो रतिभोगाश्च केवलाः,
परिचर्या नमस्कारास्तदायत्ता भवन्तु वः।
उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्,
प्रीत्यर्थं लोकयात्रायाः पश्यत स्त्री निबन्धनम्।

स्त्रियाँ यदि डाह करनेवाली, मान चाहनेवाली, क्रोधी, भोली और कम समझ की भी हों तो ऐसी स्त्रियां भी सम्मान के योग्य हैं। पुरुषों का कर्त्तव्य है कि वे ऐसी स्त्रियों का भी सदा ही आदर करें। स्त्रियों पर ही धर्म अवलम्बित है। स्त्रियां प्रेम का एकमात्र आधार हैं। गृहस्थ के सारे सुख स्त्री पर ही निर्भर करते हैं। गृहस्थाश्रम की सेवा संभाल करना, उसे सम्मान के योग्य और महान् बनाना स्त्रियों पर ही निर्भर हैं। जीवन-यात्रा को सुखमय बनाने के लिये सन्तान उत्पन्न करना और उत्पन्न सन्तान का पालन पोषण करना आवश्यक है। परन्तु दोनों ही काम स्त्रियों पर ही निर्भर है।

संमान्यमानाश्चैता हि सर्वकार्याण्यवाप्स्यथ,
विदेहराजदुहिता चात्र श्लोकमगायत।

स्त्रियों का सम्मान करके सभी कामनाएँ प्राप्त की जा सकती हैं। इस सम्बन्ध में महाराज विदेह की कन्या ने यह बताया है:

नास्ति यज्ञक्रिया काचिन्न श्राद्धं नोपवासकम्,
धर्मः स्वभर्तृशुश्रूषा तया स्वर्गं जयन्त्युत।

स्त्रियों के लिये कोई यज्ञ नहीं है, श्राद्ध नहीं है, एवं उपवास

नहीं है। उनका धर्म पति परिचर्या है उसीसे वे स्वर्ग प्राप्त करती हैं।

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने,
पुत्राश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्य मर्हति।

कन्या की रक्षा पिता, युवती की पति और माता की पुत्र करता है। स्त्री कभी भी स्वतन्त्र नहीं रह सकती।

स्त्री शक्तिरूपा है एवं शक्ति का स्रोत है। सारे संसार को शक्ति स्त्री जाति से ही मिलती है। उसकी शक्ति की देखरेख रखना कुमार्यावस्था तक याने १६ वर्ष तक पिता का कर्त्तव्य है। उसकी शक्ति का विकास दिन प्रतिदिन बढ़ता रहे इसका भार कुमार्यावस्था तक पिता पर है।

इसके बाद युवावस्था में उसकी शक्ति की देखरेख रखना पति का काम है, गृहस्थ धर्म को सुचारु रूप से संचालित करते हुए एवं सन्तानोत्पत्ति करते हुए उसकी शक्ति की देख-रेख रखना याने उसकी शक्ति कहीं भी कम न हो जाय, इस बात का ख्याल रखने का काम पति का है।

गृहस्थाश्रम समाप्त करने के बाद उनकी शक्ति की देखरेख और सेवा करना पुत्र का कर्त्तव्य है। उनकी शक्ति का जितना संचय रहेगा उतना ही उनकी आत्मा का विकाश बढ़ेगा एवं आत्मा का प्रकाश बढ़ने से या तो उनको मोक्ष प्राप्त होगा या पुनर्जन्म में यह संचित शक्ति उनके लिये सहायक होगी।

शक्ति स्वतंत्र रहने की चीज नहीं है। जैसे तलवार को म्यान

के बाहर छोड़कर उसकी देख-रेख न रक्खी जाय तो उसका दुरु-पयोग हो सकता है। अज्ञानता से अगर इसका प्रयोग हो जावे तो वह इसके दुरुपयोग से शक्ति का और अपना नाश कर देगी। म्यान के भीतर रहने से ही उसका सदुपयोग होगा। यही हालत मातृ शक्ति की है।

स्त्री जाति लक्ष्मी रूपा है। लक्ष्मी का रूप होने से भी उनका देखरेख में ही रहना अति आवश्यक है।

शक्ति इतनी ऊँची है कि परमात्मा को भी उसकी शरण लेनी पड़ती है।

शक्ति की सेवा करना एवं उसकी पूर्ण रूपेण रक्षा करना पुरुष मात्र का कर्तव्य है।

स्त्रियो देवाः स्त्रियः सृष्टिः स्त्रियः कल्याणकारिणी,
त्वं रूपन्तु महेशानि यत् किंचिज्जगतीतले।
एकान्ते युवतिः पूज्या समस्तजगतीतले,
स्त्रीणां दर्शनमात्रेण जगतीतलपूजनम्।
कृतं भवति देवेशि, नात्र कार्या विचारणा,
रूपं दृष्ट्वा तु प्रणमेत् रूपमानन्दकारणम्।

स्त्रियाँ देवस्वरूप हैं, चूंकि स्त्रियोंके अभावमें सृष्टि हो ही नहीं सकती, इसलिये वे सृष्टि-सृजन-कर्त्री हैं। स्त्रियाँ कल्याण साधन करती हैं। सारे विश्वमें स्त्रीके रूपमें या स्त्रीसे सम्बन्ध रखनेवाली कोई भी वस्तु यहां तक कि स्त्री प्रत्ययान्त शब्द भी मङ्गलके जनक है। सारे संसारमें युवतीका सब प्रकारसे

सत्कार करना चाहिये। हे पार्वती, स्त्रीका दर्शन मात्र करनेसे समझलो, सारे विश्वके प्रति अपना कर्त्तव्य पूरा कर लिया गया, इसमें जरा भी संशय नहीं है। रूप देखकर मातृ भावसे प्रणाम करना चाहिये; कारण, रूपसे आनन्द की उपलब्धि होती है।

यहाँ एक विचारणीय विषय है। जब अपने शास्त्रानुसार स्त्रियाँ सबसे महती एवं शक्तिस्वरूप हैं तब तो वे सबके लिये पूज्य हैं। इनमें वय तथा सम्बन्धका विचार नहीं होना चाहिये। जो वस्तु पूज्य है उसे हमें पूजना चाहिये, न कि उससे अपनी पूजा करानी चाहिये। ऐसी दशामें हमें यह स्वीकार करना होगा कि हम पुरुष, जो स्त्रियोंसे प्रणाम कराते हैं वह उचित नहीं करते। स्त्रियोंमें कोई छोटी-बड़ी नहीं है। जो बड़ी है वह माता है एवं छोटी कन्या है। दुर्गा तो सदा ५ वर्षोंके वयमें रहती है। वे सृष्टिकी रचयित्री हैं। फिर हम कैसे सोच सकते हैं, कि अमुक स्त्री या लड़की मुझसे छोटी है। छोटे-बड़े का प्रश्न तो परस्परमें उपस्थित होता है। जो पूज्य है वह सर्वथा बड़ा है। आज भी हम लोग शिशु गुरुपुत्र या पुरोहितपुत्रको शिर झुकाते हैं। छोटा होनेपर भो वह हमें शिर नहीं झुकाता। यही व्यवहार हमारा प्रत्येक स्त्री के साथ होना चाहिये।

विश्वम्भरा भगवती भवतीमसूत

राजा प्रजापतिसमो जनकः पिता ते।

तेषां वधूस्त्वमसि नन्दिनि, पार्थिवानां
येषां कुलेषु सविता च गुरुर्वयं च ॥

माता सीताको आशीर्वाद मांगते समय ऋषि वशिष्ठने कहा था—नन्दिनि, मैं तुम्हें क्या आशीर्वाद दूं ? तुम्हें किस चीजकी कमी है जिसके पूरा होनेकी मैं कामना करूं ?—संसारका भरण-पोषण करनेवाली पृथ्वीने तुम्हें उत्पन्न किया है। ब्रह्माके तुल्य राजा जनक तुम्हारे पिता हैं तुम उन लोगोंकी बहू हो जिनके वंशको सूर्यने उत्पन्न किया है और हम जिनके गुरु हैं। तुम स्वयं शक्ति हो। सारा संसार तुमसे शक्ति लाभ करता है। शक्ति रूपसे तुम सारे संसारका पालन करती हो। ऐसी हालतमें तुम वीर पुत्र उत्पन्न करो, यही मैं कामना करता हूं। [वशिष्ठजीका यह वचन हमें स्त्री मात्र पर समझना चाहिये। स्त्रियां शक्ति स्वरूप है। उनमें किसी वस्तुकी कमी नहीं है। उन्हें आशीर्वाद पुरुष क्या दे सकता है ? हां, केवल यही कामना कर सकता है कि वे वीर पुत्र उत्पन्न करें जिससे राष्ट्रका उत्थान हो !

आशीर्वाद देते समय सदा दक्षिण हाथ उठाना चाहिये, वाम नहीं, जैसा कि शीघ्रतामें या बिना सोचे-विचारे अक्सर हम लोग कर दिया करते हैं। दक्षिण हस्त कल्याण का सूचक है और वाम हस्त इसके विपरीत है। आशीर्वाद तो कुशलकी ही कामना से दिया जाता है। फिर उस प्रसंगमें वाम हस्त तो कभी उठना ही नहीं चाहिये। इसीलिये प्राचीन कालसे अपने यहां आशीर्वाद देते समय दक्षिण हस्त उठानेकी आदरणीय मर्यादा है।

'कादम्बरी' में कथा आयी है कि जब चण्डाल कन्या एक शुकको महाराज शुद्रकके पास ले गयी तो शुकने महाराजको दक्षिण चरण उठाकर आशीर्वाद दिया। महर्षिकण्वके आश्रममें तपस्वियोंने महाराज दुष्यन्तको दक्षिण हस्त उठाकर ही आशीर्वाद दिया था। आज भी आप किसी प्रेमीको वस्तु विशेष देते समय दाहिने हाथ को ही आगे बढ़ाते हैं। यज्ञादि सभी सत्कर्मोंमें दाहिना हाथ ही व्यवहृत होता है। राजा लोग अपने सम्पर्कीय जनको दण्ड देते थे यदि भूलसे भी वह बाएँ हाथसे प्रणाम करता या वस्तु देता था। श्री लक्ष्मणजी का पत्र अङ्गदजी ले गये थे, उसे रावणने बाएँ हाथ से लिया था। बाएँ हाथ का व्यवहार शत्रुवत् माना जाता है और दाहिना हाथ का व्यवहार मित्रवत्। शत्रुदूत राजाओंको सन्धि पत्र दाहिने हाथसे देते थे और युद्ध घोषणापत्र बाएँ हाथसे यात्रा आदिके प्रसंगमें या ऐसे भी दक्षिणाङ्गका स्फुरण शुभ एवं वामाङ्गका स्फुरण अशुभ समझा जाता है।

शास्त्रोंमें विधान हैं कि मन्दिरोंमें भक्तजन मूर्तिके दक्षिण भागमें बैठें। इसी प्रकार अपनेसे बड़े एवं गुरुजनोंके भी दक्षिण भागमें ही हमें बैठना चाहिये। इससे हमें मान सम्मान एवं निर्भयता मिलेगी। विवाह संस्कारमें स्त्री बाएं अङ्ग आती और पति को दाहिने अङ्ग लेती है। अपना दक्षिण हस्त जीवन पर्यन्त पतिके शिर पर रखकर उनकी रक्षा एवं शुभ कामना करती रहती है।

इसका अर्थ यह है कि कल्याणकी अधिष्ठात्री देवीका अभयप्रद हस्त शिरपर रहनेसे हम अपने जीवनमें सदा निर्भय एवं सुखी रहेंगे। पुरुषों का स्त्रियोंके वाम भागमें बैठना यह भी बता रहा है कि स्त्रियां पूज्या हैं, बड़ी हैं और कल्याण कारिणी हैं। वस्तुतः उनका समाजमें वही स्थान है, जो गुरुजनों का है। मन्दिरोंमें भी पुरुष मूर्ति स्त्री मूर्तिके दाहिने स्थापित की जाती है। इसका हेतु भी मातृजातिकी श्रेष्ठता है।

अनुसूयाजी को ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र तक प्रणाम करते थे। पवित्रता की मूर्ति भगवान् वशिष्ठजी भगवती अरुन्धती के योग से ही अपने को पावन समझते थे। उत्तर रामचरितमें आया है—

यथा पूतंमन्यो निधिरपि पवित्रस्य महसः
पतिस्ते पूर्वेपामपि खलु गुरूणां गुरुतमः।
त्रिलोकीमांगल्यामवनीतललोलेन शिरसा
जगद्वन्द्यां देवीमुपसमिव वन्दे भगवतीम्।

पवित्र तेजः पुञ्जको खान वशिष्ठजीने, जो पूर्व कालके बड़े-बड़े उपदेष्टाओं को भी उपदेश देते रहे हैं, जिनके योगसे अपनेको पवित्र मानते थे। वह अरुन्धती तीनों-स्वर्ग, मृत्यु और पाताल—लोकोंका कल्याण सम्पादन करती हैं। जगद् प्रकाश स्वरूप उन देवी को मैं प्रणाम करता हूं, जैसे उषा कालकी वंदना की जाती है।

स्त्रियां गृहिणी एवं हमारी रक्षिका हैं, उनका कर्त्तव्य है, ों को पवित्र भावना से आशीर्वाद देती हुई सुख एवं

समृद्धि की कामना करें। इसीमें स्त्री और पुरुष दोनों का ही उत्थान एवं कल्याण है। इसलिये मैं उनसे प्रार्थना करता हूं कि वे अपना शील-स्वभाव, दया और सेवाभाव बनाये रखे। तभी वे हमारा कल्याण साधन कर सकती हैं। उनके बड़प्पनने ही हमें पुराने जमानेमें ऊँचा उठाया था। उनका बड़प्पन उनके सुन्दर विचार दृढ़ व्रत एवं आचारमें है। माताओं का श्रृङ्गार अपने बालक-बालिकाओंको सुपात्र और वीर बनाना है—पाउडर एवं तेल-फुलेल लगाना, कीमती वस्त्र धारण सिनेमा जाना आदि ऊनका श्रृङ्गार नहीं है। माताओंका यह आचरण तो मानवको नीचेकी ओर ले जानेवाला है।

श्रिय एताः स्त्रियो नाम, सत्कार्या भूतिमिच्छता,
पालिता निगृहीता च श्रीः स्त्री भवति भारत।

स्त्री का नाम ही श्री है। (सीताराम गौरीशंकर आदि में राम और शंकर के पहले ही स्त्री का नाम आता है। ऐसे ही सभी पुरुषों के नाम के पहले स्त्री का नाम है जैसे श्रीमान् फूलचन्दजी अर्थात् स्त्रीमान् फूलचन्दजी। सीताजी से रामजीकी शोभा है, गौरीजी से शंकरजी की शोभा है। श्री से ही पुरुष की शोभा है)। कल्याण के चाहनेवाले इनका सत्कार करें एवं सब प्रकार से उनकी सदा मदद करे। हे युधिष्ठिर स्त्री घर की लक्ष्मी होती है।

माँ-बाप सदा ध्यान रखते हैं कि अपनी कन्या अपने से

उन्नत वंश में दी जाय। इससे वंश की मर्यादा उन्नत होती है। उत्कृष्ट पुरुष से जो संतान होगी वह उन्नत होगी, अवनत नहीं। जैसा कि शास्त्र का विधान है—उच्च वर्ण का पुरुष नीचेवाले वर्ण की कन्या ले सकता है, नीचेवाले वर्ण का पुरुष उच्च वर्ण की कन्या नहीं ले सकता।

मार्कण्डेय पुराण में लिखा है कि जब ऋतध्वज पाताल से मदालसा को ले आये तब उनके पीता—शत्रुजित् बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—मैंने बड़े-बड़े युद्ध किये, शत्रुओं को जीता परन्तु पाताल में मैं जा नहीं सका। पुत्र तुमने मुझ से बड़ा काम किया इससे मेरा जन्म सफल है। मानव जाति का कल्याण इसी में है कि उसकी सन्तान पीढ़ी दर पीढ़ी अच्छी उन्नत बने।

स्त्री-धर्म

एक बार महादेवजी ने पार्वतीजी से स्त्री के कर्त्तव्य बतलाने के लिये कहा क्योंकि वे जानते थे कि स्त्री का कर्त्तव्य स्त्री ही अच्छी तरह समझा सकती है। इसपर पार्वतीजी ने गङ्गा, सरस्वती, चन्द्रभागा, इरावती आदि नदियों को एकत्रित करके तथा आपस में विचार विमर्श करके निम्नांकित कर्तव्य बतलाये—

> स्त्रीधर्मो मां प्रति यथा प्रतिभाति यथा विधि,
> तमहं कीर्तयिष्यामि तथैव प्रश्रिता भव।
> स्त्रीधर्मः पूर्व एवायं विवाहे बन्धुभिः कृतः,
> सहधर्मचरी भर्तुर्भवत्यग्नि समीपतः।

मुझे सब तरह से ठीक जो स्त्री कर्तव्य मालूम हुआ है उसे मैं कहती हूं। आप ठीक-ठीक सुनें। विवाह के प्रारम्भ में ही भाई-बन्धु अग्नि को साक्षी देकर स्त्री का कर्त्तव्य निश्चित कर देते हैं। यह है पत्नी का पति के धर्माचरण में योग देना।

सुस्वभावा सुवचना सुवृत्ता सुखदर्शना,
अनन्यचित्ता सुमुखी भर्तुः सा धर्मचारिणी।
सा भवेद्धर्मपरमा सा भवेद्धर्मभागिनी,
देववत्सततं साध्वी या भर्तारं प्रपश्यति।

सुन्दर स्वभाव, शुभ एवं सत्य वाणी, सुन्दर दर्शनवाली और अपने पति में ही सदा मन लगानेवाली साथ ही सदा प्रसन्नमुख रहनेवाली स्त्री पति के धर्माचरण में सहायक होती है। जो स्त्री हमेशा पति को देवता की तरह देखती है वही धर्म रत होती है और धर्म के फल पाती है।

शुश्रूषां परिचारं च देववद्या करोति च,
नान्यभावा ह्यविमनाः सुव्रता सुखदर्शना।
पुत्रवक्त्रमिवाभीक्ष्णं भर्तुर्वदनमीक्षते,
या साध्वी नियताहारा सा भवेद्धर्मचारिणी।

जो स्त्री पति की शारीरिक एवं मानसिक सेवा देवता समझकर करती है, जो अपने भाव पति के सिवा दूसरे में नहीं लगाती, कभी अप्रसन्न नहीं होती, अच्छे व्रतों का आचरण करती जिसे देखने से सुख मिलता, स्वामी के मुख को पुत्र के मुख की

तरह सदा प्रसन्न देखना चाहती, साधु स्वभाव की और भोजन में संयम रखती वही अपने धर्म का आचरण करती है।

श्रुत्वा दम्पति धर्मं वै सहधर्मं कृतं शुभम्,
या भवेद्धर्मपरमा नारी भर्तृसमव्रता।
देववत्सततं साध्वी भर्तारमनुपश्यति,
दम्पत्योरेष वै धर्मः सहधर्मकृतः शुभः।

स्त्री-पुरुष के कर्त्तव्य या धर्म साथ-साथ अनुष्ठित होने पर ही शुभ होते हैं। फलतः स्त्री-पुरुष के कर्त्तव्य सुनने के बाद जो धर्मपरायण नारी पति के प्रिय व्रतों का आचरण करती साथ ही पति को देवता के समान समझती वही अपने कर्त्तव्य का पालन करती है। सचमुच स्त्री-पुरुष का कर्त्तव्य साथ-साथ अनुष्ठित होकर ही शुभ होता है।

शुश्रूषां परिचारं च देवतुल्यं प्रकुर्वती,
वश्या भावेन सुमनाः सुव्रता सुखदर्शना।
अनन्यचित्ता सुमुखी भर्तुः सा धर्मचारिणी,
परुषाण्यपि चोक्ता या दृष्टा दुष्टेन चक्षुषा
सुप्रसन्नमुखी भर्तुर्या नारी सा पतिव्रता।
न चन्द्रसूर्यौ न तरुं पुंनाम्ना या निरीक्षते,
भर्तृवर्जं वरारोहा सा भवेद्धर्मचारिणी।

जो स्त्री पति की सेवा और आज्ञा पालन देवता के समान करती है, मनोभाव से भी पति के अनुकूल रहती है, जिसके विचार सुन्दर होते, व्रत-प्रशस्त होते, दर्शन से सुख मिलता, जो

अपने पति में ही सदा मन लगाती है; पति के धर्माचरण में योग देती, स्वामी की कड़ी बात सुनकर और टेढ़ी नजर देखकर भी जिस का मुख कमल म्लान नहीं होता वही पतिव्रता है। जो पति के सिवा चन्द्रमा, सूर्य एवं वृक्ष तक को भी पुरुष के रूप में न जानती और न पुरुष नाम से पुकारती वह अपने धर्म का आचरण करती है।

दरिद्रं व्याधितं दीनमध्वना परिकर्शितम्,
पतिं पुत्रमिवोपास्ते सा नारी धर्मभागिनी।

जो साध्वी; निर्धन, रोगी, दुःखी राह चलकर थके हुए भी पति की पुत्र की भांति वत्सलता से (काम भावना से नहीं) सेवा करती है वह अपने धर्म का पालन करती है।

या नारी प्रयता दक्षा या नारी पुत्रिणी भवेत्,
पतिप्रिया पतिप्राणा सा नारी धर्मभागिनी।

जो स्त्री कर्मशील, चतुर एवं पुत्रवती होती है जिसे पति प्यार करता है, जो पति को प्राण समान मानती है वह धर्म का आचरण करती है।

शुश्रूषां परिचर्यां च करोत्यविमनाः सदा,
सुप्रतीता विनीता च सा नारी धर्मभागिनी।

जो पति की सेवा शुश्रुषा बराबर मन से करती है जिस पर पति विश्वास करता है और जो विनयशील होती है वह धर्म-चारिणी है।

न कामेषु न भोगेषु नैश्वर्ये न सुखे तथा,
स्पृहा यस्या यथा पत्यौ सा नारी धर्मभागिनी।

जो स्त्री अपने पति की जितनी चाह रखती है उतनी काम, भोग, ऐश्वर्य और सुख की भी नहीं करती उसे धर्म प्राप्त होता है।

कल्योत्थानरतिर्नित्यं गृहशुश्रूषणे रता,
सुसंमृष्टक्षया चैव गोशकृत्कृतलेपना।
अग्निकार्यपरा नित्यं सदा पुष्पबलिप्रदा,
देवतातिथिभृत्यानां निर्वाप्य पतिना सह।
शेषान्नमुपभुञ्जाना यथान्यायं यथाविधि,
तुष्टपुष्टजना नित्यं नारी धर्मेण युज्यते।
श्वश्रूश्वशुरयोः पादौ जोषयन्ती गुणान्विता,
मातापितृपरा नित्यं या नारी सा तपोधना।

जो स्त्री प्रति दिन प्रातःकाल (पति से पहले) उठती, घर को सम्हाल और वस्तुओं को ठीक-ठीक स्थान पर रखती गाय के गोबर से घर को लीपती और उसे स्वच्छ और पवित्र रखती है, अग्निहोत्र एवं बलि-वैश्वदेव यज्ञ करती, पति के साथ देव पूजन तथा अतिथि की सेवा करती एवं घर के नौकरों को खिला पिला-कर बचा हुआ अन्न आयुर्वेद में वर्णित भोजन विधान से स्वयं खाती है और जिसके घर से बहुत मनुष्यों का भरण-पोषण होता है तथा वे सदा सन्तुष्ट रहते हैं उसे ही धर्म प्राप्त होता है। जो गुणवती नारी सास-ससुर की सेवा करती और सदा मा-बाप की कीर्ति बढ़ाती वह तपस्विनी होती है।

ब्राह्मणान् दुर्बलानाथान्दीनान्धकृपणांस्तथा,
विभर्त्यन्नेन या नारी सा पतिव्रतभागिनी।
व्रतंचरति या नित्यं दुश्चरं लघुसत्त्वया,
पतिचित्ता पतिहिता सा पतिव्रतभागिनी।
पुण्यमेतत्तपश्चैतत्स्वर्गश्चैष सनातनः,
या नारी भर्तृपरमा भवेद्भर्तृव्रता सती।

जो नारी ब्राह्मणों, अर्थात् परोपकाररत विद्वानों, जीविकोपार्जन में असमर्थों, अनाथ बच्चों, गरीबों, अन्धों और कृपणों को अन्न दिया करती हैं, वह पतिव्रत फल लाभ करती है। पति में चित्त लगाकर और पति की भलाई के लिये जो नारी बराबर कठिन-से-कठिन व्रत हँसते-हँसते कर लेती है वह पतिव्रता है। स्त्री का सदा अपने पति में परायण रहना और पतिव्रत का पालन करना ही सदा से पुण्य तप एवं स्वर्ग माना गया है।

पतिर्हि देवो नारीणां पतिर्बन्धुः पतिर्गतिः,
पत्या समा गतिर्नास्ति दैवतं वा यथा पतिः।
पतिप्रसादः स्वर्गो वा तुल्यो नार्या न वा भवेत्
अहं स्वर्गं न हीच्छेयं त्वय्यप्रीते महेश्वरे।

स्त्रियों का पति ही देवता, बन्धु और गति-मुक्ति है। स्त्रियों के लिये पति की प्रसन्नता से बढ़कर स्वर्ग भी नहीं है। पार्वतीजी कहती हैं—भगवान्, आपकी अप्रसन्नता में स्वर्ग भी मिले तो मैं उसे नहीं चाहती।

यद्यकार्यमधर्मं वा यदि वा प्राणनाशनम् ,
पतिर्ब्रूयाद्दरिद्रो वा व्याधितो वा कथंचन ।
आपन्नो रिपुसंस्थो वा ब्रह्मशापार्दितोपि वा,
आपद्धर्माननुप्रेक्ष्य तत्कार्यमविशंकया ।

दरिद्र, रोगी, विपत्तिग्रस्त, शत्रु से पकड़ गया किंवा ब्राह्मण के शाप से मलिन भी पति, किसी तरह अपकर्म करने, अधर्म का आचरण करने या जान दे देने को भी कहे तो उसे आपत्कालीन धर्म समझकर मनमें बिना शंका किये सम्पन्न कर लेना चाहिये ।

एष देव मया- प्रोक्तः स्त्री-धर्मो वचनात्तव ,
या त्वेवंभाविनी नारी सा पतिव्रत भागिनी ।

पार्वतीजी श्रीशंकरजी से उपसंहार में कहती हैं—स्वामिन्, आपकी आज्ञा से मैंने यह स्त्री-धर्म बताया है। जो नारी उपरोक्त प्रकार के आचरण करती है वही पतिव्रत धर्म का फल भोगती है।

श्रीमातेश्वरी सीताजी को अनसूयाजी का उपदेश

मातु पिता भ्राता हितकारी : मित सुखप्रद सुनु राजकुमारी ।
अमितदान भर्त्ता वैदेही : अधम सो नारि जोसेव न तोही ।
धीरज धर्म मित्र अरु नारी : आपतकाल परिखि यहि चारी ।
वृद्ध रोगवस जड़ धनहीना : अंध बधिर क्रोधी अति दीना ।
ऐसहु पतिकर किय अपमाना : नारि पाव यमपुर दुख नाना ।
एकै धर्म एक व्रत नेमा : काय वचन मन पतिपद प्रेमा ।
जग पतिव्रता चारि विधि अहहीं : वेद पुरान संत अस कहहीं ।

उत्तम के अस बस मनमाहीं : सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं।
मध्यम परपतिं देखहिं कैसे : भ्राता पिता पुत्र निज कैसे।
धर्म विचारि समुझि कुल रहहीं : सोनिकृष्ट तिय स्रुति अस कहहीं।
बिन अवसर भयते रह जोई : जानेहु अधम नारि जग सोई।

लक्ष्मी का वास कहाँ है

भगवान् श्रीकृष्ण की गोद में चमचमाती श्री को देखकर आश्चर्य से रुक्मिणीजी ने पूछा था—श्री जी आप कहाँ विराजती हैं? इसका उत्तर श्री जी ने जो दिया उसका निम्न निर्देश है। यह प्रसंग महाभारत के अनुशासन पर्व ११ वें अध्याय का है।

वसामि नित्यं सुभगे प्रगल्भे दक्षे नरे कर्मणि वर्तमाने,
अक्रोधने देवपरे कृतज्ञे जितेन्द्रिये नित्यमुदीर्णसत्त्वे।

अर्थात् हे सुभगे, रुक्मिणी मैं मधुरभाषी चतुर कर्म में निरत क्रोध नहीं करनेवाले, देवताओं पर आस्था रखनेवाले, उपकार को न भूलनेवाले, जितेन्द्रिय और बलशाली पुरुष के पास बराबर रहती हूं।

नाकर्मशीले पुरुषे वसामि न नास्तिके साङ्करिके कृतघ्ने,
नभिन्नवृत्ते न नृशंसवर्णे न चापि चौरे न गुरुष्वसूये।
ये चाल्पतेजोबलसत्त्वमानाः क्लिश्यन्ति कुप्यन्ति च यत्र तत्र,
न चैव तिष्ठामि तथाविधेषु नरेषु संगुप्तमनोरथेषु।
यश्चात्मति प्रार्थयते न किञ्चिद्यश्च स्वभावोपहतान्तरात्मा।
तेष्वल्पसन्तोषपरेषु नित्यं नरेषु नाहं निवसामि सम्यक्।

अर्थात् मैं अकर्मण्य, नास्तिक, वर्णसङ्कर, कृतघ्न, अपनी बात पर कायम न रहनेवाले, कठोर वचन बोलनेवाले, चोर और गुरुजनों से डाह करनेवाले पुरुष के पास नहीं रहती। मैं ऐसे पुरुषों के पास नहीं रहती जिनमें तेज, बल और आत्मगौरव अल्प होते हैं, जो लोग थोड़े में ही कष्ट अनुभव करते हैं या जरा-जरासो बात पर क्रोधित हो जाते हैं उनके पास भी मैं नहीं रहती। साथ ही जिन पुरुषों के मनोरथ सर्वथा छिपे रहते हैं उनके पास भी मैं नहीं रहती। जो अपने लिये कुछ भी नहीं चाहता जिसका प्रकृति से ही आत्मविश्वास नष्ट हो गया है और जो लोग थोड़े में ही बराबर संतोष कर लेते हैं उनके पास मैं डटकर नही रहती।

स्वधर्मशीलेषु च धर्मवित्सु वृद्धोपसेवानिरते च दान्ते।
कृतात्मनि क्षान्तिपरे समर्थे क्षान्तासु दान्तासु तथाऽबलासु ॥
सत्यस्वभावार्जवसंयुतासु वसामि देवद्विजपूजिकासु ॥

अर्थात् मैं धर्म का आचरण करनेवाले, धर्म के जानकार, वृद्ध-जनों की सेवा करनेवाले, जितेन्द्रिय, आत्मविश्वासी, क्षमाशील और समर्थ पुरुष के पास रहती हूं। वैसी ही क्षमाशील एवं जितेन्द्रिय स्त्रियों के निकट भी रहती हूं। साथ ही जो स्त्रियाँ सत्य बोलनेवाली और सत्य आचरण करनेवाली, छल-कपट रहित, सरल स्वभाववाली होती हैं एवं देवता और गुरुजनों का पूजन करती हैं, उनके पास भी मैं रहती हूं।

प्रकीर्णभाण्डामनपेक्ष्यकारिणीं सदा च भर्तुः प्रतिकूलवादिनीम्।
परस्य वेश्माभिरतामलज्जामेवंविधां तां परिवर्जयामि ॥

पापामचोक्षामवलेहिनीं च व्यपेतधैर्यां कलहप्रियां च।
निद्राभिभूतां सततं शयानां एवंविधां तां परिवर्जयामि॥

अर्थात् मैं उन स्त्रियों के निकट नहीं रहती जो अपनी गृहस्थी के सामान—बासन-बर्तन, वस्त्र आदि जहाँ-तहाँ फेंक देती हैं और ठिकाने से नहीं रखतीं और जो बराबर स्वामी के विरुद्ध बोला करती हैं। जिस स्त्री का दूसरों के घर जाने में मन लगता है और जो लजाती नहीं उसके निकट में नहीं रहती। पापिनी, अपवित्र, चटोर, अधीरः झगड़ालू, निद्रा के वशीभूत तथा सदा ही सोनेवाली स्त्री को मैं त्याग देती हूं।

सत्यासु नित्यं प्रियदर्शनासु सौभाग्ययुक्तासु गुणान्वितासु।
वसामि नारीषु पतिव्रतासु कल्याणशीलासु विभूषितासु॥

अर्थात् मैं ऐसी स्त्रियों के समीप रहती हूं जो सदा ही सत्य बोलती, जिनके दर्शन से मनमें प्रसन्नता आती है। जो सौभाग्यवती, गुणवती, पतिव्रता, कल्याण चाहनेवाली और अलंकृत हैं।

यानेषु कन्यासु विभूषणेषु यज्ञेषु मेघेषु च वृष्टिमत्सु।
वसामि फुल्लासु च पद्मिनीषु नक्षत्रवीथीषु च शारदीषु॥
गजेषु गोष्ठेषु तथासनेषु सरःसु फुल्लोत्पलपङ्कजेषु।
नदीषु हंसस्वननादितासु क्रौञ्चावघुष्टस्वरशोभितासु॥
विकीर्णकूलद्रुमराजितासु तपस्विसिद्धद्विजसेवितासु।
वसामि नित्यं सुबहूदकासु सिंहैर्गजैश्चाकुलितोदकासु॥
मत्तेगजे गोवृषभे नरेन्द्रे सिंहासने सत्पुरुषेषु नित्यम्।

में सवारियों, कुमारियों, गहनों, यज्ञों और बरसते हुए मेघों में वास करती हूं। मैं खिली हुई कमलिनियों, नक्षत्रमालाओं, शरद्-काल की चांदनियों, हाथियों, गोशालाओं, आसनों और खिले हुए कमलों से शोभायमान तालावों में रहती हूं। मैं उस नदी में रहती हूं जो हंसों के कलरव से गूंजती रहती है, क्रौंच पक्षी के किलोल से शोभित रहती है, जिसके तट पर बड़े-बड़े वृक्ष झूमा करते हैं, तपस्विजन, सिद्धगण, गुरुजन लोग जिसको आश्रय करते हैं, जिसमें बराबर स्वच्छ और गहरा पानी भरा रहता और जिसके गहरे पानी को सिंह एवं हाथी क्षुब्ध किया करते हैं। मैं मस्त हाथी, सांड़, राजा, सिंहासन और सत् पुरुषों के समीप सदा रहा करती हूं।

यस्मिन् जनो हव्यभुजं जुहोति गोब्राह्मणं चार्चति देवतांश्च।
काले च पुष्पैर्बलयःक्रियंते तस्मिन् गृहे नित्यमुपैमि वासम्॥
स्वाध्यायनित्येषु सदा द्विजेषु क्षत्रे च धर्माभिरते सदैव।
वैश्ये च कृष्याभिरते वसामि शूद्रे च शुश्रूषणनित्ययुक्ते॥

जिस घरमें होम किया जाता है, गो की सेवा की जाती है, और ब्राह्मणों का सत्कार होता, समय पर देवता की पूजा की जाती है और उनको फूल चढ़ाये जाते हैं उस घरमें मैं सदा वास करती हूं। बराबर वेदाध्ययन करनेवाले ब्राह्मणों के निकट मैं रहती हूं। अपने धर्म में जो रत हैं उन क्षत्रियों के पास, खेती एवं उपार्जन में लगे वैश्यों और सेवा परायण शूद्रों के पास भी मैं सदा रहती हूं।

नारायणे त्वेकमना वसामि सर्वेण भावेन शरीरभूता।
तस्मिन् हि धर्मःसुमहान्निविष्टो ब्रह्मण्यता चात्र तथा प्रियत्वम्॥

मैं अनन्य भाव से भगवान् नारायण के चरण में सभी तरह से उनका अङ्ग बनकर रहती हूं। भगवान् नारायण के आश्रय में ही बड़े-से-बड़ा धर्म और ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है तथा सब कामनाओं की पूर्ति होती है।

नाहं शरीरेण वसामि देवि नैवं मया शक्यमिहाभिधातुम्।
भावेन यस्मिन्निवसामि पुंसि स वर्धते धर्मयशोर्थकामैः॥

हे देवि रुक्मिणी, मैंने जो ऊपर कहा है कि मैं अमुक स्थानमें अथवा स्त्री पुरुषों के निकट रहती हूं तो मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि मैं शरीर से वहां रहती हूं वस्तुतः जिन पुरुषों के गुण, कर्म, स्वभाव उपर्युक्त प्रकार के होते हैं वे ही श्रीमान् होते हैं और वे धर्म, यश, अर्थ और काम की प्राप्ति से बराबर उन्नति करते हैं।

हमलोगों का सुख और कल्याण हमारे कर्मों पर निर्भर है। ईश्वर से हमलोगों की यही हार्दिक प्रार्थना है कि वह हमको सद्बुद्धि दे जिससे हम अच्छे कामों में लगें। क्योंकि विना सत्कर्मके हमारी कोई भी उन्नति नहीं हो सकती। इसीसे हम सबको सत्कर्म करने के लिये सर्वदा तत्पर रहना चाहिये।

ऋतुकाल

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥

उपर्युक्त श्लोकों में योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि जो सत्कर्म किया जाता है वह करते समय जरूर कड़ुवा लगता है और शुरू में हमें कष्टों का सामना भी करना पड़ता है, परन्तु बाद में उसका फल बड़ा सुखदायक होता है। बिना सत्कर्म के हमलोगों का कल्याण कभी नहीं हो सकता। विषयेन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न सुख जो आरम्भ में अमृत तुल्य प्रतीत होता है उसका फल आगे जाकर दुःखमय विष के समान हो जाता है। अतः हमलोगों को ऐसे कर्म करने चाहिये जिनका फल सुखदायक होता हो।

ईश्वर ने प्राकृतिक नियमों के अन्तर्गत जो ऋतुकाल का समय रखा है वह सभी के लिये लाभदायक है। प्राचीनकाल में हमलोग नियमानुसार उस समय का सदुपयोग करते थे परन्तु आजकल हमलोग अज्ञानवश उस समय के सदुपयोग को भूले हुए हैं। आगे हमलोगों की जो मर्यादा बँधी हुई थी वह भी उसी प्राकृतिक नियम के अनुसार थी जिससे हमलोग सुखी जीवन बिताते थे।

लेकिन इस वर्तमान समय में हमलोगों की मर्यादा कमजोर होने से हमारा गार्हस्थ्य दुःखदायी बन गया है।

स्त्री जाति में परमात्मा ने रजोधर्म रखा है उसको लेकर ऋतुकाल का विधान शुरू होता है। रजःस्राव से १६ दिन तक ऋतुकाल रहता है।

रजःस्राव के समय में याने रजःस्राव से चार दिन तक कभी स्त्री संभोग नहीं करना चाहिये। यह शरीर के लिये बहुत हानिकारक है। रजःस्राव के चौथे दिन से सोलहवें दिन तक संतानोत्पत्ति की इच्छा से स्त्रीसंभोग किया जा सकता है। इसके बाद स्त्रीसंभोग नहीं करना चाहिये।

चैत्र और आश्विन के महीनों में स्त्रीसंभोग नहीं करना चाहिये। हरएक मनुष्य को शांतचित्त होकर पेट की शुद्धि करनी चाहिये। पेट की शुद्धि से खून की शुद्धि होती है क्योंकि इस समय मौसम की बदली होती है।

अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी, अमावास्या, पूर्णिमा, पर्वतिथि तथा चैत्र और आश्विन में १६ दिन जो पितृपक्ष के और ६ दिन नवरात्रों के हैं उन दिनों में स्त्रीसंभोग त्याज्य है।

सम दिनों में स्त्री संभाग से पुत्र एवं विषम दिनों से पुत्री पैदा होती है और रजःस्राव के चौथे दिन से सोलहवें दिन के भीतर ज्यों-ज्यों समय बढ़ता जायगा उसमें पैदा होनेवाली सन्तान उत्तरोत्तर तेजस्वी होगी।

ऋषि मुनियों का यह कथन है कि कन्या को रजोधर्म के बाद भी तीन वर्ष तक अपने पिता के ही घर रहना चाहिये जिससे इस समय के अन्दर उसका रज परिपक्व हो जाय। इसके बाद उसको अपने पति के घर जाना चाहिये।

रजोधर्म होने के बाद तीन साल तक उसकी कन्यावस्था ही मानी गई है। उसके बाद उसकी युवावस्था प्रारम्भ होती है और तब ही वह गर्भाधान के योग्य होती है।

प्राकृतिक नियम सबके लिये समान रूप से लागू है। जैसे—जब बछिया को सांड़ के पास जाने की इच्छा होती है तो उसे गाय पालनेवाले सज्जन एक-दो साल तक सांड़ से बचाते हैं। बछिया को सांड़ के सम्पर्क से शुरू में एक-दो वर्ष बचाने का मतलब यह है कि बाद में उसके जो बच्चे होंगे वे बलवान होंगे तथा उस गाय का दूध भी पुष्टिकारक होगा।

ठीक इसी प्रकार वृक्षों को ले लीजिये। फलों के जानकारों से यह ज्ञात हुआ कि फलों के जो वृक्ष होते हैं उनमें जो शुरू में जो फूल आते हैं उनको वे लोग पकने तथा फल का रूप धारण करने से पहले ही हटा देते हैं। इससे वृक्षों को यह फायदा रहता है कि आगे उनमें जो फल लगते हैं वे बड़े होते हैं तथा वे वृक्ष बड़े व मजबूत होते हैं।

इसलिये अपनी गृहरूपी फुलवाड़ी में जो माता पिता रूपी माली हैं उनसे मेरी यही विनम्र प्रार्थना है कि पहले फूलसे (रजोदर्शन से) कभी फल लेने की अभिलाषा न रक्खें। यदि पहले फूल

से फल ले लिया जायगा तो फलरूपी जो सन्तान है वह सदा के लिये कमजोर एवं अपूर्ण रहेगी और वृक्षरूपी माता भी हमेशा के लिये कमजोर हो जायगी।

प्राचीन ऋषि-मुनियों ने अपने अनुभव से सब के लिये जो विधान रचा था वह ईश्वरीय प्राकृतिक नियम के अनुसार ही रचा गया था। जैसे सुश्रुत में लिखा है—

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते॥
जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥

सोलह वर्ष से कम आयु की लड़की हो और पचीस वर्ष से कम आयु का पुरुष हो इन दोनों के संयोग से जो गर्भाधान होगा वह गर्भ या तो कुक्षि यानी पेट में ही नष्ट हो जायगा अथवा जन्मते ही मर जायगा या जीवेगा तो जन्म से ही दुर्बल इन्द्रियों-वाला होगा तथा आयु भी कम होगी इसलिये बाल्यावस्था में गर्भाधान नहीं होना चाहिये।

कन्या में लगभग तेरह वर्ष की उम्र में रज की उत्पत्ति हो जाती है। परन्तु उस समय उस रज में गर्भ धारण की शक्ति पर्याप्त रूप में नहीं होती क्योंकि रजोदर्शन के बाद रज को परि-पक्व होने में तीन साल का समय आवश्यक रूप से लग जाता है। अतः रज में गर्भधारण की पूर्ण शक्ति सोलह वर्ष की उम्र में आती है। इसके पूर्व बालिकाओं की कन्यावस्था रहती है। वे

स्त्री या माता बनने योग्य सोलह वर्ष के बाद ही होती हैं। पर्याप्त रूप में शक्ति प्राप्त करने के पूर्व गर्भ धारण करना हर हालत में हानिकारक होता है। अतः अगर बालिकाएँ सोलह वर्ष के पूर्व या पूर्ण शक्ति प्राप्त करनेके पहले गर्भ धारण करती हैं तो उनका जीवन तो बर्बाद हो ही जाता है, साथ ही उनकी सन्तान भी अपूर्ण और पृथ्वी का भारस्वरूप ही बनकर रहती है। सोलह वर्ष तक पूर्ण शक्ति प्राप्त करने के पश्चात् गर्भ धारण करने पर जो सन्तान पैदा होती है वह सुखमय जीवन व्यतीत करती है और माता भी नाना प्रकार के रोगों से बची रहती है। जैसे किसी आदमी में ऐक मन बोझ उठाने की शक्ति हो और वह दो मन बोझ लेकर चले तो उसकी कमर टूट जायेगी या उसके हृदय पर ऐसा बुरा असर पड़ेगा कि नाना बीमारियों का शिकार बनकर उसकी ज़िन्दगी सदा के लिये भार-स्वरूप हो जायगी। इस प्रकार माताओं के लिये असमय में गर्भ धारण करना हर प्रकार से हानिकारक होता है।

ठीक यही हालत बालकों की भी है। प्रायः पन्द्रह वर्ष की उम्र में बालकों में वीर्य उत्पन्न हो जाता है। पचीस वर्ष की अवस्था में जाकर वह वीर्य परिपक्व होता है। इसी अवस्था में बालक के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की वृद्धि और पुष्टि होती है। यह वृद्धि और पुष्टि वीर्य की वृद्धि और पुष्टि पर निर्भर करती है। अतः अगर ऐसी अवस्था में उसके वीर्य का क्षय हुआ तो उसका शरीर कमजोर और जीवन दुःखमय हो जाता है। साथ ही उसके हीन

वीर्य से उत्पन्न बच्चा भी कमजोर और अल्पायु होता है। जैसे, प्रत्येक फल में आकार बन जाने के साथ ही उसमें बीज प्राप्त हो जाता है पर उस समय फल का बीज अति कमजोर होता है। अगर ऐसे हीन बीज को जमीन में बो दिया जाय तो वृक्ष तो उग आयेगा पर ऐसा वृक्ष किसी भी रूप में लाभदायक नहीं होगा। वह वृक्ष बिलकुल कमजोर होगा, उसका आकार छोटा और बेढंगा होगा और फल भी नीरस होगा। फल में पूर्ण शक्ति तो समय पर ही आयेगी और पूर्ण रूपेण परिपक्व बीज से उत्पन्न वृक्ष लम्बे चौड़े और मजबूत होंगे तथा उनके फल सदा उत्तम और पुष्टिकारक होंगे। यही अवस्था मनुष्य की भी है। असमय में अपरिपक्व और हीन रज और वीर्य से संतान पैदा की जायगी तो वह सन्तान दुर्बल और हीनांग होगी। माता-पिता की युवावस्था में जो बच्चे पैदा होंगे वे हृष्ट-पुष्ट, लम्बी-चौड़ी कद के होंगे।

अतः हरएक माता-पिता से मेरी विनम्र प्रार्थना है कि पर्याप्त शक्ति प्राप्त करने के पूर्व वे बालकों को गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट न होने दें। स्वार्थ के वशीभूत होकर भी उन्हें ऐसा न करना चाहिये। विवाह और पुत्रादि सम्बन्धी असामयिक चर्चा छेड़कर बालकों का ध्यान उस ओर आकृष्ट न करना चाहिये। उचित अवस्था तक वे बालकों को विद्याध्ययन और गृहकार्य की उच शिक्षा में लगावें। अगर सोलह वर्ष की लड़की और पचीस वर्ष के लड़के में भी पूर्ण शक्ति न आई हो तो माता-पिता को चाहिये

कि वे ऐसे बालकों को आजन्म ब्रह्मचर्य पालन का कठिन आदेश करें।

आजन्म ब्रह्मचर्य पालन करने से जो शक्ति इकट्ठी होती है वह इस जन्म में तो काम आती ही है आगे जन्म में भी सहायक होती है क्योंकि शक्ति का नाश नहीं होता। उसमें किसी प्रकार का ह्रास नहीं होता। पूर्ण शक्ति प्राप्त करने के पश्चात् माता-पिता अपने बच्चों को गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठ शिक्षा देकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करावे। ऐसा गृहस्थ सुखमय जीवन व्यतीत करेगा और सम्भवतः उसके जीवन में किसी प्रकार का विक्षेप न हो पायेगा। स्त्री-पुरुष दोनों ही आजन्म सुखी रहेंगे।

ऋतुकाल का जो प्राकृतिक नियम है वह हमारे लिये स्पष्ट रूपसे कल्याणदायक है। जैसे जब बच्चा पेटमें पड़ता है तब रजोधर्म प्राकृतिक नियम से ही बन्द हो जाता है। इसीसे हमको स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि इसके बाद स्त्री-पुरुष के सहवास का जो समय था वह पूरा हो गया और अब इसके बाद स्त्री-पुरुष का सहवास प्राकृतिक नियमानुसार सर्वथा वर्जित है।

पुरुष के भाव, उसके कर्म, उसकी भावना, उसका आचरण, उसका मन, उसकी शक्ति, सद्गुण और दुर्गुण जैसे होते हैं ये सब ही ऋतुदान के समय गर्भ में समावेश हो जाते हैं। ऐसी हालत में ऋतुदान के समय पुरुष को हर तरफ से शुद्ध-बुद्ध वीर और शांतचित्त होना चाहिये ताकि ये शुभ गुण भावी सन्तान में आ सकें। जिस चीज का बीज जमीन में बोया जायगा, वही

फल आगे जाकर पैदा होगा तथा उसका रूप भी वही होगा जैसा फल होगा। ठीक इसी प्रकार ऋतुदान के समय पुरुष के जैसे भाव मन में होंगे वे भाव ही भावी सन्तान में आ जायेंगे। आगे बच्चे की पुष्टि एवं आरोग्यता माता पर ही आश्रित है और उसको ठीक ढंग से रखना माता का ही कर्तव्य है। ऋतुदान के समय भी माता की जिम्मेदारी कम नहीं है पर उस समय विशेषता पिता की है।

स्त्री शक्तिरूपा है। उसकी शक्ति हर समय काम करती रहती है। वह कभी भी निष्फल नहीं जाती गर्भाधान होने के बाद रज जब बन्द हो गया तो वह रज गर्भाशय में पड़े बालक के निर्माण में काम आने लगता है।

इसके बाद माता जितनी ही प्रसन्नचित्त रहेगी उसके फलस्वरूप भावी सन्तान भी उतनी ही बलवान और प्रसन्नचित्त होगी। पुरुष का कर्तव्य हो जाता है कि वह किसी भी प्रकार से उसकी शक्ति क्षीण न होने दे। उसकी शक्ति की हर प्रकार से देखरेख करनी चाहिये। उसमें जितनी ही शक्ति कायम रहेगी उसकी सन्तान उतनी ही तेजस्वी पैदा होगी और उसका दूध उतना ही पुष्टिकारक होगा।

इसलिये माता-पिता से मेरी यही प्रार्थना है कि वे ज्ञान-पूर्वक इन्द्रिय निग्रह से रहें इसीमें अपना कल्याण है।

बच्चा पैदा होने के बाद जबतक रजोधर्म फिर न शुरू हो जाय तबतक उसकी शिशुपालिका संज्ञा ही रहती है। इसके बाद ही

ईश्वरीय प्राकृतिक नियमानुसार उसकी स्त्री संज्ञा होती है। रज परिपक्व न होने तक स्त्री-सहवास न करें। बच्चा होने के बाद माता का एक प्रकार पुनर्जन्म होता है और शास्त्रानुसार उसको फिर से तीन वर्ष का समय मिलना चाहिये ताकि जो बच्चा उसकी गोद में है उसे पर्याप्त दूध मिल सके और वह बलवान और हृष्टपुष्ट हो। तीन वर्ष तक शास्त्रानुसार ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने से माता का गर्भाशय पुष्ट और शक्ति-सम्पन्न हो जाता है तथा पिता का वीर्य भी परिपक्व हो जाता है। इससे भावी सन्तान हृष्टपुष्ट उत्पन्न होगी और गोदीवाले बच्चे को विकार रहित और पुष्टिकारक दूध भी तभी मिलेगा।

आयुर्वेद का थोड़ा भी ज्ञान रखनेवाले मनुष्य यह जानते हैं कि बच्चे के स्तन्य-पान की अवधि के अन्दर, अगर माता-पिता का समागम होगा तो दूध में विकार उत्पन्न होगा और बच्चे के स्वास्थ्य और आयु का ह्रास होगा।

यदि प्राकृतिक नियमों पर दृष्टिपात कर तो यह स्पष्ट मालूम होगा कि माता को दूध तभी आता है जब बच्चा आता है। बच्चे के गर्भस्थ होते ही माता का रज बन्द हो जाता है और उसीसे दूध बनना प्रारम्भ हो जाता है। बच्चे के पैदा होते ही माता के स्तनों में दूध आ जाता है। बिना बच्चे के दूध पैदा नहीं होता है। इसलिये दूध का पूर्ण हक बच्चे ही का है और जबतक बच्चे को दूध की जरूरत रहती है तबतक ही माता के दूध रहता है। इसके बाद उसका दूध बन्द हो जाता है। ऐसे कहावत है कि गोद के

बच्चे को छोड़कर पेट के बच्चे की आशा नहीं करनी चाहिये। अतः माता-पिता से मेरी यही प्रार्थना है कि गोद के बच्चे का भले प्रकार पालन-पोषण करके ही दूसरे बच्चे की इच्छा करें। बच्चे को माता का पूर्ण दूध मिलने से ही वह सुखमय जीवन व्यतीत करेगा। पूर्ण आयु भोग करेगा। सदा स्वस्थ्य और निरोग रहेगा। ऐसा बच्चा ही सच्चा नागरिक बनकर देश, जाति, समाज और धर्म की रक्षा कर सकने के योग्य होगा।

जिन माताओं के दूध नहीं होता हो जिनको बच्चों के प्रति प्रेम नहीं हो एवं बच्चों को दूध पिलाने का कष्ट न करना चाहती हों उनसे मेरा अनुरोध है कि वे बच्चा पैदा करने का कष्ट न करें। ऐसे बच्चे पृथ्वी के भारस्वरूप ही होंगे क्योंकि माता से दूध न पाये हुए बच्चे सदा ही रोगग्रस्त एवं दुर्बल रहेंगे।

शास्त्र से भी यह स्पष्ट ज्ञान होता है कि जब तक बच्चे को पूरे दांत न आ जाय तबतक सम्भोग नहीं करना चाहिये। दूसरा प्रमाण यह है कि जबतक बच्चे का चूडाकर्म न हो जाय तबतक सम्भोग नहीं करना चाहिये। इससे साफ प्रकट है कि हमारे शास्त्रों ने हमें बच्चा पैदा होने के बाद तीन वर्ष तक स्त्री समागम से वर्जित किया है परन्तु आजकल हमलोगों को नाना प्रकार के कष्टों का सामना इसलिये करना पड़ता है कि हम शास्त्रों की आज्ञा की, उसके बताये नियमों की अवहेलना करते हैं। फलतः पीढ़ी दर पीढ़ी नस्ल कमजोर होती जा रही है एवं एक क्षणिक सुख के लिये अपनी अज्ञानतावश हम ईश्वरीय प्राकृतिक नियम

और शास्त्र की अवहेलना करते हैं जिसका परिणाम हमारे लिये सभी प्रकार से दुःखदायक होता है। आज से प्रायः सौ वर्ष पहले माताओं के करीब पांच-पांच वर्ष के बाद बालक हुआ करते थे। इस पांच वर्ष के अन्तर के कारण वे दीर्घजीवी, बलवान और बुद्धिमान हुआ करते थे। इस पांच वर्ष के अन्तर के आधार पर ही हमारी-आयु सौ वर्ष की निर्धारित की गई है। इससे ही बच्चे को माता का दूध पर्याप्त मात्रा में मिलता था और जबतक दूसरा बच्चा पैदा नहीं हो जाता था तबतक वह अपनी माता के लालन पालन में ही रहता था जिससे वह बच्चा शक्तिशाली, पूर्ण आयु-वाला तथा बुद्धिमान होता था। अतः माताओं को अपनी सन्तान की देखभाल खुद रखनी चाहिये। उन्हें अपने नौकरों के आश्रित कभी नहीं छोड़ना चाहिये। अपने निजके दूध से ही उनका पालन-पोषण करना चाहिये। इसके अनुसार चलने से माताओं को अपने बच्चों का लालन-पालन करने में किसी प्रकार की बाधा नहीं होगी और दोनों का स्वास्थ्य ठीक रहेगा।

पांच वर्ष का यह अन्तर होने से माताओं के संतान कम होती थी और उनके बालक बहुत ही कम खण्डित होते थे। इसीसे वह गृहस्थ सुखी रहता था। लेकिन इस समय अज्ञानवश इस पांच वर्ष के भीतर ही माता के तीन सन्तानें हो जाती हैं जिससे उन बच्चों के लालन-पालन में बड़ी-से-बड़ी बाधाएं और कष्ट मिलते हैं। ऐसे बच्चों को माता का दूध भी काफी नहीं मिलता। क्योंकि समय से पहले ही दूसरा बच्चा गर्भस्थ हो जाता है और

इस प्रकार दोनों ही बच्चों को दूध काफी नहीं मिलता। अधिक सन्तान होने से माता को भी इनके लालन-पालन में कष्ट होता है। ऐसी माता तथा ऐसे बच्चे रोगग्रस्त रहते हैं और विभिन्न प्रकार के रोग शोक से गृहस्थ पीड़ित रहता है। समय से पहले पैदा होने के कारण बच्चे प्रायः खण्डित होते हैं और बहुत कम बच्चे माताओं के हाथ लगते हैं। इससे भी माताओं को बहुत दुःख भोगना पड़ता है। जैसे आम के वृक्ष में जो फल लगते हैं उनको अगर उनके समयानुसार उसी वृक्ष पर पकने दें तो वे फल सुन्दर तथा स्वादिष्ट होंगे और अगर वे समय से पहले ही तोड़ लिये गये तो वे अपरिपक्व रह जायेंगे। ठीक इसी तरह माताओं के जबतक दूध होता है तबतक बच्चों को उनका पूरा-पूरा दूध मिलना चाहिये। क्योंकि शुरूसे ही बच्चे की अस्थि का सुचारु रूप से बढ़ाव माता के दूध से ही होता है। यह तो निर्विवाद ही है कि माता के दूध से अस्थि जितनी मजबूत होती है अन्य दूधसे उतनी मजबूत नहीं हो सकती। शरीर का निर्माण अस्थि पर ही निर्भर है एवं बल, बुद्धि आयु आदि सब अस्थि पर ही आश्रित हैं। इस शरीर के जो स्तम्भ हैं वे अस्थि ही हैं। शरीरको खड़ा रखना अस्थि का ही काम है। इसलिये अस्थि जितनी मजबूत होगी उतनी ही हमारी शक्ति बढ़ेगी और वह अस्थि माता के दूध से ही मजबूत होती है। इससे प्रत्येक योनि में पैदा होनेवाले बच्चे का हक अपनी माता के दूध पर पूर्णरूप से है और वही उसके लिये अमृत तुल्य है। एक योनिवाला अगर दूसरी योनिवाले का दूध

काम में लाता है तो वह अपने को तुरन्त नष्ट करता है और बच्चे की शक्ति पर कुठाराघात करके उस बच्चे के साथ भी अन्याय करता है। अतः हरएक योनि का दूध उसी योनि में काम आना चाहिये। हरएक योनि का पालन-पोषण पहले अपनी माता के दूध से ही होता है। बाद में पृथ्वी माता से ही सबका पालन-पोषण होता है।

प्राचीन ग्रन्थों को देखने से ज्ञात पड़ता है कि उस समय माताएं अपने बच्चों का पालन अपने ही दूध से करती थीं। इसका कारण यह था कि उस समय माताओं को पूर्ण ज्ञान एवं उच्च विचार थे कि बच्चों को अन्य किसी का भी दूध देनेसे उनकी बुद्धि वंशानुरूप विकसित न होगी। उनको अपने दूध का पूर्ण गौरव था। वे समझती थीं और उनकी समझ सब तरह से ठीक थी कि यदि बच्चे ने गाय का भी दूध पी लिया तो उसकी बुद्धि ऊपर की ओर न जाकर नीची हो जायगी जिससे अपने कुल का दर्जा नीचे गिर जायगा। लेकिन आजकल देखिये—पैदा होते ही बच्चे को गाय, भैंस और विलायती दूध पर ही आश्रित कर दिया जाता है और उसको अपनी माता का दूध नहीं मिलता। पशु के दूध से जो बच्चा पाला जाता है उसकी आयु और बुद्धि भी वैसी ही होगी जैसी कि पशु की है। यह तो सभी जानते हैं कि पशुओं और मनुष्यों की आयु और बुद्धि समान नहीं होती। आयु की दीर्घता अस्थि की शक्ति पर ही निर्भर करती है। पशुओं के दूध से मनुष्य की अस्थि के निर्माण की शक्ति उतनी ही होगी जितनी

उन पशुओं में हैं। माता के ही दूध से पले बालक की आयु पूर्ण होगी एवं बल और बुद्धि भी अपने हिसाब से पूर्ण होगी। जैसा अन्न होगा वैसा ही मन होगा। माता के दूध से पलने से ही वह अपने को पूर्ण उन्नत बना सकेगा। माता का अपने दूध पर पूरा विश्वास है जैसा कि माता कहती है—हमारे दूध को मत लजा देना। माता के दूध की पूर्ति अन्य दूध से कभी भी नहीं हो सकती। अन्य दूध का व्यवहार करना हमारी अज्ञानता है। माता के दूध से पले बालक बहुत ही कम बीमार होंगे। अन्य दूध से पले बालक सदा ही बीमार रहेंगे और दवाइयों के आश्रय ही उनका जीवन व्यतीत होगा।

यावदष्टादशे मासे मातृदुग्धंतु निर्बलम्।
केवलं जीवनार्थाय ऊर्ध्वं बुद्धिबलायच॥

भावार्थ यह है कि आरम्भ में माता का दूध पतला होता है और वह केवल बच्चोंके जीवन धारण के लिये ही होता है। अठारह मास के बाद ही का दूध गाढ़ा एवं बच्चे के लिये बल और बुद्धिवर्द्धक होता है।

इसलिये माताओं से मेरी विनम्र प्रार्थना है कि बच्चे को जब तक पूरे दांत न निकल आवें तबतक उनका पालन-पोषण अपने दूध पर ही निर्धारित रखें। इसके अतिरिक्त मौसमी फल, उनके रस, मेवा तथा अन्न आवश्यकतानुसार बच्चों को देकर ही पालन-पोषण करें।

माता का दूध है तथा बाद में पृथ्वी माता का अन्नादि रूप दूध ही उनका आहार है।

हरएक माता-पिता यही चाहता है कि अपनी सन्तान तेजस्वी बलवान्, बुद्धिमान, दीर्घजीवी तथा सुखी हो, परन्तु यह सब पूर्ण रूप से तभी सम्भव है जब हम ऊपर लिखी हुई बातों के अनुसार व्यवहार करें। क्योंकि जैसा बीज होगा, वैसा ही फल लगेगा। अतः अपनी सन्तान के कल्याण के लिये हमें सत्कर्म करने होंगे और उनका पालन-पोषण शास्त्रानुसार करना होगा, तभी हमारी सन्तान बलवान, हृष्ट-पुष्ट और बलवान होगी। इसके विपरीत चलने से वह दुःखमय जीवन व्यतीत करेगी। हरएक माता-पिता से मेरी यही विनम्र प्रार्थना है कि वे ईश्वरीय प्राकृतिक नियमानुसार ऋतुकालाभिगामी होकर अपना गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करें।

माता-पिता की सन्तानोत्पत्ति की आवश्यकता पूर्ण होने पर उन्हें चाहिये कि वे अपनी शेष उम्र को ब्रह्मचर्यव्रत पालन कर व्यतीत करें। इस प्रकार वे अपनी आत्मा को उज्ज्वल बनावें और उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करें।

मेरी तुच्छ बुद्धिमें तो यही आता है कि जबसे सन्तान जल्दी-जल्दी होने लगी है, तब से हिन्दुस्तान में जनसंख्या बहुत बढ़ रही है। जनसंख्या बढ़ने से हमलोगों के सामने अनेक कष्ट आ रहे हैं। अन्न, वस्त्र का अभाव इसी कारण से है कि माताओं को जो सन्तान होती है, उनमें पांच वर्ष का अन्तर नहीं होता।

अगर वही क्रम रहा तो आगे चलकर हिन्दुस्तान की क्या स्थिति होगी, परमात्मा ही जान सकता है। अतः हमलोगों को इस प्रकार की बुराई को दूर करने की चेष्टा करनी चाहिये।

विद्यासमस्तास्तव देवी भेदाः स्त्रियः समस्ताः सकलाजगत्सु।
त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्काते स्तुतिः स्तव्यपरा परोक्तिः॥
आधारभूता जगतस्त्वमेका महीस्वरूपेण यतः स्थितासि।
अपांस्वरुप स्थितया त्वयैत दाप्यायते कृत्स्न मलंघ्यवीर्ये॥

हे माताओ और देवियो - आप पृथ्वी रूपा हैं। जिस प्रकार से पृथ्वी ने सारी सृष्टि को धारण कर रखा है, आप भी उसी तरह गृहस्थ को धारण करती हैं।

आप जल रूपा हैं। जल में जिस तरह से शीतलता है तथा जीवन दातृत्व शक्ति है इसी तरह आप शीलवती हैं।

आप वृक्ष रूपा हैं। जिस तरह से वृक्ष सबका उपकार निःस्वार्थ भाव से ठण्डी छाया तथा फल देकर करता है उसी प्रकार आप उपकार एवं निःस्वार्थ भाव से अनेक कष्ट सहन करके भी सृष्टि की रचना करती हैं। आप अपनी उम्र सेवा में ही व्यतीत करती हैं।

त्वं वैष्णवी शक्ति रनन्त वीर्या।
विश्वस्य बीजम् परमासिमाया॥
संमोहितम् देवि ! समस्तमेतत्।
त्वं वै प्रपन्ना भुवि मुक्ति हेतुः॥

आप आकाशरूपा हैं। आपमें ही सब तत्वोंका शन्निवेश है।

अतः आप ही शक्ति रूपा हैं। शक्ति का स्रोत होकर आप अपने दूध के द्वारा समस्त जीवों को शक्ति देती हैं।

आप लक्ष्मी रूपा हैं। बुद्धिस्वरूपा हैं। जहाँ आपकी प्रसन्नता है वहां ही सब प्रकार के सुख प्राप्त हैं।

आप धर्म की रक्षिका हैं तथा दया का भण्डार हैं। स्वधर्म की रक्षा के लिये अपने शरीर का कुछ भी विचार न करके मरने तक को तैयार रहती हैं। जैसे श्री मातेश्वरी सीताजी ने रावण के इतने प्रलोभन तथा भय से भी विचलित न होकर स्वधर्म की रक्षा के लिये इतने कष्टों का सामना किया। आप में त्याग की मात्रा ज्यादा है। जब-जब धर्म पर सङ्कट आता है तब-तब आप दुर्गा आदि रूप धरकर दुष्टों का दमन कर धर्म की रक्षा करती हैं।

आप का आसन सब से ऊँचा है। देवता भी आपकी सदैव स्तुति करते हैं। आपको मेरा बारम्बार नमस्कार है।

आप गृहिणी हो! आप गृह की स्वामिनी हो! जिस प्रकार पृथ्वी समस्त संसार का भार सम्हालकर सबका पालन कर रही है उसी प्रकार गृह के सारे कार्य आप पर ही निर्भर हैं। आप इस गृहस्थाश्रम को जितना सुन्दर चाहे बना सकती हैं। आज हम कुछ पीढ़ियों से पतन की ओर बड़ी तेजी से जा रहे हैं। हमारी मर्यादा कमजोर होने से हमारे सारे धर्म-कर्म में शिथिलता आ गई है और घर दुःखागार बन गया है। हम शक्तिहीन हो रहे हैं। अतः आपकी मदद करने में भी असमर्थ हो रहे हैं। नाना प्रकार

के चक्कों और उलझनों में फँसकर हम ऐसे अधीर हो गये हैं कि हम अपने अन्न-वस्त्र की समस्या को भी आसानी से नहीं सुलझा पाते। चारों तरफ अशांति फैल रही है एवं छल कपट की विशेषता हो रही है—

अतः मेरी आप से प्रार्थना है कि आप अपने स्वरूप को समझें और रानी मदालसा की तरह बालकों को शिक्षा देकर फिर से भारतवर्ष में, राम, लक्ष्मण, महावीर, भीष्म, भीम, अर्जुन कपिल, कणाद, हरिश्चन्द्र, युधिष्ठिर, ध्रुव, प्रह्लाद, प्रताप, शिवाजी आदि जैसे नररत्नों एवं सती, पार्वती, सीता सावित्री, गार्गी, मैत्रेयी, मीरा, पद्मिनी, दुर्गावती, लक्ष्मीबाई, रानी भवानी आदि शक्ति रूपाओं को उत्पन्न करें जिससे भारतवर्ष अपने प्राचीन गौरव को फिर से प्राप्त कर सके और सारे संसार का सिरमौर बन सके। यह सामर्थ्य आप में है। आप अपने सत्कर्मी द्वारा पिता और ससुर दोनों पक्ष को ही उज्ज्वल बनाती हैं। जैसे कवि ने लिखा है।

चन्द्र उजोले एक पख, बीजे पख अँधियार।
बलि दुहुं पख उजालिया, चन्द्रमुखी बलिहार॥

पुरुष ब्रह्मरूप हैं। ज्ञान के भण्डार हैं। अतः उनको ज्ञानपूर्वक गार्हस्थ्य जीवन संचालित करना चाहिये। जिससे सब प्रकार के सुखों की प्राप्ति हो।

ईश्वरीय प्राकृतिक नियमानुसार पचास वर्ष के करीब स्त्री का रजोधर्म बन्द हो जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अब

स्त्री पुरुष का सहवास सर्वथा अनुचित और अकल्याणकारी है। इसके बाद ईश्वरीय प्राकृतिक नियम से वानप्रस्थाश्रम आरम्भ हो जाता है। इसलिये अब उनका कर्त्तव्य हो जाता है कि काम-क्रोध को त्यागकर वे अपनी सन्तति को सदुपदेश देवें, उसे सत्पथ पर लाने की चेष्टा करें। उनको अपनी बाकी उम्र ब्रह्मचर्य से रहकर भगवान के भजन में ही शान्ति चित्त हो व्यतीत करनी चाहिये ताकि परमात्मा उनपर प्रसन्न हो उन्हें सद्गति देवें।

बम्बई से एक मित्र का पत्र मिला। आप लिखते हैं—

....

आपको स्मरण होगा कि आपने मुझे अपनी लिखी एक छोटी पुस्तक दी थी। मैंने उसे एक मित्रसे पढ़वाकर सुना और बड़ा आनन्द आया। कलकत्ते में अब मैं जब आपसे बातें कर रहा था उस समय आपने सन्तानोत्पत्ति के विषय में जो बातें कही थी मेरी समझमें नहीं आ सकी थी। उसका उल्लेख अपनी इस पुस्तक में भी आपने किया है। आपके कथनानुसार एक सन्तान की उत्पत्ति के बाद दूसरी सन्तान की उत्पत्ति में पांच वर्ष का अन्तर होना चाहिये जिससे कि माता-पिता एवं सन्तान का स्वास्थ्य कायम रह सके। मैं नहीं समझ सका कि व्यवहारिक दृष्टिकोण से यह कैसे सम्भव हो सकता है। उदाहरणार्थ एक बीस वर्ष का लड़का १५, १६ वर्ष की लड़की से विवाह करता है।

सौभाग्य से या दुर्भाग्य से एक वर्ष के भीतर उसके एक सन्तान पैदा हो जाती है। अब आपके मतानुसार पांच वर्ष तक उनको दूसरी सन्तान नहीं होनी चाहिये अर्थात् एक सन्तान के बाद दूसरी सन्तान के पैदा होने में पांच वर्षका अन्तर होना चाहिये। यह कैसे हो सकेगा मेरी कल्पना के बाहर है। स्त्री-पुरुष को निम्नलिखित तीन उपायों में से एक का अवलम्बन करना होगा।

(१) ब्रह्मचर्य।

(२) गर्भ निरोध के कृत्रिम साधनों का प्रयोग।

(३) हस्त मैथुन।

प्रथम उपाय शास्त्रों के विरुद्ध एवं अव्यवहारिक भी है। दूसरे एवं तीसरे उपायों के अवलम्बन से उसे प्रयोजन की सिद्धि नहीं होगी जो आपको अभीष्ट है। ऐसी परिस्थिति में आपके सिद्धांत को उचित रीति से कार्यरूप में कैसे परिणत किया जा सकता है मैं नहीं समझ पाता। शायद आप और कोई उपाय बता सकते हैं जिसे आपसे जानकर मुझे प्रसन्नता होगी।

उत्तर

प्रिय मित्र,

आपके पत्र के लिये अनेकशः धन्यवाद। आपके सन्तानोत्पत्ति विषयक प्रश्न के उत्तर में मेरी तुच्छ बुद्धि के अनुसार निम्नलिखित निवेदन है :—

आपके प्रश्न का बहुत कुछ समाधान मेरी पुस्तक में जो मैं लिख रहा हूं मिलेगा। यह तो निर्विवाद है कि स्त्री-पुरुष की सारी शक्ति, तेज, ओज, आयु, बुद्धि रजवीर्य के ही आधार पर आश्रित हैं। शास्त्र कहते हैं 'मरणं विन्दुपातेन जीवनं विन्दु-धारणात्' रज-वीर्य की रक्षा से जीवन और उनके नाश से जीवन का नाश है। प्रसवकाल में स्त्री का अत्यधिक रक्त निकल जाता है। उसका खून पतला पड़ जाता है। उसका शरीर अत्यन्त क्षीण हो जाता है। स्त्री का प्रसव के बाद एक प्रकार पुनर्जन्म ही होता है। ऐसी अवस्था में वह जितने अधिक समय तक पुरुष समागम से पृथक् रहेगी उतना ही उसकी शक्ति का सञ्चय होगा। उसका शरीर हृष्ट-पुष्ट और उसका दूध शक्तिशाली होगा जिससे गोदवाला बच्चा पुष्टिकारक और पर्याप्त दूध पाकर मजबूत और दीर्घायु होगा। बाद में आनेवाली सन्तान भी स्वस्थ, सबल और बड़ी उम्रवाली होगी। पुरुष भी वीर्य निग्रह द्वारा शक्तिशाली होगा। एक बच्चे के बाद दूसरे बच्चे में यदि पांच वर्ष का अन्तर होगा तो ऊपर लिखे लाभ के अतिरिक्त यह भी होगा कि बच्चे कम होने से उनकी देखभाल और संभाल अच्छी तरह करके माता-पिता उन्हें योग्य नागरिक बना सकेंगे। अधिक सन्तान यदि अयोग्य हों तो वे भार-स्वरूप ही होंगी। योग्य कम सन्तान भी गार्हस्थ्य को उज्ज्वल बना सकेंगी जैसे एक चन्द्रमा से सारा जगत् उज्ज्वल होता है किन्तु लाखों तारों से भी उजाला नहीं होता।

इसके लिये गर्भ निरोध या हस्तमैथुनादि उचित साधन नहीं हैं। यह तो आप भी मानते हैं। संयम ही एक मात्र उपाय है। संयम अव्यवहारिक नहीं है। वर्तमान रहन-सहन के कारण यह हमलोगों को कठिन प्रतीत होने लग गया है। संयम रखना शास्त्र के सर्वथा अनुकूल है। वह संयम हो कैसे, यह प्रश्न है। उत्तर में निवेदन है कि संयम मन पर ही निर्भर करता है। स्त्री-पुरुष का कर्त्तव्य है कि वे मनसे विषयवासना को हटा देवें। उन्हें समझना चाहिये कि स्त्री-पुरुष के प्रसंग का विधान ईश्वर ने योग्य सन्तान द्वारा संसार का कल्याण करने के लिये बनाया है न कि अपनी शक्ति का नाश करने के लिये। स्त्री-पुरुष के मनमें यह दृढ़ भावना हर समय होनी चाहिये कि विषय-वासना त्यागकर संयम से रहने में ही मानव जाति का कल्याण हो सकता है। अच्छी संगति, सात्विक भोजन, पवित्र विचार एवं उद्यमशील जीवन संयम में बड़े सहायक हो सकते हैं। सबसे अधिक व्यावहारिक उपाय है स्त्री-पुरुष का पृथक् शयन। स्त्री, स्त्रियों में और पुरुष, पुरुषों के समीप सोवें। केवल ऋतुदान के समय ही वे एकान्त सेवन करें। प्राचीनकाल में अपने देश में रानियों के लिये पृथक् रनवास होते थे। रानी अपनी सखियों के साथ सोती थीं, राजा अपने मित्रों और कर्मचारियों के साथ। रानी की इच्छा से ऋतुदान के समय ही राजा रनवास में जा सकता था। इसी से मानव उत्थान था। हमारी वीरता थी। स्त्री-पुरुष के युवा अवस्था में प्रवेश करने के पश्चात् जो सन्तान पैदा होगी वह

पूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्गवाली होगी और उसका वजन भी पूरा होगा। माता के दूध भी उपयुक्त मात्रा में होगा। तीन वर्ष तक माता का विकार रहित दूध सन्तान को मिलने से वह सन्तान शक्तिशाली होगी और पूर्ण आयु भोग करेगी। उसके बाद जब दूसरा बच्चा गर्भस्थ होगा वह भी पूर्ण होगा। ऐसे ही मर्यादा हमलोगों को फिर से बना लेनी चाहिये। इसी से हमारी नस्ल पीढ़ी दर पीढ़ी अच्छी बनेगी और इसी से अपना कल्याण होगा।

दुर्व्यसन

आवश्यकता से अधिक जो व्यवहार में लाया जाय उसी का नाम व्यसन है और दुष्ट व्यसन ही दुर्व्यसन कहलाता है। दुर्व्य-सन शब्द का अर्थ है बुरी और हानिकारक आदत। हर चीज की सीमा होती है, उस सीमा का उल्लंघन करना निन्दनीय होता है। उसका परिणाम भयङ्कर रूप से हानिकारक होता है। कहा गया है—"अति सर्वत्र वर्जयेत्।" दुर्व्यसन शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के होते हैं, हानियां भी दोनों से हुआ करती हैं। जीवन यापन के लिये जो काम अति आवश्यक होता है अगर उसे भी उसकी सीमा के पार तक किया जाय तो वह लाभदायक नहीं हो सकता।

यहां पर मुख्य-मुख्य दुर्व्यसनों की ओर आपका ध्यान आकृष्ट किया जाता है। सम्भव है अगर आप इन्हें अच्छी तरह समझकर इनसे दूर रहेंगे तो अन्य दुर्व्यसनों से भी छुटकारा

मिल सकता है। प्रधानतया नशीले पदार्थ जैसे शराब, चाय, तम्बाकू अफीम आदि का सेवन, सिनेमा देखना, जुआ खेलना, आलस्य चटपटा भोजन, दिन में सोना, और अति स्त्री-प्रसंग दुर्व्यसन कहलाते हैं। ध्यान से गौर करने पर पता लग जायगा कि इनमें से कोई भी ऐसा नहीं है जिसका अनियंत्रित व्यवहार होने से हमारी शारीरिक और मानसिक और साथ ही नैतिक हानि न हो। एक ही चीज जो समयानुसार निर्धारित मात्रा में व्यवहार करने से अमृत के समान फल देती है उसी का अनावश्यक और अति मात्रा में व्यवहार किया जाय तो वही विष का काम करती है। जैसे शराब को ले लिया जाय। दवा के रूप में वह अत्यन्त लाभदायक है, पर आदत के वशीभूत होकर उसका सेवन करना हानिकारक होता है। उसी प्रकार स्त्री-प्रसंग को ले लिया जाय। अति स्त्री-प्रसंग हर हालत में हानिकारक सिद्ध होता है। प्रत्येक दुर्व्यसन की यही हालत है।

दुर्व्यसन से सर्व प्रथम शारीरिक, फिर मानसिक और अन्त में नैतिक हानि होती है। नशीले पदार्थ के अनावश्यक सेवन से शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग बिगड़ जाते हैं। शरीर की अनमोल ताकत दिन-प्रतिदिन क्षीण होती जाती है। फलतः शरीर नाकाम हो जाता है और मनुष्य नाना प्रकार से पीड़ित होकर दुःखमय जीवन व्यतीत करता है। मनुष्य नशीले पदार्थ का गुलाम बन जाता है। फिर तो उसके बिना एक क्षण भी चैन उसे नहीं पड़ती है। कभी-कभी मनुष्य इसके लिये अपनी इज्जत-आबरू तक की

बाजी लगा देता है। नाशवान क्षणिक आनन्द के लिये मनुष्य अपने कल्याण की बात एकदम भूल जाता है, अन्धे की तरह विनाश की ओर दौड़ पड़ता है। चटपटे और बनावटी स्वादु भोजन के विषय में भी यही कहा जा सकता है। हम खाना खाते हैं जीने के लिये, न कि जीते हैं खाने के लिये। भोजन तो इसलिये किया जाता है कि शरीर स्वस्थ, सुडौल और हृष्ट पुष्ट बना रहे ताकि मनुष्य पुरुषार्थ कर अपने जीवन को सफल बना सके। अतः उचित तो यह है कि शरीर को पुष्ट और निरोग रखनेवाला भोजन करना चाहिये। यह प्राकृतिक रूप में पाये जानेवाले भोजन में ही सम्भव है। परन्तु यदि मनुष्य जीभ के क्षणिक आनन्द के लिये बनावटी चटपटे भोजन की ओर झुक जाय तो शरीर की पुष्टि और वृद्धि तो दूर रही, वह अपनी हालत को सम्भाल भी नहीं सकता। क्षणिक आनन्द के लोभ में मनुष्य ऐसे भोजन को पसन्द कर लेते हैं जो उनके लिये घृणित रूप से हानिकारक साबित होते हैं। आवेश में उनसे होनेवाली हानियों का वे कुछ भी ख्याल नहीं करते और अपने को बरबादी की ओर ले जाने में सहायक होते हैं पर यह उनकी महान भूल होती है।

दिन में सोने की आदत तो बहुत ही बुरी बीमारी है। ईश्वरने पुरुष को पुरुषार्थ करने के लिये रचा है। साथ ही उनकी जिन्दगी भी बहुत छोटी होती है। इस छोटी जिन्दगी के गिने-गिनाये दिनों को सोकर बरबाद कर डालना कभी वांछनीय नहीं है। उसे तो पुरुषार्थ कर मानव जीवन धन्य बनाने का उद्योग करना

चाहिये। परिश्रम करते-करते जब मनुष्य थक जाता है तो उसे आराम की भी आवश्यकता होती है। ईश्वर की इस अनूठी सृष्टि में उसका उचित प्रबन्ध पाया जाता है। दिन की रचना की गई है ताकि मनुष्य दिनभर परिश्रम कर अपनी जीविका उपार्जन, परोपकार और भगवत् चिंतन करे। रात की रचना इसलिये की गई है कि परिश्रम करते-करते थक जाने के बाद फिर पुरुषार्थ करने योग्य शक्ति प्राप्त करने के लिये रात में मनुष्य या जीवमात्र आराम करें और नई स्फूर्ति और ताकत प्राप्त करें। फिर दिन में सोकर अपने जीवन के अनमोल समय को बरबाद कर शरीर को आलसी, शक्ति हीन और अकर्मण्य बनाना मूर्खता ही होगी।

अब अति स्त्री-प्रसंग जैसे भयंकर दुर्व्यसन को लीजिये। इसे दुर्व्यसनों का सरदार या राजा कहा जा सकता है। जैसा आगे बताया है। ईश्वर ने स्त्री-पुरुष की रचना सृष्टि को कायम रखते हुए इसे आगे बढ़ाने के उच्च उद्देश्य से की है। अतः सन्तानोत्पत्ति के लिये स्त्री-प्रसंग आवश्यक और उचित भी है। हमारे ऋषि-मुनि भी इसी प्रकार की उत्तम शिक्षा दे गये हैं। अगर व्यसन के रूप में नहीं वरन् सन्तानोत्पत्ति के लिये स्त्री-प्रसंग किया जाय तो वह स्त्री और पुरुष दोनों के लिये लाभदायक होगा और इस प्रकार जो सन्तान पैदा होगी, वह शूर-वीर, पराक्रमी, यशस्वी होकर सुखमय जीवन व्यतीत करेगी। पर हमारी उपस्थित-हालत तो कुछ दूसरी ही हो गई है। स्त्री-प्रसंग के पवित्र

उद्देश्य को भूलकर हमने उसे व्यसन का घृणित रूप दे डाला है। समय असमय, उचित अनुचित, लाभ-हानि, आदि को भूलकर हमलोग उसके पीछे कीड़े की तरह लग गये हैं। हम उसके पीछे इस तरह पागल हो गये हैं कि उससे होनेवाली हानियों को जानकर भी उसमें लिप्त हो रहे हैं। यही कारण है कि हम दिनों-दिन कमजोर होते जा रहे हैं। हमारी सन्तान पीढ़ी दर पीढ़ी निकम्मी, कद में छोटी, कायर और पुरुषार्थहीन होती जा रही है। नाना प्रकार की बीमारियों का शिकार बनकर हम असमय में ही काल के कराल गाल में पड़ जाते हैं। अतः इसे व्यसन का रूप न देकर पवित्र उद्देश्य से ही व्यवहार में लाया जाय और उसके उच्च फल को प्राप्त किया जाय।

जैसा आगे बताया जा चुका है, दुर्व्यसन कोई भी हो उसमें सर्व प्रथम शारीरिक, फिर मानसिक और अन्त में नैतिक पतन होता है। ईश्वर ने संसार में नाना प्रकार की चीजों की सृष्टि इसलिये की है कि हम उसका उचित व्यवहार कर सच्चा आनन्द प्राप्त करें। कई बार जन्म लेने और मरने के बाद, कितनी यातनाओं का सामना करने के पश्चात् यह मानव शरीर मिलता है। इसकी प्राप्ति अति कठिन है। फिर इस अमूल्य मानव शरीर को सस्ते मूल्य पर खो देना अपने पैर में अपने से कुल्हाड़ी मारना है। पंचतत्वों का बना यह मानव शरीर कोई लोहा तो है नहीं फिर लोहे का भी ह्रास होता है। अतः दुर्व्यसन का शिकार बन जाने से मानव शरीर बिगड़ जाता है, उसकी शारीरिक शक्ति

क्षीण हो जाती है और नाना प्रकार से पीड़ित होकर मानव दुःख-मय जीवन व्यतीत करता है। शारीरिक शक्ति के नाश के साथ ही साथ मानसिक शक्ति का भी विनाश हो जाता है (क्योंकि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का वास हो सकता है)। अतः मानव अपने विचार, विवेक बुद्धि आदि को खो बैठता है। यह मानव शरीर निरर्थक हो जाता है। यह तो इस नाशवान् मानव शरीर की बात रही। पर हमारा विनाश यहीं तक सीमित नहीं रहता वह और भी आगे बढ़ता है। नाशवान मानव शरीर आज नहीं तो कल नष्ट होगा ही। पर इस नाशवान शरीर के अन्दर एक अमर ज्योति बास करती है—आत्मा जो, कभी नष्ट होनेवाली नहीं है। वह अखण्ड और अमर है। पर शारी-रिक मानसिक शक्ति के ह्रास हो जाने पर आत्मा पर भी इसका बुरा और भयङ्कर प्रभाव पड़ता है। उसकी शक्ति और ज्योति क्षीण होती जाती है अर्थात् जब आत्मा पर अज्ञान का आवरण (विक्षेप) पड़ जाता है तब उसकी ज्योति क्षीण हो जाती है। ज्ञान की प्राप्ति होने पर अज्ञान का आवरण हट जाता है और ज्योति प्रखर होती है। अनन्त कठिनाइयों के बाद प्राप्त यह मानव शरीर मिलता है। यहाँ इसका दुर्व्यवहार होने से आत्मा पुन-र्जन्म में आगे की ओर न बढ़कर पीछे पड़ जाती है और फिर मनुष्य को नीची योनि में जाकर नाना प्रकार की यातनाओं का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार पूर्व जन्म की अनमोल कमाई क्षण में बरबाद हो जाती है। साथ ही सबसे बड़ी हानि

तो यह होती है कि मोक्ष बहुत दूर पड़ जाता है। अगर मनुष्य नियमानुसार उचित कार्य कर शारीरिक और मानसिक शक्ति का संचय करे तो आत्मा की शक्ति बढ़ जाय उसकी उन्नति प्रखर हो जाय और फिर अगले जन्म में वह उच्च योनि में जा सके। अगर उन्नति का यह क्रम जारी रहा तो समय पाकर आत्मा परमात्मा से मिल जाय, मनुष्य को मानव जीवन का अंतिम फल मोक्ष मिल जाय। फिर तो आवागमन के बन्धन से छुट्टी मिल जाय। अतः इस अखण्ड और अनमोल आत्मा की रक्षा हर प्रकार से की जानी चाहिये। पर आत्मा के रहने का शरीर-रूपी घर ही ध्वस्त हो जाय तो फिर उसकी उन्नति का क्या सवाल हो सकता है। अतः शरीर की रक्षा हर उचित उपाय से करनी चाहिये—

"धर्मार्थकाममोक्षाणां आरोग्यं मूलमुत्तमम्"

मानव शरीर नाशवान है। उसके नाश का साधन इसके साथ ही लगा है। वह है हमारी इन्द्रियों का दुरुपयोग जिसके चलते हम दुर्व्यसन और षट्-विकार के शिकार बनते हैं। स्वभावतः इन्द्रियों की नीची प्रवृत्ति होती है। वे हमें पतन की ओर ले जाना चाहती हैं। ऋषि मुनियों ने इन्द्रियों को वश में रखना बतलाया है। मानव ज्ञानवान प्राणी है। ज्ञान के द्वारा इनको जानकर उनपर शासन करे यही उसको शोभा देता है। वे ज्ञानरूपी अंकुश से इन इन्द्रियों को सदा नियन्त्रण में रखें। शरीर रूपी मन्दिर में अखंड आत्मारूपी प्रकाश वर्तमान है पर व्यसनरूपी शत्रु उसकी ज्योति को क्षीण करने का प्रयास करते हैं। मनुष्य को

चाहिये कि ज्ञानरूपी दीपक से इस अन्धकार को दूर कर अपनी आत्मा को प्रखर और शक्तिशाली बनावें, ताकि यह जन्म सफल हो आगे जन्म में भी वे आगे बढ़ सकें। इस अन्धकार को दूर करने के लिये समय-समय पर धर्म पुस्तक का अध्ययन, सत्संगति आदि का अवलम्बन करना चाहिये।

इन दुर्व्यसनों का शिकार हम बाल्यावस्था में अज्ञानतावश या बुरी संगति में पड़कर हो जाते हैं, अनजान में हम क्षणिक आनन्द के लिये किसी बुरी आदत को डाल लेते हैं जिसका परिणाम पीछे चलकर हमारे लिये बहुत हानिकारक होता है। बुरी संगति में पड़कर हम अपने को बिगाड़ देते हैं। हमें इससे बचने का हर प्रकार उचित प्रबन्ध करना चाहिये। प्रधानतया यह उत्तरदायित्व माता-पिता का है। उन्हें अपने बच्चों की पूरी निगरानी रखनी चाहिये ताकि बचपन में वे कोई बुरी आदत न डाल लें या किसी बुरी संगति में पड़कर अपने को बिगाड़ न डालें, उन्हें ध्यान रखना चाहिये कि उनके बच्चे ठीक नियमित रूप से उचित कार्य करते हैं तथा आत्मा को उन्नत बनाने योग्य हर कार्य करते हैं। साथ ही यह भार उन बच्चों पर भी आता है जब वे बड़े होकर अपना होश सम्हाल कर खड़े होते हैं। उन्हें काफी मजबूती से काम लेना चाहिये और अपने शत्रुओं को वश में रखने का प्रयत्न करना चाहिये। यहाँ असफल हो जाने से वे जीवन में भी असफल हो जायँ, इसकी भयङ्कर सम्भावना रहती है। अतः वे भी अपने उत्तरदायित्व को समझकर अपनी रक्षा करते हुए

अपनी आत्मा की अमर ज्योति को प्रखर और तेजोमय बनाने की कोशिश करें इसीमें अपना, समाज का और संसार का कल्याण है।

पुरुषार्थ

पुरुषार्थ शब्द पुरुष शब्द से ही बना है। अतः पुरुषार्थ पुरुष के लिये अत्यन्त आवश्यक है। जिस मनुष्य में पुरुषार्थ नहीं है उसका पुरुष नाम हो ही नहीं सकता। ईश्वरीय प्रकृति की देन कैसी सुन्दर है। मानव के अतिरिक्त और सभी प्राणियों के लिये सारे आवश्यक पदार्थ प्रकृति माता ही बनाती है।

एक मानव जाति ही ऐसी है जिसे अपने भोगके सारे पदार्थ अपने पुरुषार्थ से ही पृथ्वी माता से उपार्जन करने पड़ते हैं। परमात्मा ने मानव जाति को पुरुषार्थ के लिये ही बनाया है। बिना पुरुषार्थ के मानव जाति के लिये कोई भी वस्तु प्राप्य नहीं है। मानव जाति को अन्य प्राणियों की तरह बनी बनाई चीजें लेनी नहीं है। उसे अपने पुरुषार्थ पर ही निर्भर कर उन्नति करना है। पुरुषार्थ हीन मनुष्य पशु तुल्य ही है, मनुष्य को ज्ञान सहित पुरुषार्थ करना चाहिये। पुरुषार्थ से ही पुरुषार्थ बढ़ता है। अनमोल समय को आलस्य में नहीं खोना चाहिये। पुरुषार्थ के साथ हमेशा ही सत्कर्म करना और मन, कर्म वचन से प्राणिमात्र का हित करना मनुष्य का परम कर्त्तव्य है।

महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय ६ में भाग्य और पुरुषार्थ का निम्नलिखित प्रकरण है—

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
दैवे पुरुषकारे च किंस्विच्छ्रेष्ठतरं भवेत्॥

युधिष्ठिर ने भीष्मपितामह जी से पूछा कि—हे पितामह आप बड़े विद्वान् और सारे शास्त्रों के ज्ञाता हैं कृपया बताइये कि भाग्य और पुरुषार्थ इन दोनों में कौन बड़ा है।

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
वशिष्ठस्य च संवादं ब्रह्मणश्च युधिष्ठिर॥

भीष्म ने कहा कि हे युधिष्ठिर इस सम्बन्ध में वशिष्ठ और ब्रह्मा का संवाद उल्लेखनीय है। वशिष्ठ के ऐसे ही प्रश्न पर ब्रह्माजी ने उत्तर में कहा था।

ब्रह्मोवाच

नाबीजं जायते किंचिन्न बीजेन विना फलम्।
बीजाद्बीजं प्रभवति बीजादेव फलं स्मृतम्॥

बिना बीज के कुछ नहीं पैदा होता है बीज के बिना फल भी नहीं होता। बीज से ही बीज और बीज से ही फल होता है।

यादृशं वपते बीजं क्षेत्रमासाद्य कर्षकः।
सुकृते दुष्कृते वापि तादृशं लभते फलम्॥

किसान खेत में पुण्य या पाप रूपी जैसा भी बीज बोता है वैसा ही फल पाता है।

यथा बीजं विना क्षेत्रमुप्तं भवति निष्फलम्।
तथा पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति॥

जैसे बिना खेत के बोया हुआ बीज निष्फल हो जाता है उसी प्रकार पुरुषार्थ के बिना दैव (भाग्य) नहीं सिद्ध होता है।

क्षेत्रं पुरुषकारस्तु दैवं बीजमुदाहृतम्।
क्षेत्रबीजसमायोगात्ततः सस्यं समृद्धयते॥

पुरुषार्थ खेत है और भाग्य मानो बीज है। खेत और बीज के मिलने से ही फसल होती है।

शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा।
कृतं फलति सर्वत्र नाकृतं भुज्यते क्वचित्॥

शुभ कर्म से सुख, पाप कर्म से दुःख प्राप्त होता है। सब जगह किये कर्म का ही फल प्राप्त होता है। बिना किये का भोग नहीं होता।

तपसा रूपसौभाग्यं रत्नानि विविधानि च।
प्राप्यते कर्मणा सर्वं न दैवादकृतात्मना॥

सुन्दर रूप, सौभाग्य, नाना प्रकार के रत्न आदि तपस्या रूप पुरुषार्थ से ही प्राप्त होते हैं। अकर्मण्य मनुष्य केवल भाग्य से यह सब कदापि नहीं पाते।

अर्था वा मित्रवर्गो वा ऐश्वर्यं वा कुलान्वितम्।
श्रीश्चापि दुर्लभा भोक्तुं तथैवाकृतकर्मभिः॥

धनधान्य, मित्रादि, ऐश्वर्य, उत्तम कुल में जन्म और लक्ष्मी भी बिना उत्तम कर्म किये हुए कोई भोग नहीं कर सकता।

नादातारं भजन्त्यर्था न क्लीबं नापि निष्क्रियम्।
नाकर्मशीलं नाशूरं तथा नैवातपस्विनम्॥

जो दानशील नहीं हैं एवं जो क्लीब, आलसी और अकर्मण्य हैं तथा जो शूर नहीं और तपस्वी (जो सत्कर्म के अनुष्ठान में

कितने भी विघ्न-बाधाएँ किंवा कष्ट प्राप्त क्यों न हों अपने व्रत से न डिगें) भी नहीं, उन्हें अर्थ प्राप्त नहीं होते।

कृतःपुरुषकारस्तु दैवमेवानुवर्तते।
न दैवमकृते किंचित् कस्यचिद्दातुमर्हति॥

पुरुषार्थ से ही दैव (भाग्य) बनता है। दैव किसी को भी बिना किये कर्म के कुछ भी नहीं दे सकता है। (पूर्व में किये हुए कर्मों का फल जो दैव देगा उस फल की प्राप्ति के लिये भी कर्म करने ही होंगे। अतएव मनुष्यों को सदैव सत्कर्म में लगा रहना चाहिये)।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।
आत्मैव ह्यात्मनःसाक्षी कृतस्याप्यकृतस्य च॥

मनुष्य आप ही अपना मित्र है और अपना शत्रु भी आप ही है। आप ही अपने शुभ अशुभ कर्मों का साक्षी भी है।

दूसरा कोई हमारी सहायता करेगा तभी हमारी उन्नति होगी ऐसा कदापि नहीं सोचना चाहिये। हम अपने कर्मों से ही बड़े होते हैं। उसी प्रकार यह भी ध्रुव सत्य है कि अन्य कोई हमें गिरा भी नहीं सकता है। हमारा पतन हमारे अपने अशुभ कर्मों से ही होता है। ऐसा हमलोगों को हर समय ध्यान रखना चाहिये कि हमारा उत्थान अथवा पतन हमारे ही कर्मों पर निर्भर है।

यथाग्निः पवनोद्धूतः सुसूक्ष्मोपि महान् भवेत्।
तथा कर्मसमायुक्तं दैवं साधु विवर्धते॥

जिस प्रकार बहुत सूक्ष्म अग्नि भी वायु के संयोग से प्रबल हो जाती है उसी प्रकार कर्म के द्वारा भाग्य भी प्रबल होता है।

यथा तैलक्षयाद्दीपः प्रह्रासमुपगच्छति।
तथा कर्मक्षयाद्दैवं प्रह्रासमुपगच्छति॥

जैसे तेल समाप्त होने से दीपक बुझ जाता है उसी प्रकार भोगोपरान्त कर्म की समाप्ति पर भाग्य की भी समाप्ति हो जाती है।

विपुलमपि धनौघं प्राप्य भोगान् स्त्रियों वा
पुरुष इह न शक्तः कर्महीनो हि भोक्तुम्।
सुनिहितमपि चार्थं दैवतै रक्ष्यमाणम्
पुरुष इह महात्मा प्राप्नुते नित्ययुक्तः॥

आलसी अकर्मण्य मनुष्य बड़ी धनराशि, स्त्री अथवा नाना प्रकार के भोग के साधनों को प्राप्त भी कर जाय तो भी उसको नहीं भोग सकता है। उद्यमशील, पुरुषार्थी मनुष्य इस लोक में सब प्रकार के भोगों की प्राप्ति करता है और उसकी सहायता देव-गण भी करते हैं।

व्ययगुणमपि साधुं कर्मणा संश्रयन्ते
भवति मनुजलोकाद्देवलोको विशिष्टः।
बहुतरसुसमृध्या मानुषाणां गृहाणि
पितृवनभवनाभं दृश्यते चामराणाम्॥

सदाचारी एवं कर्मशील मनुष्य यदि निर्धन भी हो जाय और निर्धन हो जाने के कारण साधारण मनुष्य उसके यहां आना-जाना छोड़ दें तो भी देवतागण उसके घर में ही आश्रय लेते हैं।

धनधान्य से युक्त धनी पुरुषों के घर में यदि कर्मशीलता और सदाचार नहीं है तो देवताओं को प्रिय नहीं होते।

न च फलति विकर्मा जीवलोके न दैवं
व्यपनयति विमार्ग नास्ति दैवे प्रभुत्वं।
गुरुमिव कृतमर्ग्यं कर्म संयाति दैवं
नयति पुरुषकारः संचितस्तत्र तत्र॥

पुरुषार्थ विहीन मनुष्य इस लोक में कदापि नहीं फूलता फलता है। देव उसको कुमार्ग से पृथक् नहीं कर सकता। दैव कर्म का उसी प्रकार अनुगमन करता है जैसे शिष्य गुरु का। संचित शुभ कर्म ही मनुष्य को उन्नत बनाता है।

मनुष्य को उचित है कि वह सब समय सत्कर्म करता रहे। पुरुषार्थ करने से ही ज्ञान और अनुभव की वृद्धि होती है, उसीसे सुख की प्राप्ति होती है। सत्कर्म करनेवाले पुरुषार्थी मनुष्यों का ईश्वर सदा साथ देता है।

पुरुषार्थ करते रहने से ही आलस्य का नाश होता है। आलस्य ही मानवता का महान शत्रु है। जैसे शास्त्रकार लिखते हैं।

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थ महान् रिपुः।
नास्त्युद्यम समोबन्धुः कृत्वायं सुखमाव्रजेत्॥

ऐतरेय ब्राह्मण में महाराज हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहिताश्व को इन्द्रने बड़ा सुन्दर उपदेश दिया है जो यों है—

नाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम।
पापो नृषद्वरोजनः। इन्द्र इच्चरतः सखा।
चरैवेति चरैवेति चरैवेति ॥१॥

इन्द्र कहते हैं—रोहित, वृद्धों और ज्ञानी पुरुषोंसे हम सुनते हैं कि बिना कठिन परिश्रम के लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती। बेकार आलसी बैठा हुआ मनुष्य पापी होता है। परमात्मा, जो परम ऐश्वर्यशाली है बराबर चलते रहनेवाले अर्थात् सदा उद्योग करते रहनेवाले मनुष्य का ही मित्र है। अतएव मनुष्य को सदा कर्म करते रहना चाहिये। कभी निठल्ला नहीं बैठना चाहिये।

पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः॥
चरैवेति चरैवेति चरैवेति॥

परिश्रमी पुरुष के पाँव धन्य हैं, उसकी आत्मा सब प्रकार से विभूषित होती है। वह सारे शुभ फलों को प्राप्त कर उनका उपभोग करता है। उसके सारे दुर्गुण परिश्रमशीलता रूप अग्निमें जलकर नष्ट हो जाते हैं। अतएव चलते-चलो—सदा पुरुषार्थ करते रहो, कभी निठल्ले न बैठो।

अङ्गरेजी में एक कहावत है कि आलसी मनुष्य का मन शैतान का कारखाना है। यह अक्षरशः सत्य है। जो मनुष्य कोई काम करता होता है उसके हाथ-पाँव आदि इन्द्रियां उस

काम में लगी होती हैं, और मन के सहयोग के बिना इन्द्रियाँ कार्य कर ही नहीं सकतीं इसलिये मन उन इन्द्रियों को सहयोग देने में व्यस्त रहता है। आलसी मनुष्य की कर्मेन्द्रियां तो बेकार बैठी ही रहती हैं पर मन कभी भी बेकार नहीं रह सकता, वह सदा ही सक्रिय रहता है। यही उसका स्वभाव है। जब उसके सामने हम कोई शुभ कार्य का प्रयोग नहीं रक्खेंगे तो वह अपने आप कुछ न कुछ सोचेगा ही। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि विषयोंमें बड़ा आकर्षण है। उन्हीं के चिन्तन में मन लग जाता है। देखा भी जाता है कि अकर्मण्य लोग ही संसार में सारे अनर्थ करते हैं। व्यर्थ इधर उधर की बातें, परनिन्दा, हिंसा आदि वे ही करते हैं। काममें लगे हुए लोगोंको इन बातोंके लिये अवकाश ही कहां है ?

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य। चराति चरतो भगः॥
चरैवेति चरैवेति चरैवेति॥

बैठे हुए मनुष्य का ऐश्वर्य (भाग्य) बैठा हुआ रहता है, खड़े हुए का खड़ा रहता और सोये हुए का सो जाता है। अतएव बराबर पुरुषार्थ करता रहे, कभी कर्महीन न होवे।

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति। कृतं सम्पद्यते चरन्॥
चरैवेति चरैवेति चरैवेति॥

सोये हुए का नाम कलि है। अङ्गड़ाई लेता हुआ द्वापर है। उठकर खड़ा त्रेता है। चलता हुआ सत्ययुग है। अतएव चलते-चलो, आगे बढ़ो, आलस्य को छोड़ो।

लोगों की ऐसी धारणा है सत्ययुग में धर्म के चारों चरण थे, त्रेता में तीन चरण, द्वापर में दो चरण (अर्थात् आधा पुण्य आधा पाप) तथा कलियुगमें धर्म का एक चरण ही शेष रहा है। पापके तीन चरण हो गये हैं, अधर्म का प्राबल्य हो गया है। यथार्थ में ऐसा कोई समय नहीं होता। अच्छे और बुरे लोग सब समय में होते हैं। जिस युग में प्रह्लाद पैदा हुआ उसी युग में हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष भी हुए। राम के युग में ही लङ्का में रावण आदि राक्षसों का बाहुल्य था जिससे पृथिवी पर हाहाकार मचा हुआ था। आज हम कहीं भी किसी को बुरा काम करते देखते हैं तो कहने लगते हैं कि यह कलियुग का प्रभाव है, कलियुग में ऐसा होगा ही। ऐसा समझने से धर्म के आचरण में बाधा होती है। लोगोंके मन में हो जाता है कि धर्म कोई कलियुग में कर ही कैसे सकता है, जो हो रहा है वह अनिवार्य है, दैवी इच्छा है। यह बात नहीं है। आज भी जहाँ बुरे लोग हैं वहां बड़े-बड़े महापुरुष भी तो हैं। एक देश की अवस्था अवनत है तो दूसरे देशों में सुखसमृद्धि की भरमार है। यथार्थ में ऊपर लिखा हुआ ब्राह्मण वाक्य कलि आदि का अर्थ बतला रहा है। कर्मशील, उद्यमी पुरुषार्थी लोग इस कलियुग में भी सत्ययुग का निर्माण कर सकते हैं। अकर्मण्य मनुष्य ही कलियुग के अवतार हैं।

चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्॥
चरैवेति चरैवेति चरैवेति॥

चलती हुई ही मधुमक्खियाँ मधु प्राप्त करती हैं। पक्षिगण चलते हुए (उद्यमशीलता के द्वारा) ही सुन्दर स्वादिष्ट फल अपने भोजन के लिये प्राप्त करते हैं। सूर्य कभी आलस्य न कर नियमित रूप से जाड़ा, गर्मी, बरसात में अपने समय से निकल कर और आकाश में विचरण कर प्राणिमात्र को जीवन प्रदान करता है। इसी प्रकार कर्मपरायण निरालस्य मनुष्य संसार में मधु आदि सुन्दर भोग्य पदार्थ प्राप्त करते हैं, संसार के प्राणिमात्र का उपकार करने में समर्थ होते हैं। अतएव हमें पुरुषार्थ कभी न त्यागना चाहिये, सदा अविश्रान्तभाव से परिश्रम करते रहना चाहिये।

यज्ञ रूप प्रभु हमारे, भाव उज्ज्वल कीजिये।
छोड़ देवें छल कपट को, मानसिक बल दीजिये॥
वेद की बोलें ऋचाएँ, सत्य को धारण करें।
हर्ष में हों मग्न सारे, शोक सागर से तरें॥
अश्वमेध आदिक रचनाएँ, यज्ञपर उपकारको।
धर्म मर्यादा चलाकर, लाभ दें संसार को॥
नित्य श्रद्धा-भक्तिसे, यज्ञादि हम करते रहें।
रोग पीड़ित विश्वके, सन्ताप सब हरते रहें॥
कामना मिट जाय मनसे, पाप अत्याचारकी।
भावनाएँ पूर्ण होवे, यज्ञ से नर नारि की॥
लाभकारी हो हवन, हर जीवधारी के लिये।
वायु जल सर्वत्र हों, शुभ गंधको धारण किये॥

स्वार्थभाव मिटे हमारा, प्रेम पथ विस्तार हो।
इदं न ममका सार्थक प्रत्येकमें व्यवहार हो॥
हाथजोड़ झुकाय मस्तक, वन्दना हम कर रहे।
नाथ करुणारूप करुणा. आपकी सबपर रहे॥

कृषि (खेती) यज्ञ

कृषि-यज्ञ सर्वयज्ञों से महान् यज्ञ है। इसी यज्ञ से प्राणियों की उत्पत्ति व निर्वाह होता है क्योंकि अन्न के बिना प्राणी जीवित नहीं रह सकता।

सृष्टिका आधार भी कृषि ही है। देखिये भारतवर्ष में महान् सम्राट् राजा जनक स्वयम् खेती करते थे तथा हल जोतते थे। उनकी प्रजा में कोई भी मनुष्य आलसी व निकम्मा न था, सभी उद्योगी पुरुष थे। जिनका जीवन सरल व स्वच्छ था। बुद्धि अनन्त व अपार थी क्योंकि बुद्धि का विकास मधु-रस-युक्त अन्न में ही है। वे ऋतु ऋतुकाल में परिश्रम द्वारा दुग्ध युक्त अन्न पैदा करते थे तथा अपने बाल-बच्चों को कृषि द्वारा स्वावलम्बी बनने की शिक्षा देते थे।

पृथु राजाने भी स्वयं कृषि-कर्म द्वारा मधुर-रसवाले अन्न पैदा किये तथा अपनी प्रजा को यथेष्ट खिलाया ताकि उनकी प्रजा सुखी एवं बलिष्ठ रहे।

महामहिम महर्षि वशिष्ठजी भी कृषि करते थे तथा उससे यथेष्ट फल प्राप्त करते थे। पृथ्वी माता को कामधेनु नन्दिनी नाम से पुकारते थे क्योंकि हमारी पृथ्वी यथेष्ट फल देनेवाली है। अतः कामधेनु (पृथ्वी) सम्पूर्ण धन देनेवाली है। इससे वसुन्धरा नामसे पुकारी जाती है किन्तु वह धन उद्योग द्वारा प्राप्त होता है।

महर्षि कण्व की पुत्री शकुन्तला अपनी सखियों सहित कृषि-कर्म करती थीं। अपने पेड़ पौंधो को भ्रातृवत् स्नेह कर रक्षा करती थी। जितना प्रेम अपने पिता कण्व में न था उतना स्नेह पेड़-पौधों में था।

देखिये कृषि-कर्म का कितना प्रभाव था। नन्दजी भी खेती ही करते थे जिनका सम्पूर्ण जीवन इसी में आश्रित था तथा खेती द्वारा गोरस (अन्न) प्राप्त करते थे।

आज के सौ-दोसौ वर्ष पहले सभी गृहस्थ खेती करते थे तथा प्राकृतिक आहार उनको मिलता था। वे याचना किसी से भी नहीं करते थे। इस समय कृषि से विमुख होने से मनुष्यों की यह दशा हुई है कि वे उदर पूर्ति में भी पराधीन हो गये हैं तथा आगे क्या होगी भगवान् ही जाने।

इस यज्ञमें यजमान बीजवपन करने वाला होता है। जो कि हल चलाता है।

यजमान पहिले पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश पांचों तत्वों का आवाहन करता है, जैसे—

हे ! पृथ्वि ! त्वं स्थिरा भवाहं त्वयि बीजंवपामि ।

हे पृथ्वी ! तुम सावधान हो जिससे मैं बीजवपन करूं ।

हे जल । सहस्र धाराभिः वर्षतु येन बीजोत्पत्तिः स्यात् ।

हे जल ! तुम सहस्र धाराओं से वर्षो जिससे बीजोत्पत्ति हो ।

हे वायो ! त्वमत्रागच्छ मदीयेऽन्ने प्राणंदेहि यतस्त्वं प्राण दातासि ।

हे वायु ! तुम यहां आवो और मेरे अन्नको प्राण दो क्योंकि तुम प्राण देनेवाले हो ।

हे तेजः ! त्वमपि प्रकाशं कुरु येनान्नस्यवर्धनं सम्यक् तथा संभवेत् ।

हे तेज ! तुम प्रकाश करो जिससे मेरा अन्न बढ़ सके ।

इस प्रकार आवाहन कर यजमान अपने बैलों से बीजोंका वपन करता है । बीजों के बोने से ही अन्न की उत्पत्ति होती है तथा पांचों तत्व उसकी रक्षा करते हैं । अन्न से ही सम्पूर्ण सृष्टि की रचना एवं पालन-पोषण होता है । जैसे—

श्रीमद्भगवत्गीतामें लिखते हैं :—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्न संभवः,
यज्ञाद्भवन्ति पर्जन्यो यज्ञ कर्म समुद्भवः ।
कर्मब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वं गतं ब्रह्म नित्य यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

अन्न से प्राणियों की उत्पत्ति होती है। अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है। वर्षा यज्ञ निमित्त होती है। यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है। कर्म ब्रह्म से उत्पन्न होता है। इसलिये सर्वगत ब्रह्म-यज्ञ में ही प्रतिष्ठित है। अतः कृषियज्ञ हमको ऋतु-ऋतु कालमें जरूर करना चाहिये। जिसके आश्रय से पशु-पक्षी कीट पतङ्गादि का निर्वाह हो।

हम को भी मिष्ट प्राकृतिक आहार मिल सके तथा हम सुगमता से स्वावलम्बी बन इह लौकिक तथा पारलौकिक क्रियाओं की पूर्ति करते हुए सुख पूर्वक जीवन व्यतीत कर सकें क्योंकि कृषि सर्ववर्णों का सामान्य धर्म है। वृद्धहारीत संहितायां चतुर्थोऽध्याय।

कृषिस्तु सर्व वर्णानां सामान्यो धर्म उच्यते।

सभी वर्णों के लिये खेती करना समान धर्म कहा गया है। चारों वर्णों के लिये पृथक् पृथक् जो धर्म बताये गये हैं वे विशेष धर्म हैं। खेती करना तो मनुष्य मात्रका कर्त्तव्य है। आगे भी कहते हैं :—

कृषि र्वृत्तिः पशु पाल्यं सर्वेषां न निषिध्यते।
स्तेय परस्त्री हरणं हिंसा कुहक कौशिके॥

खेती करके अपना भरण-पोषण करना और पशुओं को (निःस्वार्थ भावसे) पालना मनुष्य मात्र के लिये निषिद्ध नहीं है। माया (कामादि)के वशीभूत हो के चोरी करना, (दूसरे का द्रव्य हरण करना अथवा दूसरे के द्रव्य पर मन चलाना और

दूसरे का हक लेना) पर स्त्री हरण करना अथवा परायी स्त्री पर मन चलाना, हिंसा प्राणिमात्र पर आघात करना अथवा प्राणि मात्रकी आत्मा दुखाना मनुष्य मात्र के लिये निषिद्ध है। ऐसे कर्मों का परिणाम अहितकर (नाशकारी) है।

शुक्ल यजुर्वेद २९।३५

उपाव सृजत्मन्या समञ्जन् देवानां पाथऋतुथा हवींषि।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन॥

हे होत ! त्मन्या आत्मन्या हवींषि ऋतुथाऋतौ ऋतौ यज्ञकाले त्वमुपावसृज देहि। किंकुर्वन् देवानां पाथ हविः मधुना रसेन घृतेन अन्नेन समञ्जन् संभ्रक्षयन्। देवानामित्युक्तं तानाह वनस्पति-यूपः समिता देवः अग्निः एते त्रयो हव्यं होत्रा संमृज्य दत्तं स्वदन्तु भक्षयन्तु। आत्मन् शब्दस्य विभक्तेर्यादेशे मन्त्रेष्वाऽपादे रात्म न्निति आकार लोपः।

हे होतः ! देवताओं के हवि को मधुररस से युक्त करते हुए हमको ऋतु ऋतुकाल में मधुर रसवाला अन्न प्रदान करो। तथा अग्नि संमिता वनस्पति तुम तीनों ही होतासे दिये हुए अन्नको भक्षण करो।

अश्वमेध यज्ञ, गोमेध यज्ञ भी कृषियज्ञ के ही पर्यायवाची नाम हैं। अश्व-शब्द और गो-शब्द व्यापक शब्द हैं।

आहार

मानव शरीररूपी यन्त्र पञ्चकोशात्मक (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय) है।

सबसे प्रथम कोश अन्नमय है। इसको ठीक रखनेसे अग्रिम चार कोश ठीक रह सकते हैं। मानव संस्कृतिका विकास अन्नमय कोश पर निर्भर है।

तै० उ०—"अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्" "अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति" अन्न ही ब्रह्म है, अन्नसे ही प्राणियों की उत्पत्ति अन्न पर ही जीवन और आखिर अन्नमें सब समा जाते हैं।

अदन क्रियासे अन्न शब्द निकलता है। भक्ष्य, चर्व्य, लेह्य, पेय, चोष्य—ये सब अदन क्रियासे आते हैं। 'अन्नं ब्रह्मेति' का तात्पर्य मनुष्य-जीवन के लिये जो परम पुरुषार्थ गम्य ब्रह्मज्ञान (मोक्ष) है वह अन्न पर निर्भर है। अतः छान्दोग्य उपनिषद् में आता है :—

अन्नमशितं त्रेधाविधीयते, तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं यो अणिष्ठस्तन्मनः—अन्न भोजन करने पर पेटमें जाकर परिपक्व होता है। उस अन्नका स्थूल अंश मलमूत्र द्वारा निकलता है। मध्यम भागका मांस

रुधिर बनता है। सूक्ष्म अंश जो अन्न में है उससे मन की मन की स्फुरणा बनती है। जीवन का सारा खेल मन की क्रिया पर निर्भर है।

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'

मनुष्य का मन ही दुःख और सुख में रखनेवाला है। वेदों में आया है—"मनसेवेदमाप्राव्यम्" यह भगवान् मन से ही मिलेगा। सौन्दर्य लहरीमें आया है—"मृदितमलमायेन मनसा" जिन महानुभावों के मनके मैल दूर हो गये होते हैं वे भगवानको देख सकते हैं। यजुमें आया "तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु" मेरे मनमें कल्याणके सङ्कल्प हों। इतने से सरलतासे समझा जा सकता है—"जैसा अन्न वैसा मन" जिस प्रकारके अन्न मनुष्य भक्षण करेगा वैसा ही उसका मन होगा। मनुष्यताका सौभाग्य प्राप्त करनेके लिये मनकी निर्मलता आधेय है। सृष्टिमें सब वस्तु हैं; यह मनुष्यकी बुद्धिमता है कि उनमेंसे अपने उपयोग को वस्तुओं को चुन-चुनकर इकट्ठी कर ले। आहार-बिहार-इन्द्रियों के द्वारा जो रूप रस आदि बाह्य शक्ति ग्रहणकी जाती है उसे आहार कहते हैं। इन्द्रियों द्वारा भोगात्मक रूपसे भीतरी शक्तिको किसी इन्द्रिय द्वारा बाहर फेंकनेको विहार कहते हैं। आहार कितना है और विहार कितना होना चाहिये, इस तत्त्वको जाननेसे मनुष्य अपने जीवनका क्रम ठीक बना सकता है। विहार अधिक होनेसे अल्पायु निर्बल; आहार विहारकी समता सुख। गीतामें इस मार्मिक अंशको इस प्रकार कहा है—"युक्ताहारविहारस्य +"

÷ · + । योगी भवति दुःखहा ॥" आहार-विहारकी समतासे दुःखसे छुटकारा होकर भगवानसे मिलनेका योग हो जाता है।

"कलावन्नगताः प्राणः" कलियुगमें जीवन-मरण अन्नपर ही निर्भर है। कृतयुगमें अस्थिमें प्राण रहते थे तदन्तर मांस-रुधिरमें। कलियुगमें प्राण अन्नमें हैं। इसलिये दीर्घायु प्राप्त करने वालोंको सबसे प्रथम खाने योग्य कौन सा अन्न है, इसपर गम्भीर विचार करना चाहिये।

यदन्नः पुरुषो लोके, तदन्ना तस्य देवता।

जैसा अन्न मनुष्य खाता है उसके देवता को भी वैसा ही अन्न मिलता है। अर्थात् मनुष्यमें दैवी शक्तिका उदय भी अन्नसे ही होता है। और (दैव, भाग्यको भी कहते हैं भाग्यशक्तिका विकास भी अन्नपर निर्भर है।) शुद्ध पथ्य हित अन्न भी भाव-दुष्ट संस्कार-दुष्ट होनेसे अशुद्ध, अवश्य अहितकारी हो जाता है। भाव दुष्ट जिस अन्नमें दुष्ट भावनाएं याने (बनानेवाले या देखनेवाले की भावना शुद्ध रहनी चाहिये) तथा संसर्ग दुष्ट—जिस अन्नका संसर्ग जिसके साथ होना अनुचित है उसके साथ मिलने से वह दुष्ट हो जाता है। जैसे पापी दुराचारी-रजस्वलादि स्त्रियोंके संसर्गसे या अशौचसे। क्रिया दुष्ट—जिस विधिसे अन्न पकाना है उस विधिसे न पकाना—उसको क्रिया दुष्ट कहते हैं, इसलिये मानवको दीर्घ आरोग्यता की आकांक्षा रखनेवालेको भोजनमें सब प्रकार की सावधानी रखनी चाहिये।

"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतः"

इस जीवात्माको कर्मानुसार अनेक योनियोंमें भोग भोगनेके अनन्तर ही मनुष्य शरीर प्राप्त होता है। अतः ऐसे दुर्लभ मनुष्य शरीर की रक्षा करना तथा सार्थक बनाना हमारा कर्त्तव्य है। यह कर्त्तव्य प्रधानतः आहार पर ही अवलम्बित है। क्योंकि आहार की शुद्धिसे मन (ज्ञान) की शुद्धि होती है और ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।

शरीरमूलमन्नं हि धर्म्ममूलमिदं वपुः।
चित्तशुद्धौ विशेषेण धर्म्म एव हि कारणम्॥
भक्तिर्ज्ञानं च वैराग्यं शुद्धचित्तस्य जायते।
सर्वार्थसाधनं तस्मात् शरीरमिदमुच्यते॥
पुनर्ग्रामं पुनर्वित्तं पुनः क्षेत्रं पुनर्गृहम्।
पुनः शुभाशुभं कर्म न शरीरं पुनः पुनः॥
शरीररक्षणायासः कर्त्तव्यः सर्वथा बुधैः।
न हीच्छन्ति तनुत्यागमपि कुष्ठादिरोगिणः॥
तद् गोपितं स्याद् धर्मार्थं धर्मो ज्ञानार्थमेव च।
ज्ञानं तु ध्यानयोगार्थमचिरात्तेन मुच्यते॥

—शरीरकी रक्षाके लिये अन्न ही प्रधान है। धर्मकी रक्षाके लिये शरीर की आवश्यकता है। धर्मसे मन शुद्ध होता है। शुद्ध मनसे भक्ति, ज्ञान और वैराग्यकी प्राप्ति होती है। अतः सम्पूर्ण अर्थ नीरोग शरीर से ही प्राप्त होते हैं और वह नीरोगता शुद्ध आहार पर ही अवलम्बित है।

उजड़ा हुआ गांव फिर बसाया जा सकता है, गये हुए धन क्षेत्र और ग्राम भी फिरसे प्राप्त हो सकते हैं। शरीरसे शुभाशुभ कर्म तो होते ही रहते हैं परन्तु यह मनुष्य-शरीर बार-बार प्राप्त होना दुर्लभ है। कुष्टादि रोगों से पीड़ित मनुष्य भी शरीर छोड़ने की इच्छा नहीं करता। ऐसे दुर्लभ मनुष्य-शरीर को व्यसनों द्वारा बर्बाद करना महान् अज्ञान है। पुरुषार्थ एवं ज्ञान सहित उसे सत्कर्मों द्वारा) धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति करके सार्थक बनाना हमारा प्रधान कर्त्तव्य है। ज्ञान-युक्त मन ही ध्यान और योग में सम्यक् प्रकार से प्रविष्ट होने का अधिकारी है। ज्ञान प्राप्त होने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है। जैसा कि श्रुति कहती है—"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"—ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं होता। मानव जीवन की सार्थकता मोक्ष की प्राप्ति में ही है। उपरोक्त प्रमाणोंसे यह निर्विवाद सिद्ध है कि धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी प्राप्ति प्रधानतः शुद्ध आहार पर निर्भर है।

गीता के १७ वें अध्याय में आहारके तीन विभाग-सात्विक, राजस और तामस भेद से किये गये हैं। उन श्लोकों एवं उनके अर्थों पर गम्भीरता पूर्वक विचार कर तदनुकूल अपनी भोजन-व्यवस्था बनाने से मनुष्य मात्र का बड़ा हित होगा, इसमें लेश मात्र भी सन्देह नहीं। सात्त्विक, राजस और तामस आहार विभेद भगवान् श्रीकृष्ण यों बताते हैं :—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥

कट्वम्ल-लवणात्युष्ण-तीक्ष्ण-रुक्ष विदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

रस्याः—मधुर, कषाय, तिक्त, कटु, अम्ल और लवण—ये छः रस हैं। इनमें तीन—कटु, अम्ल और लवण राजस आहारमें कहे गये हैं। शेष तीन-मधुर, कषाय और तिक्त सात्विक आहार में लिये जाते हैं। यहां इन तीनों रसोंका ग्रहण 'रस्याः' शब्दसे होता है। इन तीनों रसोंसे युक्त प्राकृतिक आहार ही सात्त्विक है। तिक्त रस प्रधान पदार्थ आहार में कम ही पाये जाते हैं। इस रस का अधिक व्यवहार औषध में ही होता है। चना, मोठ, अरहर आदि दलहन पदार्थ कषाय रस युक्त होते हैं और इनमें "टैनिक" एसिड होती है। कषाय रस युक्त वस्तुओं में स्निग्धता कम होती है। इसलिये ये अंशतः वातवर्द्धक होते हैं। कषाय रस वाली वस्तुओं का उपयोग मधुर रसके संयोगसे होता है। अकेले इनका उपयोग प्रायः कम होता है। कषाय और तिक्त रस मधुर रसके सहयोगी हैं। उपरोक्त तीनों रसोंमें मधुर रस ही प्रधान है, कारण मधुर रस में पौष्टिक शक्ति विशेष है।

चावल, गेहूं, बाजरा, मक्का, ज्वार आदि अन्न तथा सकरकन्द, आलू, जिमिकन्द, खजूर, दाख, बादाम, पिस्ता, नारियल, अखरोट, नौजा, मुंगफली, ऊख, अनार, आम आदि कन्द-मूल फल-मेवा-तेलहन प्रकृतिसे मधुर रसयुक्त पदार्थ अपने लिये हित-

कर हैं। मधुर रस प्रधान द्रव्योंका उपयोग अन्य रसोंके बिना भी होता है।

स्निग्धः—प्राकृतिक स्नेहयुक्त मधुर रस प्रधान आहार पदार्थ-जैसे, जव, गेहूं खेतमें पककर तैयार होता है उस समय उसमें प्राकृतिक स्नेह, मधुर रस, स्वाद कोमलता और जीवन-शक्ति पूर्ण रूपमें रहती है। इसके पश्चात् जैसे-जसे समय व्यतीत होता जायगा वैसे-वैसे रूक्षता बढ़ती जायगी। वही गेहूं स्नेह कम होने से वातवर्द्धक हो जायगा। तदन्तर संवत्सरातीत होने पर रस हीन हो जायगा और स्वाद भी कम हो जायगा। ऐसी अवस्थामें खाया हुआ आहार हमारे लिये अहितकर है। इसी तरह प्रकृति देवीने सम्पूर्ण प्राकृतिक आहार पदार्थों की व्यवस्था प्रायः समान ही बनायी है। आहार पदार्थ—कन्द, मूल, फल, अन्न और तेलहन, जो स्नेह युक्त हैं, जैसे—चावल, गेहूं, जौ, मक्का, ज्वार, बाजरा आदि अन्नोंमें सफेद दूध तथा स्नेह है, पौष्टिक शक्ति एवं स्वाद है। चना, मूंग, अरहर आदि दलहन पदार्थ कषाय रस युक्त पौष्टिक हैं। सकरकन्द, आलू, जिमिकन्द आदि कन्द एवं बादाम, पिस्ता, नौजा, अखरोट, नारियल, मुंगफली आदि तेलहन पदार्थ स्नेह युक्त हैं तथा पौष्टिक हैं। खजूर, दाख, आम आदि फल स्निग्ध एवं पौष्टिक हैं। उपरोक्त सभी पदार्थ जब खेतमें पककर तैयार होते हैं वही उनकी पूर्ण स्निग्ध अवस्था है। हमारा भारतवर्ष ही ऐसा देश है जहां पृथ्वी-माता से सभी ऋतुओंमें हमें स्निग्ध-आहार प्राप्त होता रहता है। जैसे

किसी समय में चावल, कभी गेहूं, कभी बाजरा-ज्वार आदि कभी फल, कभी मेवा आदि पदार्थ बराबर ताजा स्नेह युक्त मिलते रहते हैं। स्निग्ध आहार की बदौलत ही हमारा भारतवर्ष सम्पूर्ण देशों का शिरोमणि रहा है। परन्तु दुर्भाग्यवश थोड़े दिनों से हमने प्राकृतिक आहार को छोड़ कर कृत्रिम एवं अप्राकृतिक आहार को अपना लिया है, इसलिये हमारा भारतवर्ष अन्य देशों का अनुगामी बन गया है।

गांव में बसनेवाले एवं किसानों को यदि वे ज्ञानपूर्वक चेष्टा करते रहें तो स्निग्धाहार हरसमय प्राप्त होता रहेगा। स्निग्धाहारका व्यवहार करना उनके लिये सहज है। आवश्यकता केवल ज्ञान एवं उद्योगकी है। स्निग्धाहारको कठिनाई नागरिकों के सामने अवश्य है पर वह भी ज्ञान एवं उद्योगसे हल हो सकती है। प्रत्येक नागरिक जब ध्यान देगा कि ऊपर बताये स्निग्ध एवं रस-युक्त आहार ही उसके व्यवहारकी चीज है, उससे ही उसका जीवन कार्यक्षम रह सकता है, तो तदर्थ वह चेष्टा करेगा। देश-कालके अनुसार नये अन्न एवं ताजे फल प्राप्त करनेका ध्यान रखनेसे वह उसे प्राप्त होता रहेगा। कृत्रिम एवं अप्राकृतिक आहारसे बचनेका सदा ध्यान रखना चाहिये। कृत्रिम एवं अप्राकृतिक आहार मनुष्यको अकाल मृत्युकी ओर ले जाता है. इसे सदा ध्यानमें रखना चाहिये।

राजनिघण्टु में जो द्रव्यों के गुण लिखे हैं यहां उनमें से कुछ द्रव्यों के गुण लिखे जाते हैं—

श्रीहिगौरो मधुरशिशिरः पित्तहारी कषायः ;
स्निग्धो वृष्यः कृमिकफहरस्तापरक्तापहश्च ।
पुष्टिं दत्ते श्रमवमनकृद् वीर्यवृद्धिं विधत्ते .
रुच्योऽत्यन्तं जनयति मुदं वातकृन्मेचकोऽन्यः ॥

—सफेद चावल, मधुर, कषाय, रस युक्त, शीतल, पित्तशामक स्निग्ध, वस्ति शोधक, कृमि एवं कफ-नाशक, रक्त की बढ़ी हुई गर्मीको शान्त करनेवाला, अत्यन्त रुचि पैदा करनेवाला और चित्त को प्रसन्नता देनेवाला पौष्टिक एवं थकावट दूर करनेवाला वीर्यवर्द्धक होता है। अन्य श्यामवर्ण (कृष्ण धारीदार) चावल वातवर्द्धक होता है।

आयुर्वेद के द्रव्यगुण शास्त्र में चावलों की अनेक जातियाँ बतायी गई हैं और गुण भी सबों के विशद रूपसे बताये गये हैं। भोजनमें चावलका व्यवहार मांडयुक्त किया जाय तो उसका सम्पूर्ण गुण हमें प्राप्त होगा। अतः भात बनाते समय मांड को नहीं निकालना चाहिये, केवल फेन (झाग) निकाल देना चाहिये। ऐसा होने से जिस भातका हम व्यवहार करेंगे वह सम्पूर्ण गुणों से युक्त होगा। मांड का गुण आयुर्वेद में इस प्रकार वर्णित है—

क्षुद्बोधनो वस्तिविशोधनश्च प्राणप्रदः शोणितवर्धनश्च।
ज्वरापहारी कफपित्तहन्ता वायुं जयेदष्टगुणो हि मण्डः ॥

—भूख बढ़ाता, मूत्राधार को साफ करता, प्राणशक्ति देता, खून बढ़ाता, ज्वर को हटाता, बढ़े कफ पित्तको हटाता और वात-

दोषको शान्त करता है। इस प्रकार मांडमें आठ गुण हैं। चावल से मांड निकाल कर हमें उक्त गुणोंसे वञ्चित नहीं होना चाहिये।

गोधूमो बहुदुग्ध स्यादपूपो म्लेच्छभोजनः।
यवनो निस्तुषः क्षीरी रसालः सुमनश्च सः॥
गो धूमः स्निग्ध-मधुरो वातघ्नः पित्तदाहकृत्।
गुरुः श्लेष्मामदो बल्यो रुचिरो वीर्यवर्द्धनः॥

—गेहूंमें प्रकृति से ही बहुत दूध होता है, इसी लिये 'बहु दुग्ध' उसका एक नाम है। गेहूं को पीसकर रोटी एवं दलकर दलिया बनाया जाता है। यह गेहूं तुप रहित है। दूध प्रविष्ट होनेसे जो दाना बनता है वह प्राकृत-दुग्ध युक्त 'खीर' है। वह कोमल, स्वादु, एवं पौष्टिक है। ऐसा आहार मनको प्रसन्न करनेवाला एवं सुखद है। [इस तरह जितने भी दूध एवं रस वाले पदार्थ हैं उनमें दूध प्रविष्ट होनेसे ही खीर बनती है। उसे ही 'क्षीरी' कहा गया है। उसी अवस्थावाली खीर ही सात्त्विक है।] हरेक अन्नकी क्षीरी अवस्था भरपूर जवानीकी अवस्था है। उसमें स्वाद, कोमलता, जीवनशक्ति पूर्णरूपसे व्याप्त रहती है, फलतः भोजन के लिये उसी अवस्था में हरेक पदार्थको काट लेना चाहिये, क्योंकि उसके बाद खेतमें खड़ा रहनेसे पृथ्वी रसको खींचने लगती है, और गुदा पकनेसे दाना कड़ा हो जाता है। स्वाद, कोमलता कम हो जाती है। अन्नकी यह अवस्था बीजके लिये ही उपयोगी है। जैसे—जब चावल पकाते हैं तो यह ध्यान

रखना पड़ता है कि चावल पका या नहीं। जब वह ठीक पक जाता है तब उसे अग्निपर से उसी वक्त हटालेते हैं। पकने के बाद अगर उन्हें अग्निपर और रहने दिया जायगा तो वह गुणहीन हो जायगा। इसी प्रकार सूर्य्य की अग्नि से पकनेवाले अन्न का भी ख्याल रखना होगा, कारण अन्न में (विशेष पकने से) स्वाद तथा गुण कम हो जाता है तथा कड़ा हो जाता है। काटने के बाद भी उसको पूरी सावधानी से रखना चाहिये। सावधानी रखनेपर स्निग्धता एवं स्वादुपन अधिक दिनों तक स्थिर रहेगा। खोली वालेको खोलीमें ही रखा जावे, टोपीवालेको टोपीमें, सीटेवालेको सीटेमें, फलीवालेको फलीमें, रखना चाहिये। जैसे-जैसे जरूरत हो वैसे-वैसे ही उसको निकाल-कर देश-कालके अनुसार पकाकर अथवा भिगोकर उपयोगमें लाना हमारे लिये श्रेयस्कर है।

गेहूं स्निग्ध, मधुर, वातनाशक, उष्णताप्रद, भारी (स्थिर रहनेवाला) कफ, शमक, बलप्रद, स्वादु और वीर्य्यवर्द्धक हैं। गेहूं एवं चावलमें प्रकृतिसे पूर्ण पौष्टिक तत्त्व—विटामिन ए० बी० सी० डी० स्थित हैं। सफेद दूधवाले दूसरे अन्नों की बनिस्पत चावल एवं गेहूं में स्निग्धता तथा रस अधिक है, इसी लिये ही ये औरों की अपेक्षा अधिक पौष्टिक हैं।

दाहघ्नी मधुराम्लपित्तशमनी तृष्णार्तिदोषापहा,
शीता श्वासकफश्रमोदयहरा सन्तर्पणी पुष्टिदा।

वह्नेर्मान्द्यकरी गुरुर्विषहरा हृद्या च दत्ते बलं,
स्निग्धा वीर्यविवर्द्धनी च कथिता पिण्डाख्यखर्जूरिका ॥

—पिण्ड खजूर दाहको दूर करता, मधुर, अम्लपित्तनाशक, प्यास शान्त करनेवाला, ठण्ढा, श्वास-कफ-थकावट दूर करता, तृप्तिकर, पौष्टिक, ज्यादा खानेसे अग्निमान्द्य उत्पन्न करनेवाला, भारी, (स्थिर) विष दोष शमक, हृदय के लिये हितकर, बलप्रद, स्निग्ध और वीर्य बढ़ानेवाला होता है।

शीता पित्तास्रदोषं दमयति मधुरा स्निग्धपाकातिरुच्या,
चक्षुष्या श्वासकास-श्रम-वमिशमनी शोफतृष्णाज्वरघ्नी ।
दाहाध्मानभ्रमादीनपनयति परा तर्पणी पक्वशुष्का,
द्राक्षा सुक्षीणवीर्यानपि मदनकला-केलिदक्षान् विधत्ते।

—पककर सूखी हुई दाख शीतल, रक्तपित्त नाशक, मधुर, पाकमें चिकनी, अत्यन्त रुचिकर आँखोंको हितकर, श्वास-कास-थकावट को शान्त करनेवाली, सूजन, प्यास एवं ज्वरको शान्त करती, दाह, पेटके अफरा, चक्कर आदि को दूर भगाती, अत्यन्त तृप्तिकर और जिन पुरुषोंका शुक्र खत्म हो गया होता है उन्हें भी काम-क्षम बनाती है।

नारिकेलो गुरुः स्निग्धः शीतः पित्तविनाशनः ।
अर्द्धपक्वस्तृषाशोषशमनो दुर्जरः परः ॥

—नारियल भारी (स्थिर), चिकना, ठण्ढा और पित्त-नाशक है। अध पके नारियलका जल प्यास एवं मूत्र प्रणाली-

गतशोषको हटाता है। पूरा पका नारियल बहुत देरसे हजम होता है।

मधुरं मधुनारिकेलमुक्तं शिशिरं दाहतृषार्तिपित्तहारि।
बलपुष्टिकरं च कान्तिमत्या कुरुते वीर्य्यविवर्द्धनं च रुच्यम्॥

मीठा नारियल (पूरा पका हुआ) मधुर, ठण्डा, दाह, प्यास, पीड़ा एवं पित्तको शान्त करता, बलप्रद, पौष्टिक, उत्तम कान्ति को बढ़ाता, वीर्यवर्द्धक और रुचिवर्द्धक है।

आक्षोटो मधुरो बल्यः स्निग्धोष्णो वातपित्तजित्।
रक्तदोषप्रशमनः शीतलः कफकोपनः॥

—अखरोट मीठा, बलप्रद, चिकना, गर्म, वात-पित्त शमक, रक्त सम्बन्धी दोषोंका नाशक, ठण्डा और कफको कुपित करता है।

स्थिरा:—प्राकृतिक रस स्नेह युक्त जो उपरोक्त आहार द्रव्य पेटमें जाकर स्थिर रहते हैं, पुनः उनका रस, एवं रक्त बनकर धमनियों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में भ्रमण करता हुआ पुष्टि करता है, वही स्थिर आहार है। जिन आहार द्रव्यों में स्नेह कम है, जलकी ही विशेषमात्रा है, वे पेट में जाकर स्थिर नहीं रहते,—जैसे-ककड़ी, तरबूज, खरबूजा, सफेद जामुन आदि फलों तथा विशेष जलीय मात्रा वाले शाकादिकों से पेट भरने पर भी पेट खाली ही रह जाता है। क्योंकि वे पेशाब मार्गसे शीघ्र ही निकल जाते हैं। उनसे शरीरको कोई लाभ नहीं होता—परिणाम में कुछ वायु पैदा करते हैं। अवशेष—सूखने पर

छिलका और बीज मात्र ही रहते हैं—स्नेह कम होने के कारण वे आहार के रूपमें न होकर पथ्य के रूपमें ही हैं।

हृद्याः—'रस्याः' 'स्निग्धा' 'स्थिरा' आहार के सेवन करने से हृदय को प्रसन्नता एवं शान्ति प्राप्त होती है। शान्ति प्राप्त होने पर आयु की वृद्धि ; आयुकी वृद्धि होनेपर सत्त्व (ज्ञान) की वृद्धि, ज्ञानकी वृद्धि होने पर बल की वृद्धि ; तथा बल प्राप्त होने पर आरोग्यता की वृद्धि एवं आरोग्यता प्राप्त होने पर सुखकी वृद्धि, सुख प्राप्त होनेपर प्राणियों में सद्‌भावना तथा परमात्मा से प्रीति होगी और परमात्मासे प्रेम होनेपर ही मोक्ष प्राप्त होगा। ये सभी गुण प्रधानतः प्राकृतिक रस्याः स्निग्धा स्थिरा आहार पर अवलम्बित हैं।

रुक्षाः—प्राकृतिक स्नेह समयानुसार जिन-जिन पदार्थों से जैसे-जैसे कम होता जाता है वैसे-वैसे ही वह पदार्थ रूक्ष हो जाता है। हरेक पदार्थमें जो स्नेह है, वह उस पदार्थ की जीवन शक्ति है। स्नेह की कमी से वे पदार्थ शनैः शनैः रुक्ष होते जाते हैं। रुक्ष हो जाने से वे वायुको पैदा करते हैं। इस तरह के पदार्थोंका सेवन करनेवालोंको वातशमनार्थ स्नेह (तैल अथवा कटु, अम्ल, लवण, एवं तीक्ष्ण, उष्ण गुणवाले पदार्थोंकी भी आवश्यकता रहती है। अन्यथा वह भोजन पेटमें नाना प्रकार के वातज रोगों को उत्पन्न करता है। इसलिये रूक्ष आहार के साथ इनका देश, काल, ऋतु, अवस्था के अनुसार सेवन करना चाहिये।

जिन देशों में वर्षा अधिक होती है, वे देश भी वात प्रधान ही होते हैं। ऐसे देशोंमें रहने वालों को भी प्राकृतिक स्नेह रहित अन्न के साथ वातशमनार्थ स्नेह (तैल) सेवन करना चाहिये, तथा चर्म रोगोंसे रक्षा के लिये प्रतिदिन मालिश भी करना जरूरी है। कारण, हमेशा तैलके लगानेसे ऊपरी वायु रोम छिद्रों में प्रविष्ट नहीं हो सकती, तथा भीतरी अशुद्ध वायु निकलती रहती है। खास तौर से तैल में उष्णता एवं स्नेह है। इसी उष्णता एवं स्निग्धता से वायु शमन होती है। तैलके विषय में हमारा आयुर्वेद भी यही कहता है—'तैलं वातहराणां श्रेष्ठम्' वातनाशक द्रव्यों में तैल प्रधान है। अन्यत्र कृशानां बृंहणायालं स्थूलानां कर्शनाय च। बद्धविट्कं कृमिघ्नं च संस्कारात्त्रय-दोषजित्।' तैल में यह प्रधान गुण है कि वह स्थूल मनुष्यों को बढ़ी हुई चर्बी को नष्ट करके कृश बनाता है तथा कृश मनुष्यों के शरीर में सूक्ष्म चर्बी बनाकर पुष्ट करता है। पतले मलका बन्धन करने वाला उदर कृमियों को नष्ट करनेवाला तथा संस्कार करने से तीनों दोषों का शमन करनेवाला है।

कटु, अम्ल, लवण रसवाले एवं उष्ण-तीक्ष्ण गुण प्रधान द्रव्य रूक्षके सहयोगी हैं। रूक्षाहारके साथ इनका उपयोग करनेसे ये रूक्षगत दोषोंको दूर करते हैं।

उष्ण :—इसी प्रकार उष्ण गुणसे वायुका शमन तो होता ही है साथ ही उसमें यह भी विशेष शक्ति है कि वह जलके संयोगसे हरेक पदार्थके विकारको नष्ट करता है; जैसे दाल, चावल,

दलिया आदि अग्निपर पकाते समय, अग्निके उष्ण गुणसे ही उन पदार्थोंके विकारोंको फेन (झाग) के रूपमें बाहर निकालता है। जब तक उस पदार्थकी विकृति पूर्णतया बाहर नहीं निकलेगी, तबतक प्रकृतिदेवी उस विकारको निकालने के लिये बराबर उफान देती रहेगी। जब सम्पूर्ण विकार निकल जायेगा तब ऊफान स्वयं ही रुक जायगा। इससे यह स्पष्ट है, कि उसके अन्दर झाग रहना स्वास्थ्यके लिये हानिकारक है। अतः यह ध्यान रखना चाहिये कि हरेक पदार्थका पाक करते समय सम्पूर्ण झागोंको निकाल देना चाहिये। और भी जसे चीनी साफ करते समय जब तक झाग आते हैं तबतक उनको निकालना मैलको दूर करना है, सम्पूर्ण मैलके निकलने पर ही चीनी स्वच्छ होती है। इसी तरह सम्पूर्ण पदार्थ विकार (मैल) के निकलने पर ही स्वच्छ होते हैं। ऐसे पदार्थोंका सेवन अपने लिये लाभदायक है। जब तक मनुष्यकी युवावस्था रहती है, तब तक उसके शरीरमें रक्तकी उष्णता भी सम्यक प्रकारसे रहती है, अतः उसको ऊपरी उष्णताकी आवश्यकता नहीं रहती। प्रायः युवावस्था बीतनेपर वृद्धावस्थामें ही उष्णता कम होनेपर मकरध्वज वसन्त-मालती आदि दवाओंका सेवन करके उष्णता बनानी पड़ती है। इसी तरह अन्नमें जब तक प्राकृतिक उष्णता है तब तक ऊपरी रसोंको मिलानेकी कोई जरूरत नहीं क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थोंमें सभी रस प्रकृतिसे ही मिलाये हुए हैं। समय पाकर जब वह रूक्ष हो जायगा

तभी उसके साथ अन्य रसोंको मिलानेकी आवश्यकता होगी।

कटु मिर्चादि, अम्ल निम्बू आदि तथा लवणादि आवश्यकतानुसार द्रव पदार्थोंके साथ सेवन किया जा सकता है, क्योंकि ये भी वायुनाशक हैं। इनसे मिले पदार्थोंको समयानुसार जैसे उचित हो वैसे एक प्रहरके भीतर ही सेवन करना चाहिये। यदि किसी पदार्थको अधिक समय तक रखनेकी जरूरत हो तब (तीक्ष्ण) तिक्त रसवाले जैसे—मिर्च, राई, सोंठ आदिको मिलाने से वे अधिक समय तक विकृत नहीं हो सकते। यह तीक्ष्ण गुण भी वातनाशक है। और जितने भी जलीय मात्रावाले पदार्थ हैं और जिनको पहिले वातकारक बताया है उनमें भी तीक्ष्ण गुणके मिश्रणकी आवश्यकता है। और भी जैसे निम्बू, मिर्च, आचार आदि तीक्ष्ण रसके प्रभाव से ही अधिक काल पर्यन्त टिके रहते हैं। तिक्त रसमें जो तीक्ष्ण भाग है, वह राजसमें तथा मधुर भाग सात्त्विकमें लिया गया है। कितने ही पदार्थ पहिले तिक्त एवं अम्लावस्थामें रह कर फिर पकने से मधुर प्रधान हो जाते हैं, इसलिये तीक्ष्ण भाग रजोगुणी है और मधुर भाग सतोगुणी।

विदाहिनः रुक्ष आहार हृदयमें जलन तथा उत्तेजना उत्पन्न करते हैं। इनसे चित्तमें अशान्ति बनी रहती है। अशांति रहनेसे दुःख, शोक, रोगकी वृद्धि होती है। अतः ऐसा आहार अपने लिये लाभदायक नहीं है।

राजस आहार मनुष्यके जीवन-निर्वाह मात्रके लिये है। बल, आयु सुख आदिकी प्राप्ति तो सात्विक आहार से ही होती है।

यातयामम्—प्राकृतिक रसवाले पदार्थोंका संवत्सरातीत होने पर रस जीर्ण हो जाता है।

गतरसम्—उपरोक्त आहार स्नेह क्षीण होनेसे रसहीन हो जाते हैं। रसहीन होनेसे स्वाद बदल जाता है।

पर्युषितम्—बासी हो जाता है।

उच्छिष्टम—बासी होने पर जीव प्रविष्ट हो जाते हैं, और उनसे उच्छिष्ट हो जाता है।

पूति—तथा दुर्गन्ध पैदा हो जाती है। दुर्गन्ध युक्त जो आहार पदार्थ हैं वे हमारे लिये अहितकर हैं। प्राकृतिक रसवाले पदार्थ भी दुर्गन्ध युक्त होनेसे तामसी हो जाते हैं और जसे—प्याज, लहसुन मधुर स्निग्ध होनेपर भी अहितकर हैं। वैसे ही बादाम, पिस्ता, अन्न, फल आदि पदार्थ स्निग्ध होनेपर भी दुर्गन्ध पैदा होनेसे अहितकर हो जाते हैं। परस्परमें मिश्रण करके जो भोजन बनाया जाता है, बासी होनेसे उसमें दुर्गन्ध पैदा हो जाती है और दुर्गन्ध पैदा होनेसे वह आहार भी अहित-कर हो जाता है।

अमेध्यम्—यातयामं, गतरसं, पूति, पर्युषितं, उच्छिष्टम्—ऐसे उपरोक्त आहारके सेवन करनेसे हमारी बुद्धि अपवित्र हो जाती

है। क्योंकि इस तरहके आहारोंकी अवस्था तामसी बताई गई है।

अब हमें यह विचारना है कि उपरोक्त तीनों श्लोकों में जो भोजनका गुण वर्णन किया गया है, उसमें तामस भोजनके विषय में जो 'अमेध्य' शब्द आया है, उसमें हमारी बुद्धि ही हीन बताई है। आयु, बलका ह्रास नहीं बताया गया है, परन्तु हमारी पीढ़ी-दर पीढ़ीका बहुत समयसे आयु और बलका ह्रास हो रहा है। विशेष क्या? गत सौ वर्षों से हमारा आयु, बल बहुत ही गिर रहा है।

आयु, बल घटनेका प्रधान कारण अप्राकृतिक एवं कृत्रिम भोजनका विशेष रूपसे सेवन करना ही है। जैसे—यदि बच्चेका पालन माताके दूधसे होगा, तभी उस बच्चे की बुद्धि पवित्र रहेगी, क्योंकि कार्य कारणानुकूल ही होता है। बच्चेमें माताकी बुद्धि ही दूधके रूपमें अवतरित होती है और माताके दूधके अभावमें धाय (नौकरानी) के दूधसे जो बच्चा पाला जाता है उस बच्चेकी बुद्धि हीन होती है, क्योंकि धायकी बुद्धि न्यून होती है। वैसे तो माता का दूध भी मनुष्य का दूध है; और धायका दूध भी मनुष्यका ही दूध है, उससे बच्चेको आयु, बल नष्ट नहीं होता, बुद्धि ही हीन होती है। वैसे ही पृथ्वी माता का ही स्निग्ध अन्न है, और पृथ्वी माताका ही रस रहित अन्न है, अतः रस रहित अन्नके सेवन करनेसे बुद्धि ही कमजोर होती है—आयु, बलका ह्रास नहीं होता। अस्तु अप्राकृतिक

एवं कृत्रिम भोजनसे आयुका ह्रास कैसे होता है—इसपर विचार करना है।

मनुष्य शरीरके भीतर अवकाश (थोथ) परमात्माने बनाया है। उसके बने रहनेसे ही मनुष्यका जीवन है। अवकाश कम होना ही शनैः-शनैः मनुष्यके अकाल मृत्यु तकका कारण है। अतः अवकाश बनाये रखनेके लिये तथा प्राण रक्षाके लिये विकार रहित प्राकृतिक सादे भोजन करनेसे शरीरकी धमनियां, आमाशय, पक्वाशय, यकृत, प्लीहादि स्वच्छ रहेंगे तथा उनकी क्रिया अच्छी तरहसे होती रहेगी। अवकाश भी सुरक्षित रहेगा, एवं पाचन क्रिया भी ठीक होती रहेगी। मनुष्य-शरीरका निर्वाह करनेके लिये प्रायः जितने अन्नकी उपयुक्त मात्रा अच्छी तरह पाचन होकर एवं उसका रस रक्त बनकर सम्पूर्ण शरीरको पुष्ट कर सकें, इसलिये अवकाशकी पूर्ण आवश्यकता है। तभी मनुष्यके आयु, बलमें किसी प्रकारकी न्यूनता न होगी। व्यायाम, प्राणायाम, पुरुषार्थ आदिसे भी शरीरकी वायु शुद्ध होकर पाचन क्रिया अच्छी तरह होती रहती है; अतः अवकाश बनाये रखने के लिये यह भी आवश्यक है।

बच्चेका प्रारम्भिक अवस्थामें जो विकास होता है; वह अवकाश सुरक्षित रहनेपर ही अवलंबित है। बच्चेको प्रारम्भ में—माताका दूध, आवश्यकता होनेपर प्राकृतिक रस-स्नेह युक्त भोजन जैसे—पतला दलिया, खिचड़ी, मांडयुक्त भात, आटेकी बनाई हुई रावड़ी, गुड़ियानी, आदि पतले द्रव्य और फलोंका रस इत्यादि

सेवन करानेसे ही उसका अवकाश सुरक्षित रहेगा। ऐसे भोजन से बच्चेको किसी भी प्रकारकी बीमारी नहीं होगी, और बच्चेका विकास पूर्ण होगा। किं बहुना—बच्चेके विकासपर ही मानव-समाजका विकास निर्भर है।

जब आटा घोल (दूध) कर पिलाया जाता था तब भारतमें द्रोण पुत्र अश्वत्थामा जैसे वीर एवं मानव-अमर उत्पन्न होते थे। अन्नका घोल छोड़कर जबसे हम पशु दुग्ध लेने लगे तबसे हमारी क्या शक्ति है. इसे सब लोग देख सकते हैं।

अवकाश विशेषतया स्थूल मेदा (चर्बी) बढ़ानेवाले आहार जैसे—घृत, घृतसे बने हुए पदार्थ, आमिष, पशु-दुग्ध, छेना, मावा इत्यादि गरिष्ठ पदार्थोंसे शनैः-शनैः अवरुद्ध होता है। क्योंकि स्थूल मेदा बढ़ानेवाले पदार्थोंके सेवन करनेसे शरीर प्रारम्भमें स्थूल हो जाता है। कुछ शक्ति-सी भी मालूम होती है, परन्तु वह शक्ति स्थायी नहीं होती, अतः मेदासे पुष्ट शरीर देखनेमें तो मोटा-ताजा लगता है; परन्तु कमजोर, सुस्त, ढीला और आलसी होता है।

बच्चेका शरीर छोटा, सुकुमार और कोमल होता है। अतः उपरोक्त आहार बच्चेके विकाशको तो रोकते ही हैं, इसके अतिरिक्त नाना प्रकारके उदररोग जैसे,—पेटका बढ़ना, पेटका निकलना, हाथ-पैरोंका पतला होना आदि उत्पन्न करके अन्ततोगत्वा मृत्यु तक भी कर देते हैं। आजकल भारतवर्षमें

बच्चोंकी अकाल मृत्यु विशेष रूपसे होती है। प्रधानतः उसका उपरोक्त ही कारण है।

अतः प्रत्येक माता-पितासे मेरी विनम्र प्रार्थना है कि ऐसे अप्राकृतिक आहार बच्चेको कभी न खाने देवें। प्राकृतिक सादा आहार ही सेवन करावें। इससे उसका तथा अपना जीवन सुखमय रहेगा।

आयुर्वेदमें कहा गया है कि घीसे आयु बढ़ती है, परन्तु पशुके घीसे पशुकी आयु बढ़ती है, मनुष्यके घी (दूध) से मनुष्य की आयु बढ़ती है। बच्चोंको माताका दूध तीन साल तक पूर्ण प्राप्त होनेसे ही पूर्ण आयु प्राप्त होती है। माताके दूध पर ही आयु निर्भर है। मनुष्य वर्ग पृथक एवं पशु वर्ग पृथक है। पशु वर्गसे मनुष्य वर्ग श्रेष्ठ है। सांड़, बैल, घोड़े, ऊँट आदि पशुओंको घी पिलाने की मर्यादा प्राचीन काल से ही चली आती है। जब अधिक घी प्राप्य था तब अधिक मात्रामें सालमें दो, तीन बार मनों घी पिलाया जाता था। इस जमानेमें घी कम मात्रामें प्राप्त होने पर भी पिलाया जाता है, क्योंकि उनका जीवन थोड़ा है, शरीरका अवकाश बड़ा है। फलतः उन्हें स्थूल चर्बीकी आवश्यकता रहती है, ताकि वे कार्यक्षम बने रहें। अस्वस्थ होने पर भी उनको घीकी नाल दी जाती है। उसीसे वे स्वस्थ होते हैं। पशुओं के लिये ही पशुका घी उपयोगी है, न कि मनुष्यके लिये। कारण मनुष्यकी आयु बड़ी है, शरीरका अवकाश छोटा है, अतः अवकाशकी रक्षाके लिये सूक्ष्म मेदा की ही आवश्यकता है।

सूक्ष्म चर्बी प्राकृतिक अन्नादि आहार से प्राप्त होती है। इसके विपरीत पशुके घी दूधसे स्थूल चर्बी प्राप्त होती है, जो मानव जीवनके, लिये हरेक अवस्थामें अहितकर है। पशु वर्गके, जो बहुत वर्गसे नीचा है, दूध, घी आदि लेकर अपनी शक्तिको वृद्धि करना चाहते हैं, वह अपना अज्ञान है, क्योंकि धर्मशास्त्रों में पर वस्तु ग्रहणको पाप बतलाया गया है। नीचेसे जो चीज ली जायगी वह हमें नीचे ले जायगी। अपने से ऊँचे से जो वस्तु हम लेंगे वही हमें ऊंचा उठायेगी—पृथ्वी तेज आदिसे हम जो शक्ति प्राप्त करेंगे वही हमें ऊंचा उठायेगी। प्रकृति देवी से भी हमें यही स्पष्ट शिक्षा मिलती है। मनुष्य पुरुषार्थ करके पृथ्वी माताके जो आहार प्राप्त करता है, वही उसका वास्तविक आहार है। और उसीसे वह उन्नत होता है।

सार वस्तुका नाम घृत है तथा घृत शब्द व्यापक अर्थमें प्रयोजनीय है। यथा—वेदोंमें विशेषतया घृत शब्द अन्न व जल-का द्योतक है। तथा आकाश, पृथ्वी तेज, रेत आदि शब्दोंमें भी घृत शब्दका व्यवहार किया गया है।

शुक्ल यजुर्वेद में अध्याय ३४।४५

घृतवती भुवनानामभि श्रियोर्वी पृथ्वी मधुदुघ सुपेशसा।
द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मण विष्कभिते अजरेभूरिरेतसा ॥४५॥

जगती द्यावापृथिवी देवत्या। द्यावा पृथिवी द्यावा पृथिव्यौ वरुणस्यादित्यस्य धर्मणा धारणेन धारण शक्त्या विष्कभिते स्तम्भिते-स्कम्भ्नोतिदृढी करणार्थः वरुणेन स्वशक्त्या दृढीकृते

इत्यर्थः। किम्भूतेते घृतवती उदकवत्यौघृतमिति उदकनाम भुवनानां भूतजाता नामभिश्रिया आश्रयणीये कर्मणि क्विप् विभक्ते-राकारः। उर्वीऊर्व्यौ विस्तीर्णे पृथ्वी पृथ्व्यौ पृथुले आयामविस्तारा-भ्याम् महत्त्वम् विशेषणद्वयेनोक्तम्। मधुदुघे मधुउदकं तस्य दोग्ध्र्यौ। सुपेशसा सुरूपे। अजरे जरारहिते। भूरिरेतसा भूरिरेतोययास्ते भूरिरेतसौ बहुरेतस्के सर्वभूतानां हि रेतांसि ताभ्यामेवोत्पद्यन्ते।

भावार्थ—आदित्यने (वरुण) पृथ्वीको प्राणियोंके आश्रयके लिये स्थिर किया तथा उससे (आकाश) मधुर-रस-युक्त उदक (जल) वृष्टि द्वारा पैदा किया क्योंकि जिस जलसे मनुष्य जरा रहित तथा बहुत पराक्रमवाले हो कारण जल से ही वीर्यकी उत्पत्ति है तथा सम्पूर्ण प्राणिमात्र की रचना है। (घृतंवैउदकम्)

शुक्ल यजुर्वेद सं० १७।८८

घृतं मिमिक्षे घृतमस्ययोनिर्घृते श्रितोघृतम्वस्य धाम।
अनुष्व धमावह मादयस्व स्वाहा कृतं वृषभवक्षि हव्यम् ॥८८॥

गृत्समददृष्टा। अहं घृतं मिमिक्षे सेक्तुमिच्छामि अग्नि-मुखे मेढुमिच्छति - मिमिक्षते मिहसेचने सनन्ताल्लट् उत्तमैक-वचनम्। यतोऽस्याग्नेघृतं योनिरुत्पत्ति स्थानम्। अग्निर्यस्यै-योनेरसृज्यततस्य घृतमुल्वमासी दितिश्रुतेः। गर्भाधारोदकमुल्वम्। योऽग्निघृतेश्रितः घृतमाश्रितः। अस्याग्नेघृतमेव धाम स्थानंतेज-स्करम्। वाउ अव धारणे। अतो हे! अध्वर्यो! अनुष्वधम् स्व-धामन्नमुपलक्ष्यतमग्निमावह पूर्व-मन्नमुपकल्प्य पश्चादाहूय आहूय

प्र सार्धस्व नर्येदं । तर्पयित्वा चैद सूरि हे,द्वस ! कामानाम
भिवर्पुक ! ... ... स्वाहा कारेण हुतं हव्यं त्वं वक्षि वह
देवान् प्रापय । वहतेः रापि लुप्तेडुत्वकत्वादौ कृते वक्षीति रूपम् ।
यद्वा यं अरयं निमिक्षेयस्य घृतंयोनियों घृतेश्रितः तस्य च घृतं धाम
स्वधानुष्यं देवानावहमादय हव्यं च वक्षि इत्याग्नि प्रत्येवोक्तिः
... कर्मद्वयं देवानामावाहनं हविर्दहनश्च ।

भावार्थः—घृत शब्द जलका ही है। मैं जलका सिञ्चन कर रहा हूं। जल ही इस अग्निका उत्पत्ति स्थान है। अग्नि जलमें ही आश्रित है। जल ही इसका स्थान है। स्वधाके अन्नको उपलक्षित करके अग्निका आवाहन कर तृप्त करो। हे वृषभ ! स्वाहाकारसे हुत जो अन्न है उससे देवताओंको तृप्त करो।

शुक्ल यजुर्वेद १७।८९

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ २ ॥ उदारदुपांशुनासम मृतत्व मानट् ।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवनाममृतस्यं नाभिः ॥८९॥

वामदेवाद्दष्टा । अन्नान्नाभ्यासेन घृतम् स्तूयतेप्राणाभ्यासेन-चाग्निः । समुद्रात् घृतमयात् मधुमान् रसावानूर्मिः कल्लोल उदारत् उदगच्छत् ऋगतोच्छेरङ् ऋदृशोऽङ्गिगुणः अक्षीणत्वात् घृतस्य समुद्रेणोपमानम् अन्न देवताभिप्रायम् वासाह्मक्षोणैव । उद्गत्यचऊर्मिः अंशुनाप्राणेन जगत् प्राणभूतेनाग्निना सं संगत्यैकीभूय अमृतत्वममरण धर्मित्वमुपानट् । उपव्याप्नोतुनश अदर्शनेलुङि-मन्त्रे घसेत्यादिनाच्लेलुंक् हल्ङ्याविर्तिलोपः विआङुपसर्गाभ्यां-व्याप्त्यर्थः । प्राणश्चान्नं च एकीभूयामृतत्वं प्राप्नुतइत्यर्थः । तस्य

घृतस्य गुह्यमविज्ञातंनामाविद्भिरज्ञातं श्रुतिमन्त्र पठितं यदस्ति तत्कथ्यत इतिशेषः।

किं तदाह देवानां जिह्वा अत्यभिलाषादेवानां जिह्वोत्थाननिमित्तम् अग्नेर्जिह्वासीत्युक्तेः। यदा वा एतदग्नौ जुह्वत्यथाग्निर्जिह्वा-इवोत्तिष्ठन्तीति श्रुतेः। यच्चसर्वप्रकाशं नाम तदप्युच्यते अमृतस्य नाभिः अमरणधर्मस्य न हनं बन्धनम् यो हि घृतमश्नाति सदीर्घायु-र्भवति। यद्वाऋगर्धेन मन्त्रः स्तूयते अर्धेन घृतम्। समुद्रात्आग्नि-कायजुः समुद्रादस्माद्यज्ञात् य ऊर्मिः शब्द संघातोनामाख्यातो-पसर्गनिपातरुप उपमोत् प्रेक्षारुप काव्यलंकाररूप मधुमान् रसवान् वाक्यार्थगुणैर्युक्त। उदारत् मुखादुदगात् स एव उपांशुना सव-नेन क्रियमाणः सन्नमृतत्वमाप्नोत् तदेतद्यजुरुपाथं श्वनिरुक्तमिति श्रुतेः। अतोऽग्निचिद्भिः स ऊर्मिः प्रकाशनीयः। घृतस्यगुह्यनाम यदस्ति तदपि देवानां जिह्वोत्थाननिमित्तं किं पुनरूर्मिः अथास्य घृतकीर्तविनाग्निःवैश्वानरो मुखादुज्ज्वालेतिश्रुतेः। अमृतस्य नाभिः नहनं यजमानानाममृतत्व प्रापकं घृतं यजनेनेत्यर्थः। अतो-ऽग्निचिद्भिः हुयते स्तूयते च घृतमिति।

भावार्थः—समुद्रसे रसवान् ऊर्मियोंने अपाम् उदारत् यानी अन्नको प्राप्त किया। घृत शब्देन नीत अन्न अंशुना अर्थात् अग्निसे मिलकर अमृतत्वको प्राप्त किया। वही घृत यानी अन्न देवानाम् जिह्वा देवताओंके जिह्वोत्थान निमित्त है। अर्थात् जो अन्नको खाता है वही दीर्घायुः होता है।

शुक्ल यजुर्वेद अ० २ मं०

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
स्वधास्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥३४॥

ऊर्जमित्यपो निषच्यतीति। अब्देवत्या विराट्। हे आपः! यूयं स्वधास्थ पित्र्यहविः स्वरूपाः भवथः। अतो मे पितॄन् तर्पयत। कथम्भूता आपः। परिस्रुतं वहन्तीः पुष्पेभ्यो निःसृतं सारं वहन्त्यः। तत्सारं त्रिविधम् ऊर्ज शब्देन घृत शब्देन पयः शब्देन चाभिधेयम् तत्रोर्ज शब्दोऽन्नगतं स्वादुत्वमभिधत्ते। घृतपयसी प्रसिद्धे। तच्चत्रिविधमपिकीदृशममृतं सर्वरोग विनाशकं मृत्यु-नाशकंच। नास्तिमृतं यस्मात्तत् पुनः की दृशं कीलालम् कील बन्धने कीलनं कीलोबन्धः। तमलतिवारयतीति कीलालम्। अलं वा-रणपर्य्याप्त्यो रितिधातुः। सर्वबन्ध निवर्तकम् ईदृशस्य त्रिविध-स्य सारस्य वहनादपांपितृ तर्पकत्व मुपपन्नम्।

भावार्थः—हे आपः! तुम स्वधारूप हो अतः मेरे पितरोंको तृप्त करो। जल कैसे हैं—परिस्रुतम् वहन्तीः पुष्पोंसे निकले हुए रसको धारण करने वाले हैं। यहां जल ऊर्ज शब्द घृत शब्द पयः शब्द तीनोंका वाचक है। वह तीन प्रकारका होता हुआ भी कैसा है—अमृतम् यानी मृत्युका नाश करनेवाला है तथा कीलालम् बन्धनों से मुक्त करनेवाला है।

इसी लिये वेद भगवान् हमारे आहारके विषयमें उपदेश करते हैं—

व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्।
एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ
मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च। (अथर्ववेद ६)

"मनुष्यका स्वाभाविक भोजन क्या है, इस सम्बन्धमें प्रभुका उपदेश है कि हे मनुष्यो, तुम व्रीहि अर्थात् चावल, यव (एवं गेहूं, मकई आदि)। माष-(उड़द, मूंग, मसूर, चना आदि दाल) एवं तिल (तेलहन जिनमें मेवे आदि भी सम्मिलित हैं) अर्थात् अन्न और फल—येही खाया करो। रमणीयताके लिये अर्थात् यदि तुम सुखपूर्वक रहना चाहते हो तो तुम्हारा भाग यही है। हे मनुष्यो, पशु-पक्षी आदि, जो तुम्हारे रक्षक और मान्य कर्त्ता हैं अर्थात् जिनके भरोसे से तुम्हारा जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होता है उनके लिये तुम्हारे दांत कदापि घातक न हों। पशु-पक्षी आदि मनुष्यके रक्षक एवं पालक हैं, अतएव शतपथ ब्राह्मण में पशुओं को भी प्रजापति कहा गया है। यहांपर उन्हीं को पिता-माता कहा गया है।

उनकी हिंसाकर अपना पेट पालना अथवा उनके आहारस्वरूप उनकी माताओं का दूध अपने लिये लेकर उनकी शक्ति का ह्रास करना ही माता पिताकी हिंसा करना कहा गया है, जो मनुष्य मात्रके लिये परमात्मा की आज्ञाके विरुद्ध होनेसे सर्वथा त्याज्य है। चींटीसे लेकर हाथी तक—कीट, पतङ्ग, पशु, पक्षी आदि सभी हमारे रक्षक हैं। जिस गन्दगी को सूर्य शोषण नहीं कर सकता, वायु सुखा नहीं सकती, उस गन्दगीको नष्ट करनेके लिये

प्रकृति देवीने नाना प्रकारके मच्छड़, कीट, पतङ्ग, चींटी, बिच्छू आदि बनाये हैं। पृथ्वीपर से मैल उड़नेके पश्चात् जो बदबू रह जाती है, उसे नष्ट करनेके लिये मक्खियें बने हैं। आगे इनका परस्पर भक्ष्य-भक्षकका सम्बन्ध बना हुआ है। मच्छड़ आदिको खाने के लिये छिपकली, मेढ़क आदि हैं। तथा छिपकली, मेढ़क आदि को बिल्ली आदि। ऐसे ही गीदड़, कूकर, सूकर, सिंह, व्याघ्र आदि। मैलको नष्ट करनेके लिये प्रकृति देवीने एकसे एकका सम्बन्ध जोड़ रखा है। सभी पक्षीगण ऊपरी दूषित वायुको खा लेते हैं, जो वायु हमारे लिये हानिप्रद है। जो वायु हमारे लिये हानिप्रद है वह उनका आहार है। यह प्रकृति नियम बना हुआ है। मगर, मछली आदि जलके मैलको एवं जलके मैल—कीटाणुओं को खाकर उसे स्वच्छ बनाते हैं। यह हमारे लिये हितकर हो जाता है। सूअर, कूकर आदि जमीनके मैलको साफ करते रहते हैं। बकरा, बकरी आदि पृथ्वीपर जो विषवाले आक, धतूर आदि पदार्थ हैं, उनको खाते हैं और इनके घरमें रहने से राजयक्ष्मा के कीटाणुओंका प्रसार नहीं होने पाता। बैल खेती बारीमें हमारे सहायक हैं। उनके बिना खेती-बारीका काम नहीं चल सकता। ऊँट, घोड़े, हाथी आदि हमारी सवारी, सामान ढोना, एवं हमारे शहरों की रक्षा करनेमें सहायता पहुंचाते हैं। घोड़े हाथी आदि हमारे मांगलिक कामोंमें मदद देते हैं। सभी पशु-पक्षी एवं कीट पतङ्गादि हमारे रक्षक हैं। ऊपर बताये हुओं की रक्षा तथा पालन करना हमारा प्रधान कर्त्तव्य है, जिससे

सृष्टिका नियम सुचारु रूपसे चलता रहे। अभी हमलोग अज्ञान-वश रक्षकके भक्षक बनकर पतनकी ओर जा रहे हैं। एक तो मांसादिसे मानव शरीरको पुष्टि होगी, यह धारणा ही निर्मूल है। मांस तो बिलकुल ही निःसार पदार्थ एवं मैल है।

मैलको नष्ट करनेके लिये प्रकृतिने मांसाहारी पशु पक्षी और जलचर बनाये हैं। इनमें परस्पर भक्ष्य-भक्षकका सम्बन्ध बनाकर सृष्टिको सुचारु रूपसे चलानेके लिये विधान बनाया है। मनुष्यके लिये,प्रकृतिने नाना प्रकार के कन्द, मूल, फल, अन्न और तेलहन उत्पन्न किये हैं, जिसका उपदेश वेद भगवान् उक्त मन्त्र द्वारा हमें करते हैं। पशु-पक्षिओंके मांस एवं उनके शक्तिस्वरूप दूध, घीसे मनुष्यको कोई भी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। कहा जाता है—जैसा अन्न वैसा मन। उक्त वस्तुओंके उपयोगसे हममें पशुत्व, पाशवी शक्ति एवं पशु-बुद्धि आयेगी, जो अन्तमें हमें मानवतासे भी च्युत कर देगी। आधुनिक विज्ञान तो वनस्पतियों को ही शक्तिका आधार बतला रहा है। एक क्षणके लिये यदि मान भी लें कि दूसरेके मांससे अपनी पुष्टि हो सकती है तो भी क्या यह कर्त्तव्य हो सकता है ? केवल अपनी पुष्टि का ही लक्ष्य रखा जाय तो कुकर्म द्वारा परद्रव्य हरणसे भी शरीर की पुष्टि होनेके कारण उसके करने की भी शिक्षा प्रचलित हो सकती है जिससे कोई भी धर्मकी मर्यादा नहीं बन सकेगी। अतएव दूसरेको मारकर या कमजोर बनाकर अपनेको

पालनेका अभिप्राय मनमें कदापि न लाना चाहिये। रक्षक की रक्षा करनेसे ही हमारा कल्याण होगा।

मनुष्य का मांस भक्षण क्या है? हंस की चाल छोड़ कर काक की गति अपनाना है। मनुष्य ने व्याघ्र-सिंह का बल और उनका भोजन मांस देखकर सोचा—मांस से ताकत बढ़ती है, इसलिये वह मांस खाने लगा। यह तो हमारा अज्ञान है। निरामिष आहार से जीवन यापन करके हमारे पूर्वज १०-१० हजार हाथियों का बल रखते थे। उनका अस्त्र बन्दूक नहीं था बड़े-बड़े गाछ और शिला चट्टान थे। अपने बलसे वे अपने अरियों को चूर्ण-विचूर्ण कर देते थे। बल के चलते वे अपने बाण को कई योजन तक फेंकते थे। भगवान् श्री रामने बक्सर (बिहार) से बाण पर चढ़ाकर मारीचको लंकामें फेंक दिया था। यह सब निरामिष आहारका परिणाम था।

भोजन क्यों करते हैं?

इसलिये कि दैनिक क्रियाओंके करनेसे शक्तिका जितना ह्रास होता है उतना पुनः संचित कर लिया जाय। अतः श्रमशील जीवन एवं मननशील जीवनवालोंके भोजनकी मात्रामें अन्तर है। जहां शारीरिक परिश्रम कम हो वहां अधिक भोजन अहितकर है। महाभारतमें लिखा है—'आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति" अर्थात् ब्राह्मण—मननशील जीवनवालों को आलसी स्व-

भाव एवं अन्न दोष मार डालता है। इसलिये कल्याण चाहने-वालोंको भोजन की मात्रा पर विचार करना चाहिये।

अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्या द्विगुणोऽरण्यचारिणः।
द्वात्रिंशत् तु गृहस्थस्य यथेष्टं ब्रह्मचारिणाम्॥

एक जगह बैठकर कार्यों की व्यवस्था करनेवाले, भजन करने-वाले या विचार करनेवाले अर्थात् धारा सभाके व्यवस्थापकों को आठ ग्रास अन्न खाना चाहिये। तपस्वी, जज और वैधानिक कार्य्य करनेवाले मुनियों की श्रेणीमें हैं।

अरण्यचारी, वाणप्रस्थ या जिन्हें बाहर घूमना-फिरना पड़ता है उनका भोजन १६ ग्रास है। गृहस्थ किंवा संसारका भोग करनेवालों को ३२ ग्रास खाना चाहिये। ब्रह्मचारियों अर्थात् परिश्रम करने-वालों को यथेष्ट भोजन करना चाहिये।

भोजनकी वस्तुओंका यथास्थान उल्लेख विशद रूपसे महात्मा गांधीके आदर्शपर, जो शास्त्र सम्मत है, किया गया है। महात्मा गांधी सादा, प्राकृतिक एवं पौष्टिक अन्न, ताज़े फल, कन्द, मूलके भोजनकी सलाह हमें देते थे एवं वे स्वयं उन्हीं वस्तुओंका व्यव-हार करते थे। सत्य अहिंसा उनके जीवनके अङ्ग थे। आज हम उनके पथ पर चलनें का दम भरते हैं। हमारी सरकार उनके पथपर चलनेको हमसे बराबर कहती है। पर हमारी दशा क्या है? हमने अपने आहारको कृत्रिम एवं अप्राकृतिक बना लिया है। आर्य सभ्यतामें चींटीसे लेकर ब्रह्मा तकका अपना स्थान था।

एक दूसरे का सहकारी था, स्वामी नहीं। आर्य भूमिमें जबसे हमने पुरुषः प्रधानं, तस्योपकरणमन्यत् सर्वम् बना लिया! स्वार्थ वश पशुओंकी स्वच्छन्दता हमने छीन ली। उनका दूध उनके बच्चोंको न देकर हम अपने उपयोगमें लेने लगे। पशु पक्षियों को मारकर खाने लगे। मछलियों का, जो जल साफकर उसे अमृत तुल्य बनाती है, शिकार करने लगे। आज स्वतन्त्र भारतमें भी मछलियोंका व्यापार बढ़ाने की चर्चा सुन रहे हैं। यह तो अनार्यों का ही पथानुगमन है। सत्य अहिंसाके प्रकाशमें छल-कपट, भ्रष्टाचार, पशुहिंसाके लिये स्थान नहीं होना चाहिये। हम सृष्टिके तमाम पदार्थोंका उलटा उपयोग कर रहे हैं। जिन पञ्च तत्वोंसे हमारा जीवन आनन्द पूर्वक चलता था उनका हम सृष्टि संहारमें उपयोग कर रहे हैं। जिस विज्ञानका आविष्कार मनीषियोंने सृष्टिको सुखद बनानेके लिये किया था वेही आज प्राणिसंहारक बन रहे हैं! वस्तुतः संसारमें तो प्राणियों का प्रश्न ही नहीं है। प्रश्न तो केवल पुरुषों का है। पुरुष इतना स्वार्थी बन गया है कि वह सिर्फ अपने को देखता है अपने निकटस्थ वातावरण का भी ख्याल नहीं करता। बारम्बार युद्ध छिड़ते हैं। लाखों मनुष्यों का हनन होता है। इस समय सभ्यता संस्कृति सभी राक्षसी हो रही है।

स्वतन्त्र भारतको हमें अब पहले जैसा पवित्र बनाना है। अब हमें ज्ञानपूर्वक हिंसा एवं असत्यको नष्ट कर उनकी जगह अहिंसा एवं सत्यको प्रतिष्ठित करना है। अब राष्ट्रका कर्त्तव्य

हो जाता है कि कानूनके जरिये अप्राकृतिक आहार, जैसे—आमिष, दूध, घी, मावा, छेना आदिको गन्द करें, जिससे मानव, जो अकाल मृत्युके गालमें ढकेला जा रहा है, कल्याण तो होगा ही साथ ही पशु-हिंसासे भी वञ्चित होगा। इससे पशु-पक्षी तथा मानव—दोनोंका कल्याण सिद्ध होगा। हिंसा को नष्ट कर अपने रक्षकों—चींटीसे हाथी तक—की रक्षा करने से हमारा भारतवर्ष पवित्र होगा और हमारी रक्षा होगी। पवित्र भारतमें हम महान् होंगे एवं आगे की पीढ़ियोंमें महान् आत्माएं अवतरित होंगी।

अहिंसा की प्रतिष्ठाके लिये भीष्मपितामहने अपने भाइयोंको जलकर मर जाने तकका आदेश दिया था। चित्राङ्ग एवं विचित्र-वीर्यने व्यासजीके प्रति मानस हिंसा की थी। अहिंसाकी प्रतिष्ठाके प्रसंगमें पितामहने अपने वंश की स्थिति तक का विचार नहीं किया। यह हमारे प्राचीन भारतका महत्व था। आज उससे हम बहुत दूर हो गये हैं। कहीं मानवोंका शोषण होता है, कहीं पशुओं पर आरे चलाये जाते हैं, कहीं मछलियों एवं पक्षियोंको फँसानेके लिये जाल फैलाये जा रहे हैं! सब जगह छल कपटका साम्राज्य है। असत्य एवं हिंसाके प्रसारसे भारतभूमि अपवित्र हो गयी है। हमारी आत्माएं संकुचित हो गयीं और होती जा रही हैं। इससे हमें बचना है। इसलिये आज भारतके मनीषियों, ब्राह्मणों, साधुओं, संन्यासियों, सद्गृहस्थों उदार चेताओं, नेताओं, एवं सभी महानुभावोंसे निवेदन है कि

अपने-अपने प्रयत्नसे असत्य एवं हिंसा को हटाकर भारतको पवित्र बनाव, हमारी आत्माके संकोचको दूरकर उसे महान् बनाव हमारा स्तर ऊंचा उठावें और रामराज्य की स्थापना करें, जिसे महात्मा गांधी चाहते थे।

प्रारम्भ

मनुष्य का शरीर पाँच तत्त्वों से बना हुआ है यथा पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। सारे पदार्थ आकाश में स्थित हैं। पृथ्वी सब को धारण कर रही है, जल प्राणियों का प्राण है, तेज आत्मा है और वायु संचालन करनेवाला है।

संसार में जितने पदार्थ हम देखते हैं सभी तत्त्व से बने हुए हैं। तत्त्वों के विना संसार का काम एक क्षण भी नहीं चल सकता।

मनुष्य जितना ही प्रकृति के नजदीक रहेगा उतना ही उसका प्राण गहरा रहेगा और जितनी कृत्रिमता में लिप्त रहेगा उतना ही उसका प्राण छिछला होगा। जैसे सतयुग में सभी चीजें प्राकृतिक व्यवहार में आती थीं, तब ही उस समय अस्थिगत प्राण थे लेकिन आजकल कृत्रिमता के कारण कलियुग में प्राण अन्नगत हो गये हैं। कलियुग के पहले जब तत्त्वों का ज्ञान, उनका सेवन और पूजन होता था तो मानव शरीर वज्र के समान शक्तिशाली था। उसमें पर्वत तक उठाने की शक्ति थी। लेकिन कलियुग के आगमन के साथ ज्यों-ज्यों कृत्रिमता बढ़ती गई, तत्त्वों का ज्ञान, सेवन, पूजन कम होता गया वैसे ही हमलोगों की शक्ति का ह्रास होता गया। पिछले सौ-डेढ़ सौ वर्षों से हमलोग घोर कृत्रिमता में लिप्त हो गये हैं। इसी सौ-डेढ़ सौ वर्षों में हमारी शक्ति का भी जोरों से ह्रास हुआ एवं हो रहा है। जितना तत्त्वों का सेवन

होगा उतनी ही हमारी शक्ति बढ़ेगी। जितने ही कृत्रिमता में लिप्त होंगे उतने ही हम कमजोर होंगे।

वायु सबका सञ्चालन करनेवाला है। श्वास के लिये वायु की बड़ी आवश्यकता है। शरीर में जितने ही रोम छिद्र हैं वे शरीर के द्वार हैं। उनको जितनी मात्रा में शुद्ध वायु प्राप्त होगा उतना ही शरीर स्वस्थ और सबल होगा। पाचन शक्ति दीप्त होगी। इसलिये मनुष्य को वस्त्र उतना ही पहनना चाहिये जितने से रोम छिद्रों को पर्याप्त वायु मिलने में बाधा न हो। वस्त्र शृङ्गार या सजावट के लिये नहीं है। यह शरीर ढकने के लिये ही है। हम चुस्त कपड़े न पहनें। थोड़े और ढीले कपड़े ही पहनने चाहिये।

आजकल का विज्ञान भी इन तत्त्वों की शक्ति पर काम कर रहा है। बिजली के द्वारा जो इतने चमत्कारपूर्ण कार्य हो रहे हैं उस बिजली में अग्नि तत्त्व की ही तो शक्ति है। अग्नि के साथ जल का संयोग होने से स्टीम बनती है इस स्टीम के बल पर रेल, जहाज, कल-कारखाने इत्यादि चल रहे हैं। मशीन के प्रपेलर में पवनदेव की लीला दृष्टिगोचर होती है। आकाश तत्त्व के बल पर देशदेशान्तर के समाचार रेडियो द्वारा क्षणभर में जाने जाते हैं।

जब ये सारे तत्त्व इतने शक्तिशाली हैं तो इनका उचित रीति से सेवन कर हम स्वयं ही शक्तिशाली क्यों न बनें? इस कृत्रिमता में फँसकर मशीन आदि द्वारा उन तत्त्वों से लाभ उठाने का

अनिष्टकर प्रयत्न क्यों करें? क्यों नहीं हम तत्त्वों से अपना सीधा सम्बन्ध जोड़ें? हमारी बनाई मशीनें जब तत्त्वों के सहारे आश्चर्यजनक कार्य कर सकती हैं तो परमपिता परमात्मा की रची हमारी यह शरीररूपी अद्भुत मशीन तत्त्वों की उपासना से क्या नहीं कर सकती?

हमारे पूर्वजों ने इन तत्त्वों के सेवन से जो दिव्य शक्ति प्राप्त की थी उसे सुनकर हम अपनी वर्तमान कमजोरी के कारण उस पर विश्वास भी नहीं करते। परन्तु हमारे पूर्वजों के पराक्रम की कथाएँ अक्षरशः सत्य हैं। हमें आज तोप, बन्दूक और गोलों पर बड़ा अभिमान है। हम समझते हैं—इनके बल पर हम विश्व विजय कर लेंगे। परन्तु याद रखना चाहिये कि तोप गोलों पर निर्भर रहनेवाले मनुष्य वास्तव में भीरु और कमजोर होते हैं। जब तक उनके हाथ में बन्दूक है और उसे चलाने का अवसर उन्हें प्राप्त है तब तक उनकी बहादुरी है। बन्दूक हाथ से छिन जाते ही वे शत्रु के प्रहार से अपनेको बचाने में अक्षम हो जाते हैं। हमारे पूर्वज—महावीर, भीम आदि को तोप गोलों के बिना ही सारी शक्ति प्राप्त थी जो समय-कुसमय उन्हें शत्रु से बचा सकती थी। वृक्ष उखाड़ कर, पहाड़ के चट्टान तोड़कर वे शत्रुओं का संहार करने और आर्तजनों की रक्षा करने में समर्थ थे। मुष्टिका प्रहार मात्र से आततायियों का कचूमर निकाल सकते थे।

योगदर्शन में लिखा है कि उदान वायु को अपने अनुकूल कर लेने से हमारी अव्याहत गति हो जाती है। हम जहाँ भी इच्छा कर, जा सकते हैं, जहाँ चाहें चल सकते हैं।

'उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च'

उदान के जय से हम चाहें जल, पङ्क और कांटों पर चल सकते हैं। उनपर चलते हुए हमारे पांवों से जल, पङ्क और कांटों का स्पर्श तक नहीं हो सकता। हम जल पर चलें पांव नहीं भीगेंगे, कांटों पर चलें पांवों में कांटे नहीं गड़ेंगे। हम चाहें, बिना हवाई जहाज के आकाश में स्वच्छन्द विचरण कर सकते हैं।

आज हम कृत्रिम रेडियो यन्त्र पर गर्व करते हैं। हम समझते हैं आकाश पर हमारी विजय हो गई। परन्तु हृदय के आकाश को निर्मल बनाकर योगी जन अपनी अन्तरात्मा में ही आंख, कान आदि बाहरी इन्द्रियों को बन्दकर भूत, भविष्य, वर्तमान के सारे दृश्य देखा करते थे। उनके हृदय में ही आकाश-वाणी हुआ करती थी।

राम रावण का युद्ध क्या है? वास्तव में यह प्राकृतिक तत्त्वों और कृत्रिमता का युद्ध है। रावण कृत्रिमता का अवतार था। उसके पास हवाई जहाज और बिजली के यन्त्र आदि थे। राम प्राकृतिक तेज के अवतार थे। उनके पास न तो थे विमान और न थीं मशीनें। सीता माता पृथ्वी माता थीं। कहा भी जाता है—वह पृथ्वी से निकलीं पृथ्वी में ही समा गईं। राम से रावण की पराजय कृत्रिमता का प्राकृतिकता से पराजय का द्योतक है।

ज्यों-ज्यों कृत्रिमता का बढ़ाव हो रहा है त्यों-त्यों तत्त्वों की शक्ति घट रही है। इनकी शक्ति घटने के साथ-साथ प्राणिमात्र की एवं खाद्य पदार्थों की शक्ति भ . ही है।

आज कृत्रिम साधनों से जो अन्न पैदा किया जा रहा है उसी का बुरा परिणाम प्रत्यक्ष देखने में आ रहा है। अब अन्न में उतनी ताकत नहीं रह गई है जितनी आज से सौ वर्ष पहले थी। वही हालत कृत्रिमता से तैयार किये हुए जल की है। हमारे शरीर को स्वस्थ और सबल बनाये रखने की जो शक्ति प्राकृतिक झरनों एवं (हमारी कृत्रिम गन्दगी से अदूषित) नदियों के जल में है वह शक्ति शहरों को नलों से आनेवाले जल में नहीं है। कल-कारखानों के कारण नगरों का वायु इतना जहरीला हो रहा है कि नगरनिवासियों की आयु और शक्ति का दिन-प्रतिदिन ह्रास हो रहा है।

कृत्रिमता के कारण आज रात को भी दिन बनाया जा रहा है। उसमें अग्नितत्त्व का बिजली आदि के रूप में अति अधिक मात्रा में उपयोग होता है। इससे अग्नितत्त्व का ह्रास हो रहा है। जैसे बैटरी में जितना चार्ज दिया जाता है उसका उचित मात्रामें उपयोग करने से वह अधिक समय तक काम करती रहेगी, परन्तु यदि उसका अधिक मात्रा में व्यय किया जायगा तो वह शीघ्र ही समाप्त हो जायगी। वैज्ञानिक कहते हैं कि सूर्य का ताप घट रहा है। इसका कारण अग्नितत्त्व का कृत्रिमता के द्वारा अधिक उप-

योग ही हो सकता है। यदि यही क्रम जारी रहा तो इसका परिणाम भविष्य में हमारे लिये हितकर नहीं होगा।

तत्त्वों का अपव्यय करके जो नाना प्रकार के आविष्कार किये जाते हैं उनसे हमारी तृष्णा दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है और उससे अशान्ति की भी वृद्धि हो रही है। इन आविष्कारों के कारण हमारी शरीररूपी मशीन पुरुषार्थ करने से भी वञ्चित की जा रही है। इससे हमारी शक्ति का ह्रास हो रहा है।

प्राचीन ऋषि-मुनियों को भविष्य का ज्ञान था और इस कृत्रिमता के बुरे परिणाम को जानते हुए ही उन्होंने इसको नहीं अपनाया था। कृत्रिमता के बढ़ाव एवं तत्त्वों की शक्ति के ह्रास पर मेधावी पुरुषों को ध्यान देकर कृत्रिमता के बढ़ाव को रोकने एवं बढ़ी हुई कृत्रिमता को जड़ से नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिये। तभी हमारा कल्याण होगा।

अतएव हमें सर्दी, गर्मी, हवा, वर्षा को सहन करने का अभ्यास रखना चाहिये। हमें तेज, वायु जल आदि के सेवन से जो शक्ति प्राप्त हो सकती है उसे शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। हमें तत्त्वों का सर्वदा भोजन, भजन व सेवन करना चाहिये।

"तत्त्वमसि"

इस ब्रह्माण्ड की रचना तत्त्वों द्वारा ही हुई है। तत्त्व ही महान् अच्छेद्य, अनन्त व अविनाशी है। जिनके लक्षणोंका वर्णन शास्त्रकारोंने इस प्रकार किया है।

ईश्वर को जब सृष्टि रचने की इच्छा हुई तो पहिले महतत्व की उत्पत्ति की तथा महतत्व से त्रिविध अहङ्कार उत्पन्न हुआ। अहङ्कार से आकाश की उत्पत्ति हुई।

आकाश का गुण श्रीमद्भागवतानुसार :—

अर्थाश्रयत्वं शब्दस्य द्रष्टुर्लिंगत्व मेवच।
तन्मात्रत्वंच नभसो लक्षणं कवयो विदुः॥
भूतानां छिद्रदातृत्वं बहिरंतर मेवच।
प्राणेन्द्रियात्म धिष्ण्यत्वं नभसो वृत्तिलक्षणम्॥

अर्थात् आकाश शब्द गुणवाला तथा प्राणियों को बाहर एवं भीतर अवकाश देनेवाला प्राणेन्द्रियों को स्थिर रखनेवाला है।

वायुके लक्षण यथा :—

चालनं व्यूहनं प्राप्तिर्नेतृत्वं द्रव्यशब्दयोः।
सर्वेन्द्रियाणां आत्मत्वं वायोः कर्माभिलक्षणम्॥

अर्थात वृक्ष-शाखादिकों का चालन, तृणादिकों का संयोग, गन्धादिकों का संयोग, सम्पूर्ण इन्द्रियों का बल ये वायुके लक्षण हैं।

जलके लक्षण यथा :—

> क्लेदनं पिण्डनं तृप्तिः प्राणानाप्यायनोन्दनम् ।
> तापापनोदो भूयस्त्वं अम्भसो वृत्तियस्त्विमा ॥

अर्थात् आर्द्र करना, मिट्टी आदिका पिण्ड बनाना, तृप्ति करनेवाला, प्राणदाता, प्यास आदि की निवृत्ति, कोमल बनाना इत्यादि जलके लक्षण हैं। (तेज स्वरूप)

अग्निके लक्षण :—

> द्योतनं पचनं पानमदनं हिम मर्दनम् ।
> तेजसो वृत्तयस्त्वेता शोषणं क्षुत्तृडेवच ॥

अर्थात् प्रकाश देना, अन्नादिकों का पकाना, जलका पीना अन्न का खाना, हिमका पिघलना, शोषण करना, भूख तथा प्यासका जागृत होना आदि अग्निके लक्षण हैं। (तेज स्वरूप)

पृथ्वीके लक्षण यथा :—

> भावनं ब्रह्मणस्थानं धारणं सद्विशेषणम् ।
> सर्वसत्व गुणोद्भेद पृथ्वी वृत्ति लक्षणम् ॥

अर्थात् ब्रह्मकी प्रतिमादि रूपसे साकारता बनाना जलादिकी स्थिति तथा धारणा आदि सम्पूर्ण प्राणियोंके गुणोंको प्रगट करना, गन्धका धारण करना इत्यादि पृथ्वी के लक्षण हैं। (तेज स्वरूप)

हमारे महामहिम महर्षियोंने इन पांचों तत्त्वोंका गुण इस प्रकार वर्णन किया है। जबतक ये पांचों अलग २ रहते हैं तब तक अचेतन हैं तथा एकीभूत होनेपर चेतन होकर सृष्टि की

[illegible] करते हैं यथा—हिमालय पर्वत। हिम (बर्फ) जलतत्व है। जब तक पाँचों तत्वोंका सम्मिश्रण नहीं होता अचेतन (जड़) है। अकेला तत्व कोई भी कार्य्य करने में सक्षम नहीं है। अब आप तत्वोंके सम्मिश्रण का प्रत्यक्ष फल देखिये। हिम (बर्फ) जड़ है। परन्तु सूर्य्य (तेज) की किरणें हिमपर पड़ते ही हिम पिघली तथा वायु द्वारा गतिमान् होकर पृथ्वीपर आई। और नदी-नाले-कूप रूप होकर प्राणिमात्रको जीवन (प्राण) दे दिया। अर्थात् सम्पूर्ण पृथ्वी शस्यादि से हरी-भरी हो गई। तात्पर्य्य यह हुआ कि जबतक जलतत्व अकेला था, सृष्टिकार्य्य में असमर्थ था। पांचोंका गठन हुआ तब सृष्टि कार्य्यमें सक्षम हुआ इससे निर्विवाद सिद्ध हुआ कि चेतन यही है तथा अचेतन (जड़) भी यही है।

इन्हीं महान् तत्वोंके स्मरण तथा सेवन से हमारे पूर्वज ऋषि महर्षि बलिष्ठ एवं दीर्घायु तथा त्रिकालज्ञ होते थे। आज हमारी अवनति व अल्पायुका भी यही कारण है कि हम तत्वोंकी महानता को अज्ञानतावश भूल गये हैं। हमारी अज्ञानता तो इस अवनतिका मूल कारण रही ही है पर देशकी पराधीनता अर्थात् विदेशियों का इस पुण्यभूमि आर्य्यावर्त पर आधिपत्य भी प्रमुख कारणोंमें से एक है। जो हो यह हमारा दुर्भाग्य रहा कि हम अपनी निजी चीज को भूल गये और पाश्चात्य देशों के चकाचौंधमें आकर महर्षियोंके बतलाये हुए सत्मार्ग से विमुख हो गये हैं। जहाँ इतर धर्मावलम्बी या अन्य देशीय लोगोंने विज्ञानादि (कृत्रिम)

होती है जैसे पञ्जाब, मध्यदेश और राजपूताना आदि में आकाश स्वच्छ रहनेसे वहां की सब चीजें और प्राणि, मजबूत और बलिष्ठ होते हैं। वैसे ही बङ्गाल, आसाम आदि देशोंमें आकाश मेघाच्छन्न रहने के कारण यहां के निवासी व पशु और अन्नादि सभी कमजोर देखे जाते हैं। इन प्रान्तों का आकाश वैसाख से आश्विन तक मेघाच्छादित रहता है। जितना भी आकाश स्वच्छ और निर्मल रहेगा उसी देशके अनाज, फल, पशु मनुष्यादि सभी बलिष्ठ होंगे। उसी प्रकार बड़े २ शहर और छोटे गांववालोंमें अन्तर मिलेगा तथा छोटे गांववालों और जङ्गल वालोंमें भी—तदनुसार भिन्नता रहेगी। जैसे २ जिसे आकाश स्वच्छ मिलेगा वह उतनाही सबल होगा। खुले आकाशमें वायु तथा तेजको गन्दगी नाश करनेका विशेष अवसर मिलता है। जहां आकाश निर्मल (खुला) नहीं रहता वहां वायु गन्दगी को पूर्णरूपसे नाश नहीं कर सकती। ऐसा ही शरीर पर भी है। जितना शरीरमें अवकाश रहेगा उतना ही शरीर बलिष्ठ रहेगा। (यह आपको आहारके प्रसंगमें मिलेगा) प्रायः सभी देशोंमें कार्तिक से चैत्र तक आकाश निर्मल रहता है। अतः कार्तिक से चैत्र तक की ऋतु सभी जगह अच्छी व आरोग्यप्रद समझी जाती है। इसलिये यह स्पष्ट हुआ कि आकाश ही शक्तिरूपा है।

सदा भवानी दाहिनी सम्मुख रहे गणेश।
पांचदेव रक्षा करें ब्रह्मा विष्णु महेश॥

भवानी—आकाश तत्व। सदा सबके लिये मङ्गल जनक हैं।

पृथ्वी अनन्त और महान् है। वेदोंमें पृथ्वीका विस्तार "पञ्चा-शतकोटि योजन विस्तीर्णेति: पृथ्वी" अर्थात् चार अरब मील में है। यह प्रमाण आपको निरुक्तनिघण्टु—प्रथम अध्याय: पृष्ठ १३ में मिलेगा।

आधुनिक कालके भूगोलों में पृथ्वीका व्यास आठ हजार मील तथा विस्तार चौबीस हजार मीलका बताया है। यह जो विस्तार है वह एक खण्ड का है जो हमें दृष्टिगोचर होता है। परन्तु पृथ्वी पर ऐसे कितने ही खण्ड तथा कितने ही समुद्र, गरमजल व ठण्डेजलके एवं अग्नि व बर्फके पर्वत हैं। जहां न कोई पैदा होता है न पहुंच सकता है। कितनी जगह हमें गर्मजलके श्रोत देखनेको मिलते हैं जिनसे ज्ञान होता है कि पृथ्वी पर गरम जलके समुद्र भी हैं। ऐसा शास्त्रों से भी ज्ञान होता है कि समुद्र अनेक हैं तथा खण्ड भी।

राम—सूर्य्य (तेज) है। जिस प्रकार सूर्य्य अपने तेजसे अन्धकारका नाश करता हुआ संसारकी रचना कर प्राणियोंको जीवन (प्राण) देता है उसी प्रकार तेज स्वरूप राम भी तमाम प्राणिमात्र का कल्याण करते हैं। सूर्य्य और राममें कोई अन्तर नहीं है। उदाहरणार्थ—सूर्य्य अन्धकार को नाशकर सब चीजों को निर्मल बनाता है, शस्यादिकों का पाचन करता है, प्राणियोंको जीवन देता है, मान-मर्यादा पर दृढ़ रखता तथा आरोग्यता प्रदान करता है—उसी प्रकार अज्ञानांधकारमें पड़े हुए प्राणियोंको

आरोग्यादि प्रदानकर ज्ञान मार्गसे मर्य्यादामें स्थापित करना रामकी विशेषता है। अतः राम तेज तत्व है।

सीताराम—राम सूर्य्य—सीता पृथ्वी है। सूर्य्य और पृथ्वीका घनिष्ट सम्बन्ध है। सूर्य्यका प्रकाश होते ही पृथ्वीमें (गर्मी) व्याप्त हो जाती है। सूर्य्यकी किरण पहिले पृथ्वीपर पड़ती है और इसे गर्मी इसीसे प्राप्त होती है। ऐसे त्रिविधतापोप शमनार्थ अर्थात् विश्वकल्याणार्थ सूर्य्य और पृथ्वी तत्वसे सम्बन्धित सीताराम का स्मरण परम मङ्गल जनक है।

श्याम—श्याम और नारायण जलका नाम है। जैसे मनुस्मृति में लिखा है:—

आपोनारा इतिप्रोक्ता आपोवैनर सूनवः।
तायद्स्यायनं पूर्व्वेन नारायण स्मृतः॥

अर्थात् श्याम जल तत्व है तथा चन्द्रस्वरूप है। हमारे यहां वृन्दावनमें श्रावण मासमें जो उत्सव मनाया जाता है वह भी इस बातका द्योतक है कि श्रावण में पृथ्वी सस्यादिसे परिपूर्ण एवं हरी-भरी हो जाती है तथा सूर्य्य-पुत्री यमुना भी जलसे परिप्लावित रहती है। इससे सिद्ध हुआ कि जो उत्सव मनाया जाता है वह जल तत्व का ही है। श्यामके पर्य्याय वाची नाम:— नागके नथैया, वंशीके बजैया, टेढ़े चलैया, गिरवरके उठैया, काली-दहसें कूद पड़ा आदि उनका भी वास्तविक अर्थ जलतत्व ही है। जो कि आपको बद्रीनारायणजी के मार्गमें प्रत्यक्षभान होगा। अर्थात् इस मार्गमें भगवती गंगा कहीं भी सीधी नहीं है। सब

जगह टेढ़ी ही टेढ़ी हैं तथा रात-दिन बराबर वंशीकी आवाज या यों कहिए कि कलकल निनाद हो रहा है। जब घनघोर वृष्टि होती है तब सब नदी नाले कूदते-फांदते समुद्रमें जा गिरते हैं वहां उनको मर्य्यादा में बांध लिया जाता है। सब पृथ्वी पर्वतादि शेष भगवान् पर ही आश्रित हैं याने सब जलपर ही स्थित हैं।

गोविन्द, गोपाल भी श्याम भगवान् के ही नाम हैं। गोनाम पृथ्वी का है। पृथ्वीका पालन करने से ही श्यामका नाम गोपाल हुआ। गोविन्द भी संसार का पालनेवाला ही है।
यह सब श्याम का ही गुणगान है। श्याम की ही लीला है तथा श्याम की ही माया है।

यथा—"अपएव ससर्जादो" भगवान् ने शुरूमें जलकी रचना की। जलसे ही सृष्टिकी रचना है। जल ही सर्वव्यापक तथा सर्वत्र चलायमान है। पत्तोंमें, पेड़में, पौधोंमें, जलचरोंमें, पशु-पक्षियोंमें, मनुष्योंमें, सम्पूर्ण प्राणियोंमें, पृथ्वीमें, समुद्रोंमें, एवं वायुमें सब जगह नियमानुसार जलकी ही गति है। ज्वार-भाटा जो आता है वह निश्चित समयानुसार आता है अर्थात् जल ही चलायमान है।

शुक्ल यजुर्वेद २७।२५

आपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन् गर्भंदधानाजनयन्ती रग्निम्।
ततो देवानाथंसमवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषाविधेम ॥

हे प्रजापति देवत्ये त्रिष्टुभौ हिरण्यद्दष्टे प्रथमा द्व्यधिका। आपो ह इदमग्रे सलिल मेवासेति [११, १, ६, १] इति ब्राह्मण मेतयोः

कण्डिकयोर्निदान मूलं बोध्यम्। ह प्रसिद्धौ यत यदा पुरा आपो जलानि [illegible] प्राप्तः। को दृश्य आपः बृहतीः बृहत्यो महत्य बहुलाः। तदा गर्भं हिरण्य गर्भ लक्षणं दधानाः धारयन्त्यः अत-एवाग्नि जनयन्त्यः तस्मादग्निमुत्पादयन्त्यः। ततो देवानामसुः प्राणरूप। आत्मा लिङ्ग शरीररूपो हिरण्यगर्भः समवर्तत। कस्मै प्रजापति देवाय हविर्देयः।

भावार्थ—पहिले संसारमें महान् रूपसे जल पदा हुआ जल कैसा है कि हिरण्य-गर्भ लक्षण अग्निको उत्पन्न करनेवाला है। अग्नि ही देवताओंके प्राण हैं। क्योंकि उसी अग्नि देवको हम हवि प्रदान करते हैं।

शुक्ल यजुर्वेद ४।२

आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नोघृतप्व: पुनन्तु।
विश्वंहिरिप्रं प्रवहन्ति देवीः। उदिदाभ्य शुचिरापूत एमि।
दीक्षा तपसोस्तनूरसि तां त्वा शिवाथं शग्मांपरिदधे
भद्रं वर्णं पुष्यन्॥२॥

आपो अस्मानितिस्नात्वेति। मातरः जगन्निर्मात्र्यो मातृव-त्पालयित्र्योऽस्मान् कृतक्षीरान् शुन्धयन्तु शुन्धशुद्धौ शोधयन्तु किञ्च घृतप्व: घृक्षरणे जिघर्ति क्षरतिघृतंतेन क्षरित जलेननोऽस्मान् पुनन्तु शुद्धान् कुर्वन्तु। किञ्च। देवीः द्योतमाना आपो विश्वं हि। सर्वमेवरिप्रं पापंप्रवहन्ति प्रकर्षेणा नयन्तु। अहमाभ्योऽद्भ्यः उदुगच्छामि निर्गच्छामि। किम्भूतोऽहम शुचिः शुद्धः स्नानेन।

तथा आपूत: समन्ताद्भावेनान्त रपि शुद्ध आचमनेन शुचिरापूत इति। शब्दाभ्यां स्नानाचमनाभ्यां बहिरन्तश्च शुद्धिरुक्ता।

का [७, २ ; १६-१९] क्षौमंवस्तेनिष्पेष्टवैन्ब्रूयादहतं विचित-केशं प्रसारितदशं दीक्षातपसोरिति। वासोदेवता। हे क्षौमवस्त्र। त्वं दीक्षातपसो स्तनूरसि। दीक्षा दीक्षणीयेष्टि। तप उपसदिष्टिः दीक्षाभिमानि देवताया स्तपोभिमानि देवतायाश्चत्वं शरीरवत् प्रियमसि। तद्देवताद्वय शरीर भूतां त्वामहं परिदधे धारयामि किम्भूतांत्वां शिवांशग्मा मत्यन्तसुखरुपां कोमलत्वात्। किम्भूतोऽहम्। भद्रं वर्णंपुष्यन् कल्याणीं कान्ति पुष्यन्।

भावार्थ—जल मातृ-पितृ स्वरूप है कारण जगन्नियन्ता है। जल से ही मानवके शरीरकी स्नानसे तथा अन्तरात्मा को आचमनसे शुद्धि है। वही जल हमें पवित्र करे। विश्वकी कान्ति भी जल से ही है। सम्पूर्ण पाप भी जल से ही नष्ट होते हैं। हे क्षौमवस्त्र! मैं कल्याण कारिणी कान्तिको प्राप्त करता हुआ तेरेको धारण करता हूं। कारण कि तुम दीक्षा और तप दोनों का शरीर है।

राधे—जल की धारा को विलोम याने उलटकर पढ़नेसे राधा शब्द बनता है। वास्तवमें राधा याने धारा है। धारा अनेक हैं। इससे राधे! यह सम्बोधन हुआ। जलकी गति वायुसे है तथा वायुका शीतल स्वभाव है। अतः राधा वायु तत्व है।

राधे श्याम—राधे=वायु। श्याम=जल। जलका और वायुका अभिन्न सम्बन्ध है। वायुसे जल अलग नहीं है और जलसे वायु भिन्न नहीं है अर्थात् जलका धारासे नित्य-सम्बन्ध है। राधे श्याम का जो सम्बन्ध ऋषियोंने वर्णन किया है वह राधे और श्याम के नित्य सम्बन्ध का गुणगान है।

समुद्रमें जो भँवर उठते हैं वे वायु द्वारा ही उठते हैं। अर्थात् जलकी गति वायु द्वारा ही है। स्पष्ट रूपसे समझने के लिये प्रत्यक्ष देखिये। जब वर्षा आती है तब पहिले वायु आती है फिर जल आता है। वर्षा से पहिले ही वायुमें ठण्डक हो जाती है। जिससे यह ज्ञान होता है कि वायु और जलका सम्बन्ध है। वायु तथा जलका एक ही स्वभाव है। वायु शीतल है और जल भी।

जय—जय इति जया। जया नाम दुर्गाका है। दुर्गा तत्वों की जननी है। जैसे—"त्वंहि दुर्गादश प्रहरण धारिणीम्" अर्थात् दश भुजावाली दुर्गा यानी दश दिशाओंका आकाश। आकाशके आधार से ही सब तत्व सृष्टिकी रचना करते हैं। आकाश सबसे महान् तत्व है। कारण आकाशमें ही सबका सन्निवेश है। भिन्न २ भी सब तत्वोंके साथ आकाश है अर्थात् सर्व व्यापकत्व आकाश में ही है। जैसे—जय सीता, जय राम, जय सीताराम, जय राधे, जय श्याम, जय राधेश्याम. जय सीताराम, राधेश्याम। यह जो गुणानुवाद हमारे त्रिकालज्ञ महर्षियोंने किया है वह विश्वकल्याणार्थ ही किया,

गया है। अतः मानवमात्र का यह धर्म हो जाता है कि भगवन्नाम स्मरण इन तत्वोंकी भावनाओं से ही किया कर जिससे राष्ट्र उन्नंत एवं सबल बनकर, सबका कल्याण हो।

उपरोक्त निवेदन से आपको विदित हुआ होगा कि नित्य जिन नामोंका हम स्मरण करते हैं वह वास्तवमें तत्वोंका ही है। विशेष सुगमता से समझने के लिये कतिपय नित्यके हमारे व्यवहार में आनेवाले भगवन्नामोंका असली रहस्य भी इन तत्वोंसे ही सम्बन्धित है। जैसे—दशरथ के चारों भैय्या! दो श्यामवर्ण दो गौरवर्ण अर्थात् राम=सूर्य्य (तेज) भरत=पृथ्वी तत्व। लक्ष्मण=जल तत्व। शत्रुघ्न=वायु तत्व। रामके विषयमें तो विशद रूपसे लिख ही चुके हैं। अब भरत=भरण-पोषण करनेवाले का नाम है। अर्थात् सम्पूर्ण प्राणिमात्र का भरण-पोषण पृथ्वी से ही होता है। निष्कर्ष यह हुआ कि भरत पृथ्वी तत्व हैं। भरतका और रामका श्याम वर्ण है।

दो गौरवर्ण—लक्ष्मण और शत्रुघ्न। लक्ष्मण शेषावतार हैं शेष भगवान पर ही सम्पूर्ण भूमण्डल स्थित है। अर्थात् जल से ही सम्पूर्ण विश्वकी स्थिति है। इससे स्पष्ट हुआ कि लक्ष्मण जल तत्व है तथा गौरवर्ण है! शत्रुघ्न=शत्रुओंके नाश करनेवाले का नाम शत्रुघ्न है। शत्रु क्या है? इस शरीर का शत्रु गन्दगी (मैल, विकार, विकृति,) ही है। मानसिक कायिक और वाचिक त्रिविध विकार जन्य दोषोंका शमन वायु द्वारा होता है। शत्रुघ्न वायु तत्व

है। गौरवर्ण है। जलका और वायुका घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों ही गौरवर्ण हैं।

जहां सूर्यकी किरणें सीधी पृथ्वीपर (विषुवत रेखा पर) पड़ती हैं वहां गर्मी अधिक पड़ती है और वहांके निवासी श्याम रङ्गके ही होते हैं। जैसे—अफ्रिका आदि के निवासी।

जहां शीतका प्राबल्य होता है अर्थात् जहां जलका विशेष सम्पर्क है, वहां के निवासी गौरवर्ण होते हैं। जैसे—यूरोप आदि शीत प्रधान देशोंमें। अपने यहां भारतवर्षमें शीत भी अधिक नहीं है और गर्मी भी अधिक नहीं है। अतः यहां के निवासी गेहूं वर्ण होते हैं। यह सब तत्वोंकी ही माया है।

दशरथ अर्थात् दश दिशावाला आकाश। आकाश महान् है, उसीसे सब तत्वोंकी उत्पत्ति है तथा उसीमें सबका सन्निवेश है।

श्रीराम लक्ष्मण जानकी, जय बोलो हनुमानकी। राम लक्ष्मण जानकी इनकी व्याख्या तो विशद रूपसे ऊपर कर चुके हैं। श्री का अर्थ है 'दुर्गा' अर्थात् आकाश तत्व।

हनुमान=वायुपुत्र। अर्थात् यह वायु तत्व है। हनुमान का काम है शत्रुओं (राक्षसों) का नाश करना। शत्रुकी व्याख्या ऊपर बता ही चुके हैं।

अब आप आकाश तत्वके महत्वको समझिये। आकाश ही शक्तिरूपा है। यह जो ऋषियों द्वारा विशद विवेचन किया गया है उसे प्रत्यक्ष अनुभव कीजिये। जिस देश या स्थान का आकाश स्वच्छ (निर्मल) रहता है, वहां की सब चीजें मजबूत व बलिष्ठ

होती है जैसे पञ्जाब, मध्यदेश और राजपूताना आदि में आकाश स्वच्छ रहनेसे वहां की सब चीजें और प्राणि, मजबूत और वलिष्ठ होते हैं। वैसे ही बङ्गाल, आसाम आदि देशोंमें आकाश मेघाच्छन्न रहने के कारण यहाँ के निवासी व पशु और अन्नादि सभी कमजोर देखे जाते हैं। इन प्रान्तों का आकाश वैसाख से आश्विन तक मेघाच्छादित रहता है। जितना भी आकाश स्वच्छ और निर्मल रहेगा उसी देशके अनाज, फल, पशु मनुष्यादि सभी वलिष्ठ होंगे। उसी प्रकार बड़े २ शहर और छोटे गांववालोंमें अन्तर मिलेगा तथा छोटे गांववालों और जङ्गल वालोंमें भी—तदनुसार भिन्नता रहेगी। जैसे २ जिसे आकाश स्वच्छ मिलेगा वह उतनाही सवल होगा। खुले आकाशमें वायु तथा तेजको गन्दगी नाश करनेका विशेष अवसर मिलता है। जहाँ आकाश निर्मल (खुला) नहीं रहता वहां वायु गन्दगी को पूर्णरूपसे नाश नहीं कर सकती। ऐसा ही शरीर पर भी है। जितना शरीरमें अवकाश रहेगा उतना ही शरीर वलिष्ठ रहेगा। (यह आपको आहारके प्रसंगमें मिलेगा) प्रायः सभी देशोंमें कार्तिक से चैत्र तक आकाश निर्मल रहता है। अतः कार्तिक से चैत्र तक की ऋतु सभी जगह अच्छी व आरोग्यप्रद समझी जाती है। इसलिये यह स्पष्ट हुआ कि आकाश ही शक्तिरूपा है।

सदा भवानी दाहिनी सन्मुख रहे गणेश।
पाँचदेव रक्षा करें ब्रह्मा विष्णु महेश॥

भवानी—आकाश तत्व। सदा सबके लिये मङ्गल जनक हैं।

गणेश :—पृथ्वी का अधिष्ठातृ-देव हैं। सदा ही शुभ रहता है, विघ्न नाशक हैं। अतः पृथ्वी तत्व है।

ब्रह्मा-विष्णु-महेश :—हे तेज! हे जल! हे वायु! आप मेरी सर्वदा रक्षा करते रहो।

रक्षा किससे? अर्थात् शत्रुओं से। शत्रु कौन? गन्दगी, जल, वायु और तेज सदा ही गन्दगी को नाश करते रहते हैं। यही इनका स्वभाविक धर्म याने गुण है।

इस मानव शरीर की जो रचना है वह ब्रह्माण्डके अनुरूप है। शिवपञ्चवक्त्रत्रिनेत्र—कटिपर्यन्त भाग लिङ्ग है। लिङ्ग भागपर पांचों तत्वोंके पञ्चवक्त्र हैं अर्थात् नाभिचक्र पृथ्वी, हृदयस्थान अग्नितत्व (सूर्य) मस्तकमें चन्द्रमा, ब्रह्मरन्ध्र में वायुका स्थान तथा आकाश सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त है। त्रिनेत्र=दो चक्षु सम्पूर्ण विषयोंके देखने के लिये हैं तथा तीसरा ज्ञाननेत्र जिससे तत्वोंका ज्ञान होता है। तत्वों के ज्ञान और व्यवहार होनेसे ही मानव को सुख एवं कल्याणकी प्राप्ति होती है। यही शिवरूप है।

राम नाम सब कोई भजे, दशरथ भजे न कोय।
एक बार दशरथ भजे, कोटि यज्ञ फल होय॥

जैसे महान्को भजनेसे महान् और छोटेको भजने से छोटा होता है। मनुष्य तत्वोंके सामने तुच्छ है। कारण तत्व महान् हैं। मनुष्यतत्वोंका पहिला पुत्र है। मनुष्य ज्ञान शील प्राणी है। अतः वह ज्ञानके द्वारा अथवा योगाभ्यास द्वारा ब्रह्मलोक पहुंच सकता है। यह मौका केवल मनुष्य योनि में ही प्राप्त होता

है। ऐसे अवसर को छोड़ना अज्ञानता है। यह अभ्यास मानव को वचपनसे ही करना चाहिये। तत्वोंके प्राकृतिक आहार तथा तत्वोंके सेवन मननसे ही हम पुरुषार्थ द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति कर सकेंगे। पांचों तत्व अपने २ नियमानुसार सृष्टिकी रचना करते हैं। असंख्य प्राणी रोज तत्वोंसे पैदा होते हैं और असंख्य ही लीन होते हैं। परन्तु उनकी शक्तिमें किसी प्रकारका ह्रास नहीं होता। अर्थात् वे तो महान् के महान् ही रहते हैं।

हमारे पूज्य महर्षियों ने इन तत्वों का जितना विशद वर्णन किया है उन महर्षियोंको हमारा कोटिशः प्रणाम है। उन्होंने तत्वोंका ज्ञान सहित गुणगान किया था। उन तत्वों के अज्ञानता के कारण ही आज हमारी यह दशा है।

तत्वों से हमारा जितना सीधा सम्बन्ध रहेगा उतना ही हमारा उत्थान होगा। वायु, जल, तेज इनका सेवन एवं पृथ्वीसे उत्पन्न प्राकृतिक आहार तथा तत्वोंका भजन। अनुकरण बड़ोंका, शास्त्रोंका, अवतारोंका तथा ऋषि-महर्षियोंका होना चाहिये। भोजन, भजन, सेवन सीधा तत्वों से ही सम्बन्धित होना चाहिये। जैसे–हे आकाश! हे आकाश!! हे आकाश!!! हे वायु! हे वायु!! हे वायु!!! हे चन्द्र! हे चन्द्र!! हे चन्द्र!!! हे सूर्य! हे सूर्य!! हे सूर्य!!! हे पृथ्वी! हे पृथ्वी!! हे पृथ्वी!!! यही तत्वों का सीधा स्मरण है। हम चाहे इन्हें सीधे भज अथवा उपरोक्त

महर्षियों द्वारा वर्णित नामोंसे भजें परन्तु भावना हमारी महान-तत्त्वोंके भजने की ही होनी चाहिये।

तत्त्वोंका स्मरण भी समयकालानुसार होना चाहिये। जैसे—राजपूत (क्षत्रिय) जब रणाङ्गणमें जाता है तब उसको शक्तिकी आवश्यकता होती है उस वक्त भगवती दुर्गाका स्मरण ही श्रेयस्कर है। इसी तरह शीत-ऋतुमें भगवान् सूर्यका स्मरण ही हितकर है। वैसेतो सर्वदा पांचों तत्त्वोंका स्मरण ही करना चाहिये परन्तु जैसे २ जिसको जिस २ तत्वकी आवश्यकता हो समया-नुसार उसका स्मरण विशेष उपयोगी होगा कारण उस तत्त्वकी पूर्णता हो जायगी।

पांचों तत्व सत्यके अवलम्बन से ही नियमानुसार सृष्टि की रचना करते हैं। भगवान् का पूर्णरूप सत्य ही है। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"। अर्थात् सत्यस्वरूप भगवान् ही सृष्टिके रचयिता हैं।

बुद्धि अनन्त है। आकाश रूपिणी है। सत्यस्वरूपा होने से ही आकाश रुपिणी है। सत्यकी कमी से ही बुद्धिपर (छल-कपट रूपी बादल) आवरण आ जाते हैं।

अतः हमें चाहिये कि सर्व प्रथम हम सत्यका अवलम्बन करें। सत्यके अवलम्बन से ही हमारी सद्बुद्धि होगी जिसके द्वारा सत्य स्वभाव और सत्य आचरण होंगे। सत्य आचरण व सत्य व्यवहार से ही हम ध्रुव, हरिश्चन्द्र, युधिष्ठिर, आदि की तरह ब्रह्म लोक पहुंचेंगे।

सत्यकी महिमा

"सत्यमेव जयते नानृतम्"

धर्मैकतानाः पुरुषा यदासन् सत्यवादिनः।
तदा न व्यवहारोऽभून्न द्वेषो नापि मत्सरः॥
नष्टे धर्मे मनुष्याणां व्यवहारः प्रवर्तते।
द्रष्टाऽत्र व्यवहाराणां राजा दण्डधरः स्मृतः॥

व्याख्या :—तत्र धर्म्मः श्रुतिस्मृत्युदितः शिष्टाचारलक्षणश्च। धर्म एकस्तानो येषां ते धर्म्मैकतानाः। तनशब्दोऽत्र बलवाचो तेन धर्मैकबला धर्मैकप्रधानाश्च पुरुषा यदा आसन्निति यदा अभवन् तदा न व्यवहारोऽभून्न द्वेषो नापि मत्सरः। तस्मिन् काले एषां त्रयाणामसम्भवहेतुरयमेव प्रथमः। धर्मस्य व्यवहार-द्वेषमत्सरैः सह छायातपयोरिव विरोधः यत्रातपस्तत्र न छाया यत्र छाया तत्र नातपः। यदा धर्मस्तदा न व्यवहारद्वेषमत्सराः। यदा पुनरिमे तदा न धर्म इत्येतदर्थमेवेदमभिहितं भगवन्नारदेन 'धर्म्मैकतानाः……' इत्यादि।

धर्मका प्रधान रूप सत्य है। सत्य ब्रह्मका अन्यतम रूप है। श्रुति कहती है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।' धर्म, सत्य और ब्रह्म एक ही वस्तु हैं। जबतक मनुष्य धर्मपरायण था. सत्यवादी एवं सत्यव्यवहर्ता था तब तक उसे कानून को आव-

श्यकता नहीं थी। वह महान् था। उसके व्यवहार महान् थे। उसका शरीर, मन, आत्मा, बल, आयु, पुरुषार्थ आदि सभी महान् थे। द्वेष एवं मत्सरकी उत्पत्ति अधर्म-असत्यसे होती है। अधर्मका आश्रय पकड़ने पर ही हमें अपनी रक्षाके लिये झूठकी शरण जाना पड़ता है। धर्म केवल सत्य वचनमें नहीं सत्य व्यवहारमें भी है। अगर कोई अपना पावना हमसे मांगता है तो उस समय अपनी जेबमें रुपये नहीं रहते, किन्तु बक्समें रुपयोंकी मौजूदगीमें भी यह कह कर कि हमारे पास रुपये नहीं हैं, हम समझ लेते हैं कि हमने असत्य नहीं कहा। पर यहां हम सत्यका व्यवहार नहीं करते। यह तो वाक्छल है। बच्चेको फुसलानेके लिये झूठ बोलते समय हम ऐसा समझते हैं कि इससे हानि-लाभ कुछ नहीं, परन्तु हमारा यह ख्याल गलत है। इससे झूठ बोलनेकी अपनी आदत बढ़ती है, और बच्चेको एवं दूसरोंको झूठ बोलनेकी शिक्षा मिलती है। झूठ छोटा हो या बड़ा, हर हालतमें हमें उसे झूठ ही समझना चाहिये। यदि प्रमादवश ऐसा कभी हो जाय तो उसके लिये पश्चाताप करना चाहिये। क्योंकि धर्म व्यवहारमें वाक्छल नहीं होता। धर्मके व्यवहारमें वाणी एवं अर्थ समान होता है। छलकपट—नीतिका आश्रय तो तब लिया जाता है जब हम वास्तविक धर्मसे मुख मोड़ लेते हैं। महाभारतमें हम देखते हैं—दिनभर कौरव-पांडव लड़ते हैं और रातमें सब एक साथ बैठते बातें करते और भोजन आदि तक करते हैं। उसी प्रसङ्गमें भीष्मपितामहसे पूछा गया—देव, आप

कैसे मरोगे? पितामहने कहा—"तुम्हारे पक्षसे लड़नेवाले शिखण्डीको, जो पूर्व जन्मका स्त्री है, मेरे सामने करदो। मैं उसपर प्रहार नहीं करूंगा।

पितामह जानते थे—इस सत्य भाषणका परिणाम दुर्योधन पक्षका, जिसके यह एक सेनानी थे, हार और अपनी मृत्यु थी, फिर भी उन्होंने सत्य धर्मसे मुख नहीं मोड़ा इसलिये कि वे महान् थे। हार-जीत, जीवन-मृत्यु तो संसारके खेल हैं। इनसे जो वस्तु बड़ी है वह धर्म है, सत्य है। जब तक हम धर्मप्रधान थे तब तक हमारे बीच मामले-मुकदमें नहीं चलते थे। द्वेष-मत्सर का कहीं नामोंनिशान भी नहीं था। जबसे हमने धर्माचरण छोड़ा तबसे मामले-मुकदमे चलने लगे और द्वेष-मत्सरके हम शिकार बने। व्यवहार—मामले-मुकदमे, द्वेष एवं मत्सर—ये अधर्म हैं। सत्यसे विमुख होनेपर इनका बढ़ना आवश्यक है। जब तक हम आर्य स्वशासित थे, हमारें बीच मानवादि धर्म-शास्त्रोंका व्यवहार था। हम प्रमादवश फिसल जानेपर उसका दण्ड राजासे स्वयं मांगने जाते थें। हम समझते थे—कृता-पराधका दण्ड यदि राजा से इहलोकमें हम प्राप्त नहीं कर लेते तो उसके लिये हमें नरक जाना होगा।

सत्यव्रतं सत्यपरं निधानम् सत्यस्ययोनौं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यं ऋत सत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्ना॥

अर्थात्—सत्य प्रतिज्ञ, सत्य में ही स्थित, सत्य का कारण, सत्य का भी सत्य ऐसे सत्यात्मरूप प्रभु को हम शरण में हैं।

अर्थात् सत्य प्रतिष्ठ (दृढ़) पुरुष को ही भगवान् की प्राप्ति होती है।

धारणं सर्ववेदानां सर्वतीर्थावगाहनम्।
सत्यं च ब्रुवतो नित्यं समं वा स्यान्न वा समम्॥

चारों वेदों का पाण्डित्य एवं सब तीर्थों में स्नान ये भी सत्य बोलने की समता में आ सकते हैं इसमें सन्देह नही है।

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥

तराजू के पलड़ों पर यदि एक ओर रखें एक हजार अश्वमेध यज्ञ और दूसरी ओर रखें सत्य को तो सत्य का ही पलड़ा अधिक होगा (अर्थात् मन, वचन, एवं कर्म से सदा सत्य का पालन करनेवाला व्यक्ति एक हजार अश्वमेध यज्ञ करनेवाले से बड़ा है)।

सत्येन सूर्यस्तपति सत्येनाग्निः प्रदीप्यते।
सत्येन मरुतो वान्ति सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

सत्य से ही सूर्य तपता है, सत्य से ही अग्नि जलती है, सत्य से ही वायु बहती है। सब कुछ सत्य में ही प्रतिष्ठित है।

सत्येन देवाः प्रीयन्ते पितरो ब्राह्मणास्तथा।
सत्यमाहुः परो धर्मस्तस्मात् सत्यं न लंघयेत्॥

सत्य से ही देवता, पितर और ब्राह्मणों की प्रीति होती है। सत्य को ही परम धर्म कहा गया है। अतएव सत्य का कदापि उल्लंघन न करे।

मुनयः सत्यनिरता मुनयः सत्यविक्रमाः ।

मुनयः सत्यपथास्तस्मात्सत्यं विशिष्यते ॥

सर्वदा सत्य में निरत रहनेवाले, सत्य के लिये ही पुरुषार्थ और पराक्रम करनेवाले एवं सत्य से कभी भी न डिगनेवाले मनुष्य मुनि हैं एवं बड़ी उच्चकोटि के हैं। अतः सत्य ही सबसे बढ़कर है।

आत्महेतोः परार्थे वा नर्महास्याश्रयात्तथा ।

ये मृषा न वदन्तीह ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो सज्जन अपने लिये तथा पराये के लिये खेल (क्रीड़ा) और हँसी दिल्लगी में झूठ नहीं बोलते, वे ही सुखी हैं।

वृत्यर्थं धर्महेतोर्वा कामकारात्तथैव च ।

अनृतं ये न भाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो सज्जन जीविका एवं धर्म के लिये और इच्छा की पूर्ति के लिये कभी भी झूठ नहीं बोलते, वे ही सुखी हैं।

सत्यधर्मरताः सन्तः सर्वलिङ्गविवर्जिताः ।

धर्मलब्धार्थभोक्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो मनुष्य सत्य धर्म में सदा ही रत रहते हैं, किसी प्रकार का बाहरी आडम्बर नहीं रखते और सम्पूर्ण कुलक्षणों एवं दुर्व्यसनों से विरत रहते हैं और धर्मपूर्वक उपार्जित धन का उपभोग करते हैं, वे सुखी हैं। अर्थात् स्वर्गगामी हैं। धर्म में सत्य सबसे बड़ा है। वह भगवान्‌का अन्यतम रूप है। यदि केवल सत्य की साधनाकी जाय तो सब वस्तु अपने आप प्राप्त हो जायं।

॥ सत्यं शिवं सुन्दरम् ॥

निर्भयता

निर्भयता सारे सत्कर्मों का मूल है। निर्भीक पुरुष ही सत्य बोलने और सत्य आचरण करनेवाले होते हैं। वे ही धर्म और कर्त्तव्य के मार्ग पर अटल रह सकते हैं। संसार में जितने भी महापुरुष हो गये हैं वा अभी हैं वे निर्भयता के कारण ही धर्म परायण वा कर्त्तव्यशील हो सके हैं।

इस निर्भयता की प्राप्ति ज्ञान, पवित्र आचरण, प्राणी मात्र के हितचिन्तन और सर्वोपरि ईश्वर भक्ति से हो सकती है। हम दिन में जहाँ निर्भय विचरण कर सकते हैं रात्रि होते ही वहां जाने में कुछ संशय उत्पन्न हो जाता है। हमें अन्धकार में भय और प्रकाश में निभयता होती है। कारण यह है कि प्रकाश में सारी चीजें हमें स्पष्ट दीखती हैं। अन्धकार में हम जान नहीं पाते कि वहां पर क्या है, क्या नहीं; इसलिये भय की भावना उत्पन्न हो जाती है अतएव अज्ञान भयदायक ज्ञान निर्भयता देनेवाला है।

अशुभ कर्मों के अनुष्ठान से भी भय होता है। शायद भेद न खुल जाय, यह डर लगा रहता है। अमुक व्यक्ति हमारी दुर्बलता जानता है, वह रुष्ट हो जाय तो भेद खोल देगा। शुभ कर्मों के करनेवाले मनुष्य को सब जगह ही निर्भयता है। वह सर्वत्र स्वतन्त्र निर्भय विचरण करता है।

प्राणीमात्र के हितचिन्तन की भावना मनुष्य को पूर्णरूप से निर्भय बना देती है। हम सबका हित करें तो हमारा कौन अहित कर सकता है? योगशास्त्र में लिखा है कि जो मनुष्य मन, वचन एवं कर्म से अहिंसा का व्रती हो जाता है उसे हिंसक पशु तक बैर त्यागकर उसके मित्र हो जाते हैं। यहाँ तक कि सच्ची अहिंसा के प्रभाव से पशु अन्य पशुओं से भी वैर भाव छोड़ देते हैं। ऋषि-मुनियों के आश्रमों में बाघ और हरिण, सर्प और नेवले भी एक साथ खेलते थे। अतः हमारा कर्त्तव्य है कि हम मन, वचन और कर्म से दूसरे का कल्याण ही सोचें और करें। इसी से हम निर्भय हो सकते हैं एवं स्वयं कल्याण के भागी हो सकते हैं।

ईश्वर भक्ति द्वारा ईश्वर का शरणागत होना निर्भयता प्राप्ति का सबसे बड़ा साधन है। यह कहावत प्रसिद्ध है कि अपने मालिक की ड्योढ़ी पर कुत्ते भी बलवान् होते हैं। माता की गोद में छोटा-सा बच्चा भी पूर्ण रूप से निर्भय होता है। हम अपने सर्व शक्तिमान सर्वेश्वर सर्व व्यापक स्वामी के दरबार में रहकर निर्भय क्यों नहीं होंगे, अपनी जगज्जननी जगदम्बा की गोद में हमें किसका भय हो सकता है?

अतएव मनुष्य मात्र का कर्तव्य है कि वे सदा सत्कर्म करते रहें और सब कर्म ईश्वरार्पण करें। अहंभाव मनमें कदापि न लावें। यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि "करो कोई लाख करैइया कोई और है।" इसीसे हमारी सर्वदा उन्नति होगी। जब

उनमें जरा भी भय उत्पन्न हो, तो ईश्वर का चिन्तन करना चाहिये। ईश्वर की ओर मन लगाने से मन की अशान्ति दूर हो जायगी। निर्भय रहने से शान्ति की वृद्धि होगी और ईश्वर हमें सद्बुद्धि देंगे एवं सदा ही हमारे संगी रहेंगे।

माता-पिता को उचित है कि वे बच्चों को सदा निर्भयता का ही उपदेश दें। भय देनेवाली कैसी भी चर्चा उनके सामने कदापि न करें। वीर रस की बातें एवं महापुरुषों का इतिहास आदि उन्हें सुनाया करें। निर्भयता से ही ध्रुव, प्रह्लाद आदि महापुरुषों के नाम सदा ही अमर हैं। निर्भयता और सत्कर्मों के कारण उनका ईश्वर सहायक रहा है।

मन और इन्द्रियां

इस शरीर रूपी रथ पर रथ का स्वामी आत्मा सवार है। इस रथ में इन्द्रिय रूपी घोड़े जुते हुए हैं। मन (बुद्धि) सारथि है। इन्द्रियों के विषय—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—इन घोड़ों को लुभानेवाली और रास्ते से गिरानेवाली घास है जो रास्ते के बगल में गड्ढे में लगी हुई हैं। घोड़ों का दिल उस घास को देखकर ललचाता है। वे उसे खाने के लिये गड्ढे में उतरना चाहते हैं। उस समय यदि सारथि लगाम को ढीला छोड़े तो घोड़े गड्ढे में चले जायंगे। वे इस शरीर रूपी गाड़ीको भी साथ ले जायगे। गाड़ी गड्ढे में गिरकर चकनाचूर हो

जायगी उस पर सवार आत्मा, जो अपने गन्तव्य स्थान को जाना चाहता था, गड्ढे में गिरकर दुर्घटना का शिकार हो जायगा, अपने लक्ष्य पर नहीं पहुंच सकेगा। इससे स्पष्ट होता है कि मन के ऊपर कितना अधिक उत्तरदायित्व है। सारी ज्ञानेन्द्रियां—यथा, आंख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा एवं कर्मेन्द्रियां—हाथ, पांव, मुख, पायु (गुदा) और उपस्थ (जननेन्द्रिय) इस मनके अधीन हैं और इसकी सहायता से ही अपने-अपने कार्य करते हैं। इसलिये आवश्यक है कि मनसे सदा ज्ञान के सहित काम लिया जाय। मन जैसा होगा वैसे ही हम बनगे इसलिये मनको सदाही ऊँचा रखना चाहिये। कहा भी है कि 'मनके हारे हार है मनके जीते जीत।'

सिंह और हाथी के युद्ध में सिंह की ही विजय होती है, इसका कारण यह है कि सिंह के मन में निर्भयता है, उसे आत्मविश्वास है। इसी कारण अपने से सबल हाथीके ऊपर भी वह विजय प्राप्त करता है।

शास्त्र में कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः

अर्थात् मन ही मनुष्यों के बन्धन और मुक्ति का कारण है।

मन के सम्बन्ध में निम्नलिखित वेद मन्त्र विशेष मनन के योग्य हैं—

शिव संकल्प सूक्त

यजुर्वेद अध्याय ३४ मंत्र १ से ६

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

यह मन जाग्रत अवस्था में दूर-दूर जाता है। सुप्त अवस्था में भी वैसे ही जाता है। यह अत्यन्त वेगवान और सारी ज्योतियों का भी ज्योति रूप है। यह दिव्य शक्ति से युक्त मेरा मन शुभ संकल्पवाला हो।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

इस मन के द्वारा ही पुरुषार्थी, बुद्धिमान् एवं संयमी लोग यज्ञ (सत्कर्म, परोपकारादि) एवं युद्ध कार्य भी सफलतापूर्वक कर सकते हैं। यह मनुष्यों के बीच अपूर्व शक्तिवाला है। वह मेरा मन शिव संकल्प अर्थात् पवित्र कल्याणकारी निश्चयवाला होवे।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरंतरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

जिस मन के द्वारा ही ज्ञान-विज्ञान (एवं ब्रह्मज्ञान) चिन्तन शक्ति एवं धीरता की प्राप्ति होती है, जो मनुष्य में ज्योति रूप एवं अमृत रूप है, जिस मन के बिना कोई भी कम नहीं किया जा सकता वह मेरा मन उत्तम विचारवाला हो।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् के सारे व्यापार मन से ही ग्रहण किये जाते हैं (वास्तव में इस मन के मल आवरण और विक्षेप से रहित होने पर हम क्रान्तदर्शी बन सकते हैं, परमात्मा तकके दर्शन कर सकते हैं।) पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा अहंकार और बुद्धि इन सात होताओं द्वारा जो यह हमारा जीवनयज्ञ चल रहा है उस यज्ञका अधिष्ठाता मन ही है। वह मेरा मन शुभ संकल्प-वाला हो।

यस्मिन्नृचः सामयजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

जिस मनमें पद्य, गद्य एवं गतिमय सारे वेद रथचक्र में आरों के समान प्रतिष्ठित हैं। जिसके द्वारा ही सारे चिन्तन और मनन हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि आदि सृष्टि में भी परमात्मा ने जो ऋषियों को वेदों का ज्ञान दिया उस वेदज्ञान को उन हमारे पूर्वज ऋषियों ने मन के द्वारा ही ग्रहण किया। आज भी जो वेद शास्त्रादि के ज्ञाता हो सकते हैं वे भी उनको मन द्वारा ही ग्रहण और धारण कर सकते हैं)। वह मेरा मन शिव संकल्पवाला हो।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

रथ का सारथि जिस प्रकार घोड़ों को चलाता है उसी प्रकार मन इन्द्रियरूपी घोड़ों को चलाता हुआ हमारे शरीररूपी रथ का सारथि है। यह हृदय में स्थित सबसे अधिक वेगवान् एवं कभी बूढ़ा नहीं होनेवाला है। वह मेरा मन शुभसंकल्पवाला हो क्योंकि इसी से हमारा कल्याण हो सकता है।

मेरुदण्ड सीधा रहे

प्रत्येक मनुष्य को ध्यान में रखना चाहिये कि अपनी रीढ़ (मेरुदण्ड) सदा सीधा रहे। जप, पूजा, ध्यान के समय तो वह सीधी रहनी ही चाहिये। बैठते, चलते और सोते समय भी रीढ़ को सीधा ही रखना चाहिये। रीढ़ सीधी रहना आयु और स्वास्थ्य के लिये बहुत ही लाभदायक है। रीढ़ सीधी रहने से चित्त में सदा प्रसन्नता रहती है। रीढ़ रूपी यह दण्ड (मेरु दण्ड) यदि बराबर सीधा रहे तो वृद्ध अवस्था में सहारे के लिये लकड़ी के दण्ड (लाठी) की कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

गो-सेवा

गौ की रक्षा करना मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है। रक्षा उसकी शक्ति की ही करनी चाहिये। जिस वृक्ष से पुष्ट और सुमधुर फल लेने की हम आशा रखते हैं, उसकी यत्नपूर्वक रक्षा करके उसको मजबूत बनाने से ही हमारी आशा पूरी होती है, न कि उसकी जड़ काटने से। गोवंश की रक्षा भी तभी हो सकती है जब उसकी शक्ति की रक्षा की जाय। स्तन्यपायी प्राणिमात्र शैशव काल में माता के दूध से ही पलते हैं तथा शक्ति प्राप्त करते हैं। उस समय यदि उन्हें माता के दूध से वंचित कर दिया जाय तो वे कदापि पुष्ट, सबल और दीर्घजीवी नहीं हो सकेंगे। गौ के फलस्वरूप उनके बछड़े या बैल हैं। जैसे वृक्ष के फल मनुष्य के लिये उपयोगी हैं उसी तरह बैल की आवश्यकता मनुष्य मात्र के लिये है। उसके बिना मनुष्य की खेती-बारी बिलकुल ही नहीं चल सकती। बैल जितने ही अधिक शक्तिशाली होंगे उतनी ही हमारे कृषिकार्य की उन्नति होगी और हमें अन्न प्राप्त होगा। इसलिये आवश्यक है कि बैलों को शक्तिशाली बनाने के लिये हम उन्हें उनकी माताओंके दूध से वंचित न करें और उनकी शक्ति की बराबर रक्षा करें। पूर्ण रूप से गौ की रक्षा होने से ही अपना कल्याण होगा। प्राचीन कालमें बैलों के पराक्रम की उपमा हाथी

और सिंह के पराक्रम से दी जाती थी। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को स्थान-स्थान पर नरपुंगव के नाम से सम्बोधन करते हैं। पुंगव का अर्थ बैल (सांढ़) होता है। मनुष्यों में श्रेष्ठ को नरपुंगव कहा जाता था। कारण बल पुरुषार्थ सात्त्विकता एवं धीरता के प्रतीक होते हैं। वह पराक्रम बैलों को उनकी माता के दूध से ही प्राप्त था। प्राणिमात्र की शक्ति का आधार अपनी माता का दूध ही है।

महाभारत आदि पर्व अध्यायः तृतीयः श्लोक ३२ से ४६

आयोदधौम्य एक ऋषि रहा करते थे। उनके पास उपमन्यु नामक एक शिष्य विद्याध्ययन के लिये आया। तब महर्षि ने गो-सेवा सर्वप्रथम विद्या बतलाकर गोसेवार्थ गौओं को चराने के लिये उपमन्यु को भेज दिया वहाँ का वर्णन निम्न प्रकार है।

तं चोपाध्यायः प्रेषयामास वत्सोपमन्यो! गा रक्षस्वेति।

स उपाध्याय वचनादरक्षद्गाः सचाहनि गा रक्षित्वा दिवसक्षये गुरु गृह मागत्योपाध्यायस्याग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे।

तमुपाध्यायः पीवानमपश्यदुवाचनं वत्सोपमन्योकेन वृत्तिं कल्पयसि पीवानसिदृढमिति।

स उपाध्यायम् प्रत्युवाच भो! भैक्ष्येण वृत्तिं कल्पयामिति तमुपाध्यायः प्रत्युवाच।

मय्यनिवेद्य भैक्ष्यम् नोपयोक्त व्यमिति। सतथेत्युक्तो भैक्ष्यं चरित्वोपाध्यायान्यवेदयत्॥

स तस्मादुपाध्यायः सर्वमेव भैक्ष्यमगृह्णात। स तथेत्युक्तः पुनः रक्षन्नहनि रक्षित्वा निशामुखे गुरुकुलमागत्य गुरोरग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे।

तमुपाध्याय स्तथापि पीवानमेव दृष्ट्वोवाच वत्सोपमन्यो सर्व-मशेषतस्ते भैक्ष्यं गृह्णामि केनेदानीं वृत्तिंकल्पयसीति।

स एवमुक्त उपाध्यायं प्रत्युवाच भगवते निवेद्य पूर्वमपरं चरामितेन वृत्तिं कल्पयामीति तमुपाध्यायः प्रत्युवाच।

नैषान्याय्या गुरुवृत्तिरन्येषामपि भैक्ष्योपजीविनांवृत्युपरोधं करोषीत्येवं वर्तमानो लुब्धोऽसीति।

सतथोक्त्वा गा अरक्षद्रक्षित्वा च पुनरुपाध्याय गृहमागम्यो पाध्यायस्याग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे।

तमुपाध्यायस्तथापि पीवानमेव दृष्ट्वा पुनरुवाच वत्सोपम-न्योऽहंते सर्वं भैक्ष्यं गृह्णामि न चान्यच्चरसि पीवानसि भृशंकेन वृत्तिं कल्पयसीति।

आयोदधौम्यने कहा वत्स उपमन्यु भिक्षा भी नहीं लाता इस समय किससे वृत्ति चलाता है।

तब उपमन्यु अपने उपाध्यायको प्रत्युत्तर दे रहा है—

स एवमुक्तस्तमुपाध्यायं प्रत्युवाच भो एतासांगवां पयसा वृत्तिं कल्पयामीति। तमुवाचोपाध्यायो नैतन्न्याय्यं पय उपभोक्तुं भवतो मयानाभ्यनुज्ञातमिति।

भो! गुरो! मैं इस समय गौओंका कुछ दूध पीलेता हूं। जिससे वृत्ति कल्पित कर रहा हूं। तब ऋषिने कहा कि आपका

ऐसा करना ठीक नहीं है। कारण कि महादिनाथने गौओंके जो दूध बनाया है वह उनके बछड़ोंके लिये है न कि मनुष्यों के लिये। फिर कभी भी दूध ग्रहण नहीं करना। ऐसा करना ठीक नहीं है।

स तथेति प्रतिज्ञाय गा रक्षित्वा पुनरुपाध्याय गृहमेत्य गुरोरग्रतः नमश्चक्रे।

सतथेति प्रतिज्ञा करके गौओं की रक्षा कर—उपाध्याय के घर आकर गुरुको नमस्कार किया।

तमुपाध्यायः पीवनमेव दृष्ट्वोवाच वत्सोपमन्यो भैक्ष्यम् नाश्नासि न चान्यच्चरसि पयोन पिबसि पीवनसि भृशं केनेदानीं वृत्तिं कल्पयसीति।

भो! उपमन्यु। भिक्षा नहीं लाता है, गौओं का दूध भी नहीं ग्रहण करता फिर कैसे वृत्ति का निर्वाह करता है।

उपमन्यु कहता है—

सएवमुक्त उपाध्यायं प्रत्युवाच—भो! फेनं पिबामि यमिमे वत्सा मातृणां स्तनात्पिबन्त उद्गिरन्ति।

भो! उपाध्याय मैं फेन पीलेता हूं जिसको यह वत्स माताओं के स्तनसे पीते हुये गिरा देते हैं।

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच एतेत्वदनुकम्पया गुणवन्तो वत्साः प्रभूततरं फेनमुद्गिरन्ति तदेषामपि वत्सानां वृत्त्युपरोधं करोष्येवं वर्तमानः फेनमपि भवान्नपातुमर्हतीति। सतथेति प्रतिश्रुत्य पुनररक्षद्गाः।

उपाध्याय उपमन्यु को कहते हैं कि—भो ! उपमन्यु ! यह गौओं के वत्स तेरे लिये अनुकम्पा से अधिक फेन गिरा देंगे जिससे इन बेचारे वत्सों का वृत्युपरोध हो जायगा। इसलिये तुम फेन के भी अधिकारी नहीं हो। यहाँ पर जो शिक्षा है वह मनुष्य मात्रके लिये है।

वत्सं ददाति वै धेनुर्वृषभं कृषिकर्मणे।
कृष्या लोकाः प्ररोहन्ति तस्माद् गोमातृका नरः॥

गौ हमें खेती के लिये बैल रूप अपने बच्चे देती है। खेती से ही लोग जीते हैं। इस कारण मनुष्यों की माता गौ है, (न कि उसका दूध पीनेके कारण जैसी बहुत लोगोंकी भूल धारणा है)।

कथं हि वृषभाः क्षीणाः समर्थाः कृषिकर्मणे।
कथं वा सम्भवेदन्नं कथं वा लोकजीवितम्॥

कमजोर कृश शरीरवाले बल कैसे खेती के काम के योग्य हो सकेंगे ? फिर अन्न कैसे उत्पन्न होगा ? लोग जीवित कैसे रह सकेंगे ? अतएव गो दुग्ध के ग्रहण करने से मनुष्य का जीना ही कठिन हो जायगा।

पशवः पक्षिणः सर्वे मातरः पितरश्च नः।
पालनीयाः प्रयत्नेन श्रुतिरेषा सनातनी॥

अनादि निधना भगवती श्रुति ने पशु-पक्षियों को माता-पिता कहा है और उनका बड़े यत्न से पालन-पोषण करने का आदेश किया है। उनकी हिंसा कदापि न करनी चाहिये।

वत्सार्थं विहितं दुग्धं नरो मोहात् पिबेद् यदि।
वत्सघातसमं पापं भवतीत्यनुशुश्रुम ॥

गौ आदि पशुओं का दूध उनके बछड़ों के लिये विहित हैं। उसको यदि कोई मनुष्य अज्ञानवश पी लेवे तो उसे बछड़े की हत्या का पाप होगा, ऐसा बुद्धिमानों का कहना है।

दुग्धं हृत्वा कृशं कृत्वा प्रापय्य यमसादनम्।
वत्सं, धेनोः पयोगृध्नुः कथं पापैर्न लिप्यते ॥

गौ का दूध हरण कर उसके बछड़े को दुर्बल बनाकर उसे मृत्युमुख में पहुंचानेवाला, दुग्धलोलुप मनुष्य कैसे पाप से अछूता रह सकता है ?

गोदुग्धं मानवैर्भुक्तं वत्साश्चाहारवर्जिताः।
खर्वाश्च वृषभा जाता दुर्बलाश्च कलौ युगे ॥

मनुष्य गाय का दूध पी गया, बछड़े अपने अहार से वञ्चित हो गये। बैल छोटी कद के और कमजोर हो गये। ऐसी अवस्था कलियुग में हो गई।

वोढानड्वान् भवेद्राष्ट्रे इत्येवं वैदिकी श्रुतिः।
नरो हरति गोदुग्धं कथं स्यात् श्रुतिपालनम्।

यजुर्वेद की यह श्रुति है कि राष्ट्र में भार वहन करने में समर्थ अर्थात् खूब पुष्ट और सबल बैल होवें। मनुष्य यदि गाय का दूध हरण कर लेगा तो इस वेदाज्ञा का पालन कैसे हो सकेगा (क्योंकि बैल तो सबल न रह सकेंगे)।

(जिस वेद मन्त्र का प्रतीक ऊपर श्लोक में दिया गया है वह इसी पुस्तक में अन्यत्र वेदों की शिक्षा के वैदिक राष्ट्र के प्रकरण में उदधृत हुआ है। वह मन्त्र "आब्रह्मन् ब्राह्मणो" इस प्रकार आरम्भ होता है।

मातृदुग्धं हि जीवानामस्थिनिर्मापकं परम्।
पशुदुग्धप्रपाणेन दुर्बलास्थिर्भवेन्नरः ॥

माता के दूध से हड्डियां बनती हैं। अतएव पशुओं का दूध पीने से मनुष्य की हड्डियां कमजोर हो जाती हैं।

गोजाविमहिषाश्चैव येषां दुग्धे रुचिर्नृणाम्।
ते ह्यल्पजीविनः सर्वे चिरायुर्दुग्धपः कथम् ॥

गौ, बकरी, भेड़ी एवं भैंस जिनके दूध मनुष्य बड़ी रुचि से पीते हैं. सभी अल्पजीवी हैं। इस कारण उनका दूध पीनेवाला मनुष्य दीर्घजीवी कैसे हो सकता है।

शिशोः कलेवरं मातुः शरीरेणैव जायते।
मातृदुग्धं ततस्तस्य भोजनं प्राकृतं विदुः ॥

शिशु का शरीर माता के शरीर से ही बनता है। अतएव माता का दूध बच्चे का प्राकृतिक भोजन है।

हरिवर्षसमुद्भूताः शाकाहारप्रवतकाः।
दुग्धं मांससमं प्राहुर्जीर्णक्षेत्रस्य शिष्यकाः ॥

युरोप महादेश में उत्पन्न शाकाहार के प्रवर्त्तक युरोप में वेजिटेरियन सोसाइटी नामक मांसाहार विरोधिनी एवं फलाहार और शाकाहार की प्रचारिका संस्थाके सभासद्) ओल्ड-

फिल्ड (जीर्ण क्षेत्र) के जो वेजिटेरियन सोसाइटी के प्रधान हैं, के अनुयायी दूध को मांस के समान ही वतलाते हैं।

वास्तविक गोपालन क्या है? निःस्वार्थभाव से गोवंश की सेवा करते हुए उनकी नस्ल की सर्वतोभावेन उन्नति करना ही गोपालन है। असल में उन्नति तभी हो सकेगी जब निष्काम (व्यक्तिगत स्वार्थ को छोड़कर) सेवा की जायगी। हमने जब गऊके दूध को अपने निजी स्वार्थ के लिये लेलिया और बदले में उसका ज्यादा से ज्यादा दूध प्राप्त हो, इस उद्देश्यसे उसका भरण-पोषण-पालन किया तो इसी को हमने गोसेवा कह डाला। यह वास्तविक गोसेवा नहीं यह तो व्यवहार है। मनुष्य का व्यवहार तो मनुष्य से होता है। मनुष्य और पशु के धर्म भिन्न २ हैं।

कई शताब्दियों से हमारे देशपर मांसाहारियों का शासन होने से हमने भी धीरे २ उनकी देखादेखी अपना आहार उनके अनुरूप बना लिया। अगर आप दूधके वैज्ञानिक विश्लेषणपर ध्यान देंगे तो आपको स्पष्ट विदित होगा कि दूधमें क्या २ पदार्थ मिलते हैं और जो पदार्थ मिलते हैं वे हमारे शाकाहारियों के खाने लायक नहीं हैं। वह तो मांसाहारियों का खाद्य है। हमारे यहाँ तो दूध का वेचना भी पाप माना है तब दूध लेना किस प्रकार न्यायसंगत हो सकता है।

आजकल तो गली २ में दूध तथा दूध से बने पदार्थों की दूकानें हैं। यह जो व्यवहार है वह गर्तमें ले जानेवाला है।

हमारा व्यवहार तो तत्त्वों से होना चाहिये जिससे हमारा उत्थान होगा।

प्रकृति देवीने दूध बच्चेके लिये बनाया है। उसे बच्चे को न देकर हमने अपने प्रयोग के लिये ले लिया। हमने अपना दूध तो दूसरे को नहीं दिया तब निरीह पशुका दुग्ध लेना कहाँ की बुद्धिमत्ता है। पशु दुग्ध से तो स्थूल मेदा बनता है उससे शरीर का अवकाश रुकता है जो कि हमारे लिये हितकर नहीं है। हम तो शाकाहारी (सूक्ष्म मेदावाले) हैं। जब हमने पशुदुग्ध ले लिया तो शाकाहारी किस प्रकार हुए। जैसे—

यथामांसं तथा दुग्धं, तयोर्भेदो न विद्यते।
रक्तेन निर्मितं दुग्धं, मांसं च भारतर्षभ॥

जैसा मांस है वैसा ही दुग्ध है। उनमें भेद नहीं है क्योंकि दूध और मांस दोनों ही खून से बनते हैं। तथा दोनों का गुण भी एक ही है। अतः दूध वास्तविक शाकाहार नहीं है। हमारा आहार तो सात्त्विक (प्राकृतिक) होना चाहिये।

हमारे यहाँ तो आयोदधौम्यादि महिमांकित ऋषियों ने जब फेन (झाग) लेने तक को वृत्युपरोध माना है तब दूध लेना कहाँ तक न्यायोचित है। अपने यहां दूसरे का हक मारना महापाप माना है और वह भी अज्ञानी बच्चे का हक मारकर हम अपने को उच्च समझने का गर्व करते हैं! यह कहाँ तक उचित है इसे तो पाठकगण ही समझ सकते हैं।

गो-शब्देनोदिता पृथ्वी सा हि माता शरीरिणाम्।
शैशवे जननी माता पश्चात् पृथ्वी हि दृश्यते ॥

अर्थात्—गो शब्द पृथ्वी का द्योतक है। देहधारियों की सबसे बड़ी माता पृथ्वी ही है। बचपन में अपनी माता दूध पिलाने के कारण माता है, पश्चात् जीवन पर्यन्त अन्नरूप दूध की टिकिया देकर पालन करनेवाली, आश्रय आदि देनेवाली होने के कारण प्रसिद्ध माता पृथ्वी ही है।

हे वसुन्धरा (पृथ्वी) आप हमारी रक्षा करो। हम अपनी रक्षा करने में असमर्थ हैं कारण हम तो पशु-व्यवहार में लिप्त हो गये हैं। अतः हमें सद्बुद्धि प्रदान कर दोनों का कल्याण करो। मेरा आप से यही नम्रनिवेदन है।

'गौ' शब्द से पृथ्वी, वाणी, इन्द्रिय, किरण, रत्न, स्वर्ग, माता आदिका ग्रहण होता है। तमाम मातृ-जाति 'गौ' शब्दके अन्तर्गत आती है जीवन में गाय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः निस्वार्थ भावसे उसकी रक्षा एवं सेवा करना मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य है।

ब्राह्मण-सेवा

मनुष्य जन्म की सफलता के लिये ज्ञान-विज्ञान की उन्नति की आवश्यकता है। यह तभी हो सकता है जब ज्ञान-विज्ञान के भण्डार, गुरु ब्राह्मणों की सेवा की जाय और उनसे उपदेश प्राप्त किये जायँ और उनके उपदेशानुसार चलकर ज्ञान की प्राप्ति की जाय।

महाभारत अनुशान पर्व अध्याय १५१ में लिखा है—

ते हि लोकानिमान् सर्वान् धारयन्ति मनोषिणः ।
ब्राह्मणाः सर्वलोकानां महान्तो धर्मसेतवः ॥
धनत्यागाभिरामाश्च वाक्संयमरताश्च ये ।
रमणीयाश्च भूतानां निधानं च धृतव्रताः ॥

विद्वान् ब्राह्मण सभी लोकों को धारण करते हैं । (अर्थात् स्वयं मर्यादा में रहते हुए सदुपदेश द्वारा मनुष्यमात्र को मर्यादा में रखते हैं) वे संसार में महान् हैं और धर्म के तो सेतु हैं । धन के त्याग से वे सबके स्पृहणीय हैं । वे अपनी वाणी पर नियन्त्रण रखते हैं । लोकप्रिय हैं, प्राणिमात्र के सुख के आधार हैं एवं सत्य, संयम आदि व्रतों पर दृढ़ रहनेवाले हैं ।

साधु सेवा

गृहस्थाश्रम से निवृत्त होकर ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर जो साधना से रहते हुए प्राणिमात्र के कल्याण का चिन्तन करते हैं और परोपकार निरत रहते हैं उन्हें साधु कहते हैं । उनकी सदा यही भावना होती है कि—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया: ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःख भाग्भवेत् ॥

सभी सुखी हों, सभी नीरोग रहें, सबका कल्याण हो. कोई दुःखी न रहे । ऐसे महानुभावों की सेवा करना और उनसे उपदेश ग्रहण कर तदनुसार आचरण करना, हम सबों का परम कर्त्तव्य है ।

माता-पिता और वृद्धजनों की सेवा

माता-पिता की सेवा करना मानव का परम धर्म है। माँ-बाप स्वयं आपदाओं को सहते हुए भी हमारी रक्षा करते हैं। तथा स्नेहमयी वाणी व सद्व्यवहार, ऐश्वर्यादि से परिपूर्ण कर हमारा पथ-प्रदर्शन करते हैं। सन्तान चाहे अयोग्य भी क्यों न हो परन्तु वे तो अन्तरात्मा से सन्तान के कल्याण की कामना ही करते हैं। उनकी भावना तो निरन्तर सन्तान के सुख-समृद्धि को देखने की ही होती है।

यह स्वाभाविक है कि मानव किसी को भी अपने से बढ़ा-चढ़ा नहीं देखना चाहता पर माँ-बाप ही ऐसे होते हैं जो अपनी सन्तान को अपने से भी सर्वाधिक सुखी व समृद्धशाली और यशस्वी देखने की अभिलाषा रखते हैं।

शुश्रूषते यः पितरं न चासूयेत् कदाचन।
मातरं भ्रातरं वापि गुरुमाचार्यमेव च॥
तस्य राजन् फलं विद्धि स्वर्लोके स्थानमर्चितम्।
न च पश्येत नरकं गुरुशुश्रूषयात्मवान्॥

भीष्मपितामह ने अनुशासन पर्वमें राजा युधिष्ठिर को उपदेश करते हुए कहा है कि जो मनुष्य पिता, माता, ज्येष्ठ भ्राता, गुरु, आचार्य आदि श्रेष्ठ पुरुषों की सेवा करते हैं और उनकी

निन्दा या बुराई कदापि नहीं करते वे सब प्रकार के सुख और सम्मान के अधिकारी होते हैं। वे कभी दुःख शोक नहीं भोगते।

माता-पिता गुरु आदि पूजनीय व्यक्तियोंकी आत्मा जो सेवा से प्रसन्न होकर आशीर्वाद देती है उससे ही घर को सुख-समृद्धि प्राप्त होती है। वह घर सदा फलता-फूलता रहता है।

वृद्धजनों की सेवा करना भी हमारा आवश्यक कर्तव्य है। उन महानुभावों को भी अति उचित है कि गृहस्थाश्रम से निवृत्त होकर वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश कर सभी वासनाओं एवं तृष्णा को त्यागकर सबको समभाव से देखते हुए, मन को उच्च रखते हुए, ईश्वर भजन और प्राणिमात्र का हित चिन्तन करते हुए अपनी आत्मा को उज्ज्वल बनावें।

शास्त्रों ने विद्या, कर्म, बन्धुवर्ग और धन के साथ ही आयुको भी मान का कारण बतलाया है। इसी लिये अपने यहाँ की तो यह परिपाटी रही है कि विद्वानों या धनवानों के भी लड़के बड़े बूढ़े शूद्रों को भी चाचा, दादा, भाई आदि शब्दों से सम्बोधन करते हैं।

मनुजी कहते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्॥

दूसरों से मिलने पर उन्हें अभिवादन (नमस्कार-प्रणाम आदि) करनेवाले एवं सदा वृद्धजनों की सेवा करनेवाले की आयु बड़ी होती है, उसकी विद्या बढ़ती, यश और बल भी बढ़ते हैं।

सच्चंगुरु वृद्धों की सेवा करने से, उन्हें प्रसन्न रखने से उनसे हमें उपदेश और आशीर्वाद प्राप्त होंगे। इससे हम सब प्रकारसे सुख समृद्धि प्राप्त करते रहेंगे। हमारा गार्हस्थ्य सम्पत्तिसे भरपूर होगा।

वृद्धों की सेवा क्यों करनी चाहिये, इसके कई कारण हैं। एक तो यह कि किसी समय जब वे कार्य करने में समर्थ थे, उन्होंने हमारे लिये, जो कुछ कर सकते थे, किया है। अब हमारा कर्तव्य है कि उनकी वृद्धावस्था में उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिये हम उनकी यथाशक्ति सेवा करें और उनके ऋण से मुक्त हों। दूसरा यह है कि अपनी बड़ी आयु के कारण उन्होंने संसार में उतार-चढ़ाव, जीवन के उत्थान-पतन की घड़ियाँ देखी हैं। उनका अनुभव बहुत अधिक है। यदि वे वयोवृद्ध होने के साथ ही विद्यावृद्ध और ज्ञानवृद्ध भी हैं तो उन्हें शास्त्र की विद्या और सत्यता के जीवन क्षेत्रमें साक्षात्कार करने का पर्याप्त अवसर मिला है। हमारी पुस्तक की विद्या केवल तोतारटन्त है। वृद्ध-जनों का ज्ञान अनुभवसिद्ध और प्रत्यक्ष है। अतः उन वृद्धों से जो ज्ञान हमें प्राप्त हो सकता है उसका मूल्य बहुत अधिक है। उनके उस ज्ञान और अनुभव को हम उनकी सेवा द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। किसी ने ठीक कहा है कि—

गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा।

विद्या प्राप्त करने का सबसे उत्तम तरीका गुरुकी सेवा है। इसलिये वृद्ध के अनुभव से लाभ उठाने के लिये भी वृद्धसेवा की परम आवश्यकता है।

अपने शास्त्रों और इतिहास-पुराणों में स्थान-स्थान पर हमें ऐसे प्रमाण मिलते हैं जहाँ वृद्धसेवा करनेवालों को ही यथार्थ विद्वान् या ज्ञानी माना गया है।

रामायण (वाल्मीकीय) युद्ध काण्ड सर्ग १८ श्लोक ८ में रामचन्द्रजी सुग्रीव के सम्बन्ध में कहते हैं—

अनधीत्य च शास्त्राणि वृद्धाननुपसेव्य च।
न शक्यमीदृशं वक्तुं यदुवाच हरीश्वरः॥

अर्थात् जिसने शास्त्र पढ़कर वृद्धों की सेवा नहीं की है वह ऐसा सुन्दर धर्मानुकूल नहीं बोल सकता जैसा सुग्रीव बोलते हैं

महाभारत सभापर्व में भीष्मपितामह राजसूय यज्ञ में अग्र-पूजा के लिये कृष्णजी का प्रस्ताव करते हुए कहते हैं—

ज्ञानवृद्धा मया राजन् बहवः पर्युपासिताः।
तेषां कथयतां शौरेरहं गुणवतो गुणान्॥

हे युधिष्ठिर, मैंने बहुत-से ज्ञानी वृद्धों की सेवा की है। उन सबों के मुख से मैंने श्रीकृष्ण के गुणों की प्रशंसा सुनी है।

उसी महाभारत के सभा पर्व में दुर्योधन अपने पिता धृतराष्ट्र से कहता है—

राजन् परिणतप्रज्ञो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः।
प्रतिपन्नान् स्वकार्येषु संमोहयसि नो भृशम्॥

हे राजन् आप परिपक्व ज्ञानवाले, जितेन्द्रिय और वृद्धसेवी हैं। धृतराष्ट्र युधिष्ठिर से उनकी प्रशंसा में कहते हैं। (महा-भारत सभा पर्व)

वेत्थ त्वं तात धर्माणां गतिं सूक्ष्मां युधिष्ठिर।
विनीतोऽसि महाभाग वृद्धानां पर्युपासिता॥

हे तात, तुम विनयी और बड़े बुद्धिमान हो, तुम वृद्धजनों की सेवा करनेवाले हो; धर्म की बारीकियों को जानते हो।

महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय १६३ में भीष्मपितामह युधिष्ठिर से कहते हैं—

दानेन भोगी भवति मेधावी वृद्धसेवया।
अहिंसया च दीर्घायुरिति प्राहुर्मनीषिणः॥

दान से मनुष्य भोग्य पदार्थों को प्राप्त करता है। वृद्धों की सेवा करने से मेधावी होता है और अहिंसा (मन, वचन और कर्म से प्राणिमात्र का हित साधन) से दीर्घायु को प्राप्ति करता है, ऐसा ज्ञानी बुद्धिमान पुरुष कहते हैं।

लक्ष्मीजी कहती हैं—मैं (वृद्धोपसेवानिरते च दान्ते) वृद्धों की सेवा करनेवाले जितेन्द्रिय मनुष्य के पास सदा रहती हूं। वृद्धजनों की सेवा और मदद द्वारा उनकी आत्मा को सब प्रकार से प्रसन्न रखना और शक्तिशाली बनाना हमारा परम धर्म है। जैसे किसान अपनी खेती के शेष भाग की उत्तम बीज के लिये रक्षा करता है जिससे आगे इन्हीं बीजों से पैदा हुए पौधे भी मजबूत हों। इसी तरह बीज रूपी आत्मा भी पहले जन्म में जितनी शक्तिशाली, ज्ञानसम्पन्न तेजस्वी होगी, पुनर्जन्म में भी वही शक्ति कायम रहेगी और वे शक्तिशाली आत्माएँ, ज्ञानी, तेजस्वी, तपस्वी, महापुरुषों के शरीर धारण कर हमारे भावी समाज को अत्यधिक समुन्नत और शक्ति-सम्पन्न बनायेगी।

पितृपूजा का तात्त्विक विवेचन

आत्मा का नाश नहीं होता है क्योंकि आत्मा अजर-अमर है। आत्मा के साथ भावना भी बराबर बनी ही रहती है। तत्त्वों से बना यह मानव शरीर अन्त में तत्त्वों में ही समा जाता है। अतः वह शरीर छोड़ने के पश्चात् भी तत्त्वरूप (पितृ) से हमारे कल्याण की कामना करते हैं। उनका हम से इतना गहरा सम्बन्ध हो जाता है कि तत्त्वरूप होकर भी उनकी भावना निरन्तर हमें फलता-फूलता देखने की ही रहती है। हम जो समय २ पर पित्रेश्वरों की पूजा श्राद्ध आदि करते हैं वह तत्त्वों की ही पूजा है। कारण मृत्यु पश्चात् मनुष्य तत्त्वरूप हो जाता है। जैसे—शास्त्रों में आया है। पिता—वसु (वायु) रूप, पितामह रुद्र (जल) रूप, प्रपितामह आदित्य (सूर्य) रूप हैं अर्थात् वायु, जल, सूर्य रूप होकर तत्त्वरूप पित्रेश्वर हमारी सर्वदा रक्षा करते रहते हैं तथा तत्त्वों की पूर्णता को प्राप्त होकर फिर हमारे घरमें पुत्रादि रूप में आ जाते हैं तथा गृहस्थ-रूपी फूलवाड़ी को हरीभरी कर देते हैं।

शुक्ल यजुर्वेद सं० १९।६७

येचेह पितरो येचनेह यांश्च विद्मयांश्च उचनं प्रविद्म।
त्वं वेत्थ यतिते जातवेदः स्वधाभि र्यज्ञं सुकृतं जुषस्व॥

अर्थात् जो पितर इस लोकमें हैं तथा जो इस लोकमें नहीं

हैं। जिन पितरों को हम नहीं जानते हैं तथा जिन पितरों को हम जानते हैं। हे अग्निदेव। उनको तुम जानते हो। पितृ (तत्व) निमित्त जो अन्न-जल दिया जाता है ऐसे अन्न का तुम उपभोग (सेवन) करो।

शुक्ल यजुर्वेद १९।६०

ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
तेभ्यः स्वराडसुनीति मे तां यथा वशं तन्वं कल्पयाति॥

जो पितर अग्नि से दग्ध हुए हैं तथा जो अग्नि से दग्ध नहीं हुए हैं। वे सब स्वधान्न को भक्षण कर प्रसन्न होते हैं। उन पितरों के लिये यम चिरकाल जीवन पुनः प्रदान करे। इस तरह हम अपने पितरों का आवाहन करते हैं। जिससे पुनः संसार में जन्म लेकर हमारी रक्षा करते हैं तथा पुत्र, धन उत्पन्न करते हैं।

शुक्ल यजुर्वेद १९।६६

त्वमग्न ईडितः कव्यवाहनावाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधयाते अक्षन्नद्धि त्वंदेव प्रयताहवींषि॥

हे ऋषि-महर्षियों से स्तुत कव्यवाहन! तुम सुगन्धित अन्न को धारण कर हमारे पितरों को प्रसन्न करते हो। उस अन्न को तुम भी भक्षण करो।

आर्षग्रन्थ स्पष्ट आदेश देते हैं कि:—

हे वसु! रुद्रादित्यरूप मेपितः इदंअन्नं
इमा आपः इदं मधुगृहाण।

अर्थात् हे वसु ! हे रुद्र ! हे आदित्य रूप ! मेरे पित्रेश्वरो ! मेरे द्वारा दिया हुआ जल अन्न और मधु ग्रहण करो ।

जो गृहस्थरूपी फूलवाड़ी है वह पित्रेश्वरोंकी ही देन है। उनकी दयामय पवित्र भावना से हम सुख सम्पत्ति का उपभोग करते हैं। इसलिये हमें अपने तत्वरूप माता-पिता की स्मृति सदा जीवित (बनी) रखने के लिये श्राद्ध-तर्पण, वलवैश्वदेवादि हमेशा शास्त्रोक्त नियमानुसार वार्षिक एवं पर्वादि तिथियों में यथा विधि करना चाहिये । जिससे हमारा कल्याण हो।

मां-बापका सन्तानके प्रति कर्त्तव्य

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज के भिन्न २ अङ्गों के प्रति मानव के भी भिन्न २ कर्त्तव्य होते हैं। इन्हीं के अन्तर्गत प्रधान कर्त्तव्य, सन्तान का लालन-पालन, चरित्र निर्माण, शिक्षा-दीक्षा, तथा सर्वतोभावेन सुयोग्य एवं सम्पन्न बनाना है। विशेषतया इस चरित्र शिक्षादि का निर्माण माता पर निर्भर है। जिसका वर्णन हमारे शास्त्र विशारदों ने जगह २ किया है।

बच्चेके जबतक पूरे जाड़ दांत न आजांय तबतक माताका दूध पिलाना चाहिये। माताके दूध से प्राप्त शक्ति के आधार से ही हम जीवनभर सुख सम्पत्तियों का उपभोग करते हैं। मातृ दुग्ध से ही अस्थि निर्माण होना कहा है जिनके बलपर यह मानव शरीर खड़ा

रहता है। माता के दुग्ध से ही मानव को पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है। यदि हम किसी कारण से बचपन में मातृ दुग्ध से वंचित रह गये तो जानो हम पुरुषार्थ से हीन रह गये, जैसे— रामायण में आया है।

जब मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी लङ्काविजय कर वापिस आरहे थे उस वक्त का प्रकरण है। भगवान् के साथ में ही लक्ष्मण, जानकी एवं हनुमान जी थे। राहमें हनुमानजी ने कहा मैं, अपनी मातासे मिलकर आता हूं तब भगवान् ने कहा हम भी साथ चलेंगे। ऐसा निश्चय कर वे सब-के-सब माता अंजनी के घर गये।

वहां पहुंचते ही माता अंजनी ने सबका आतिथ्य किया तथा पुत्र हनुमानजी से कहा कि साधारण से कार्य के लिये (सीता के लिये) तुमने इन सब को कष्ट दिया। तुम स्वयं ही कर सकते थे। इस बात को सुनकर लक्ष्मणजी को आश्चर्य हुआ तथा कहा हे माता आप इसे छोटासा ही कार्य समझती हैं ऐसी क्या बात है। इस बात के सुनते ही अंजनी ने अपने स्तन से दूध की धार सामने पर्वत की चट्टानपर मारी जिस धार से चट्टान के टुकड़े हो गये। तब माता ने कहा मेरे दूधसे पले बालक की ताकत भी पूर्णरूप से मैं ही जानती हूं। अस्तु लिखने का तात्पर्य यह है कि मातृ-दुग्ध से जो शक्ति हमें प्राप्त होती है वह शक्ति हमें संसारमें दूसरे किसी भी पदार्थसे नहीं मिल सकती है।

अतः हरएक माता से मेरी विनम्र प्रार्थना है कि ऐसे मौके को हाथ से न निकलने दें। ज्ञान सहित संयम से रहते हुए बच्चेको पूर्णदूध पिलाने का यत्न करें।

पशु-पक्षी भी अपने बच्चे को ज्यादा से ज्यादा दूध पिलाने की इच्छा रखते हैं। फिर माता की तो बात ही क्या! वह तो ज्ञानशील प्राणी है। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में मातृ-दुग्ध के पराक्रम की कथाएँ जगह २ आई हैं उसे आप लोग जानते ही हैं। माता की निगरानी पांच वर्ष तक पूर्णरूप से रहनी चाहिये। आजकल जिस प्रकार बच्चों को दायी, ग्वाले आदि नौकरों को सौंप, मां अपने कर्त्तव्य को पूरा समझती है— यह बड़ी भारी भूल है। माता के चरित्र का जो प्रभाव बच्चेपर पड़ना चाहिये वह न पड़कर उन नौकरों का प्रभाव उन बच्चों के जीवन पर आजीवन बना रहता है जो उनके संसर्ग में आरम्भ से रहते हैं। माता और बच्चे के प्रेम में इससे बाधा पहुंचती है। स्नेह सूत्रसे ही सृष्टि का व्यवहार है। आजकल की माता अपने को साजश्रृङ्गार में लीन रखती है। फैशन-परस्ती, सिनेमा, थियेटर आदि कार्यों में व्यस्त रहती है। वे केवल बच्चे पैदा करना मात्र अपना धर्म समझती हैं। अगर बच्चा साफ-सुथरा, चिकना-चुपड़ा हो और वस्त्र भी स्वच्छ हो तो किसी आगन्तुक व्यक्ति की तरह पाँच मिनट दिखावटी प्रेमकर अपने को भाग्यवान् समझती है। यों तो प्रत्येक साफ सुथरे बच्चे पर हरएक आदमी का आकर्षण होना स्वाभाविक ही है चाहे वह बच्चा पशु का ही

क्यों न हो। परन्तु वास्तव में माताका शृङ्गार सजावट, पूजा-पाठादि बच्चों की सेवा (पालन) ही है। माता के शील-स्वभाव तथा सेवा कर्म से ही उनका आसन सब से ऊँचा है।

बच्चों के साथ कभी भी उनकी इच्छा के प्रतिकूल जिद न करना चाहिये तथा न कभी उन्हें भय दिखलाना चाहिये। प्रेमके व्यवहार से ही उनसे काम लेना चाहिये। बच्चे की प्रसन्नता से उसके शारीरिक अवयवों की अभिवृद्धि एवं विकास होता है।

अस्वस्थता के समय में भी शान्ति का पूरा खयाल रखना चाहिये। शान्ति से ही पूर्ण आरोग्यता मिलती है। यह हमेशा ध्यान रखना चाहिये कि उनकी शान्ति कभी भंग न हो। पाँच वर्ष तक बच्चे की पशुसंज्ञा (अज्ञानी) मानी गई है क्योंकि तब तक उसे अपने पराये एवं भले-बुरे का ज्ञान नहीं रहता है। बच्चा देवस्वरूप है अर्थात् शुद्ध आत्मा है। किसी के प्रति किसी प्रकार के बुरे विचार या दुर्भावना उसके दिल में नहीं रहती है तथा पाप पुण्य से रहित है।

बच्चे के चरित्र-निर्माण के लिये ऐतिहासिक, पौराणिक तथा वीरोचित सुन्दर गाथाएँ सुनानी तथा समझानी चाहिये। किसी भी समय बच्चे को झूठे दमदिलासा देकर भुलानेका प्रयत्न न करना चाहिये। इससे बच्चे को झूठ की शिक्षा मिलती है तथा अपने लिये भी झूठ बोलने का प्रोत्साहन मिलता रहता है।

बच्चों को रात में कभी भी चुस्त कपड़े न पहनाने चाहिये क्योंकि इससे रक्त के आवागमन में बाधा पड़ती है जिससे स्वा—

स्थपर बुरा प्रभाव पड़ता है। उनको ऋतु के अनुकूल ढीले वस्त्र पहनाने चाहिये। सर्दी-गर्मी से रक्षा का सदा ध्यान रखना चाहिये।

शास्त्रीय आदेशानुसार जातकर्म, नामकर्म, अन्नप्राशन, चौलकर्म, कर्णवेधोपरान्त आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत संस्कार द्विजत्व की प्राप्ति के लिये होना परमावश्यक है। इसके पश्चात् पाठ-शाला में विद्याध्ययन करवाना चाहिये। पचीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ विद्याध्ययन द्वारा पूर्णज्ञान प्राप्तकर सर्वतो-भावेन सुयोग्य बन गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिये।

आज के बच्चे ही कलके लीडर (अग्रणी) राष्ट्र के कर्णधार हैं। उन्हीं पर जाति, समाज, देश एवं राष्ट्र की उन्नति निर्भर है। वे ही राष्ट्र के भावी स्तम्भ हैं। अतः उनकी प्रसन्नता, स्वास्थ्य, विचारधारा आदि का ख्याल रखना अत्यावश्यक है।

बच्चेकी हरएक गति-विधि, खान-पान आदि का पूरा २ ध्यान रखना परमावश्यक है। इनमें किसी प्रकार की असावधानी होने से फिर जीवन पर्यन्त चरित्र व स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अतः बच्चेको देरसे पचनेवाले गरीष्ठ अप्राकृतिक स्थूलमेदा बनाने-वाले आहार (मावा, रबड़ी, छेना, पशुदुग्धादि) न देकर, शुद्ध प्राकृतिक मधुर स्नेहयुक्त सूक्ष्म मेदा बनानेवाले सुपाच्य दलिया, खिचड़ी, मेवा, एवं फलों का रस प्राकृतिक दुग्धयुक्त ताजा अन्न आदि देना चाहिये। बच्चेको भोजन के लिये प्राकृतिक ताजा अन्न को पीस (अथवा क्षीरी अवस्थावाले) अच्छी तरह छान तथा गरम

कर मीठा बनाकर देना चाहिये। इस प्रकार का शिग्रपाची अन्न उसकी सुकोमल अंतड़ियों में किसी प्रकार की विकृति पैदा न कर उसके समुचित विकास का सहायक होगा। आवश्यकतानुकूल उसे मिताहार देना चाहिये।

हमारे यहाँ प्राचीनकाल में जो मिठाइयां बनती थीं वे बहुत दिनों तक स्थिर रहनेवाली एवं आरोग्यप्रद थीं। इसका कारण यह था कि उनमें सूक्ष्म मेदा बनानेवाले प्राकृतिक पदार्थ होते थे। जैसे—पिस्ते की बर्फी, बादाम की बर्फी, नारियल की बर्फी, बीजों की बर्फी, तिलों की बर्फी, अनेक किस्म की चीनी की बर्फी, आटे व बेसन की बर्फी, आटे के, बेसनके लड्डु, सीरा (लपसी) बिना घृत का, गुड़ की सहल, बताशे; चीनी के खिलौने, फलोंके मुरब्बे, कुम्हड़ा आदि। इन वास्तविक मिठाइयों के व्यवहार से स्वास्थ्य ठीक रहता था। ये अस्वस्थ अवस्था में भी किसी तरह का विकार पैदा नहीं होने देती।

मियादी बुखारवाले को भी पुराने लड्डू खोजकर दिये जाते थे क्योंकि उनके लिये ये हितकर एवं शक्तिदायक होते थे। प्राकृतिक मिठाइयों के व्यवहार से हमारे पूर्वज पराक्रमी होते थे। पहिले नमकीन चीजें तेल में तली जाती थीं। पश्चात् रूपान्तर होने लगा। धीरे २ घृतका चलन हुआ। घृतके लड्डू बनने लगे, फीकी चीज भी घृतकी बनने लगीं। हम मुलायम चीजों के इच्छुक बने। मावा, छेना की मिठाइयां बनने लगी। हम कोमलता के वशीभूत हो गये। आज हमने उसका यह रूप

बना लिया। ये चीजें इतनी कोमल हो गई कि बिना श्रम ही खायी जाने लगी।

विशेष घृतयुक्त होने से ये चीजें एक-दो दिन में ही दुर्गन्ध देने लग जाती हैं यह प्रत्यक्ष है। ये दुर्गन्धयुक्त चीजें शरीरमें जाकर पेट में दुर्गन्ध पैदाकर दूषित बना देती हैं जिससे स्वास्थ्य खराब हो जाता है। हमारी अँतड़ियों को कमजोर एवं विकृत कर नाना प्रकार की बीमारियों को पैदा करती है तथा अग्निको मन्द कर देती है। हमारे अनुभवी इन अप्राकृतिक मिठाइयों को गरिष्ट एवं भारी बताते हैं।

मिठाइयों का यह रूप भारतवर्ष के कुछ हिस्सों में ही है और कहीं नहीं है। पाश्चात्य देशों में आपको जो मिठाइयाँ मिलेगी वे तेलसे बनी अथवा चीनी की बनी घृत रहित ही मिलेगी। भोजन जो किया जाता है वह गुण के लिये किया जाता है।

अतः हमें अपने स्वास्थ्य का ख्याल रखते हुए विवेक वती बुद्धि द्वारा सत्यासत्य का निर्णयकर प्रकृति-प्रदत्त पदार्थों के बलपर ही जीवन यापन करना चाहिये। विषाक्त अप्राकृतिक पदार्थों का त्याग तथा अमृतमय प्राकृतिक पदार्थों का ग्रहण, इसी में अपना उत्थान है।

ब्रह्मचर्य की महिमा

आजन्ममरणाद्यस्तु ब्रह्मचारी भवेदिह ।
न तस्य किंचिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप ॥

भीष्मपितामह कहते हैं कि हे युधिष्ठिर जो जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहता है उसके लिये संसार में कोई पदार्थ दुर्लभ नहीं है, जो चाहे पा सकता है। (ब्रह्मचर्य से शक्ति प्राप्त होती है और शक्तिमान् पुरुष के लिये कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है।)

सत्ये रतानां सततं दान्तानामूर्ध्वरेतसाम् ।
ब्रह्मचर्यं दहेद्राजन् सर्वपापान्युपासितम् ॥

सदा सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य पर आचरण करनेवाले, इन्द्रियों का पूर्ण निग्रह करनेवाले, ऊर्ध्वरेता नैष्ठिक ब्रह्मचारियों का ब्रह्मचर्य व्रत सारे पापों, दुःख और दुर्गुणों को जला डालता है। तात्पर्य यह कि कोई पाप, दुःख, शोकादि उनके पास तक नहीं फटक सकते।

बिभेति हि यथा शक्रो ब्रह्मचारिप्रधर्षितः ।
तद् ब्रह्मचर्यस्य फलमृषीणामिह दृश्यते ॥

ब्रह्मचारी के क्रोध से इन्द्र जैसे पराक्रमी एवं सर्वैश्वर्यशाली राजा को भी भय होता है। अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचारी की

अतुलित शक्ति के सामने बड़े-से बड़े राजाओं को हार माननी पड़ती है। इस ब्रह्मचर्य के फल को, उसकी महिमा को ऋषि तुल्य नैष्ठिक ब्रह्मचारी इस लोक में प्रत्यक्ष देखते हैं।

अथर्ववेद काण्ड ११ सूक्त ५

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः सं मनसो भवन्ति।
सदाधारपृथवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति।

ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्याध्ययन करता हुआ विद्यार्थी ही पृथ्वी और द्यु लोक (सूर्यादि लोक) के रहस्यों की खोज कर सकता है। अर्थात् भूगोल और खगोल की सारी विद्याएँ प्राप्त करने की शक्ति लाभ कर सकता है। सारे देवगण (परमात्मा, अग्नि, जलादि तत्त्व, आत्मा एवं इन्द्रियादि तथा समस्त विद्वान्) उसके अनुकूल होकर उसकी सहायता करते हैं। वह अपने विद्यादि सामर्थ्य से पृथ्वी और द्यु लोक को मनुष्यमात्रके लिये अधिकसे अधिक कल्याणकारक बना सकता है अर्थात् उनसे बहुत अधिक लाभ उठा सकता है। (तात्पर्य यह है कि प्रभु को सृष्टि से अनंत लाभ उठाया जा सकता हैं परन्तु तपस्वी और ज्ञानी पुरुष ही वह लाभ उठा सकते हैं, साधारण लोग नहीं। गङ्गाके अविरत प्रवाह से जहाँ अज्ञानी मनुष्य एक चुल्लू जल ले सकता है वहाँ बुद्धिमान् गङ्गा में जहाज चलाकर लाखों मन खाद्यान्न लोगों तक पहुंचा सकता है।) ब्रह्मचारी ही अपने ब्रह्मचर्य से गुरु की महिमा को बढ़ा सकते हैं, जैसे सुक्षेत्रमें बोया हुआ बीज ही उपज सकता है—ऊपरमें पड़ा हुआ नहीं। उसी प्रकार

सत् शिष्य को पढ़ाकर ही गुरु का श्रम सफल होता है। उसको यश मिलता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥

ब्रह्मचर्यरूपी तपसे ही राजा (राष्ट्रपति) राष्ट्र की विशेष रूपसे रक्षा करने की योग्यता प्राप्त करता है। पूर्ण ब्रह्मचर्य रह-कर जिसने विद्या प्राप्त की है एवं जिसको गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त है वही सच्चा आचार्य (गुरु) होने की योग्यता रखता है।

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति॥

ब्रह्मचर्य से रहकर और विद्या प्राप्त कर कन्या अपने योग्य ब्रह्मचारी युवा पति को प्राप्त करे (तभी गृहस्थाश्रम सुचारु रूपसे चल सकता है)। सांड़ और घोड़े भी ब्रह्मचर्य से रहकर ही भरपेट घास खाकर पुष्ट होते हैं पश्चात् संतानोत्पत्ति के योग्य होते हैं।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्॥

ब्रह्मचर्यरूपी तप के द्वारा ही देवगण मृत्यु पर विजय पाते हैं (ब्रह्मचारी इच्छामृत्यु हो जाते हैं, मृत्यु से उन्हें लेशमात्र भी भय नहीं होता)। देवराज इन्द्र ब्रह्मचर्य के द्वारा ही देवों का सुख सम्पादन करते हैं। (ब्रह्मचर्य पूर्वक रहता हुआ राजा ही ब्राह्मणों

अर्थात् विद्वानों को सुखी कर उनके द्वारा धर्म की मर्यादा कायम रख सकता है। ब्रह्मचर्य के द्वारा ही आत्मा इन्द्रियों को सच्चा सुख प्रदान कर सकती है)।

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः।
संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः॥
पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये।
अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते याता ब्रह्मचारिणः॥

औषधियां (अन्न शाकादि के पौधे), भूत, भविष्य, दिन-रात, वृक्षादि एवं संवत्सर (वर्ष) इन सबों में ऋतुकाल है। इनमें क्रम है, पूर्वापरता है, पुष्प फल लगने के पृथक् समय हैं। अतएव इस जड़ सृष्टि में भी ब्रह्मचर्य के नियम का पालन हो रहा है। पृथ्वी, आकाश, जङ्गल और ग्राम के रहनेवाले पशु-पक्षी आदि सभी ऋतुकाल का पालन करते हैं अर्थात् समय पर ही सन्तान उत्पत्ति की क्रिया करते हैं, अतएव वे सब के सब ही ब्रह्मचारी हैं। गृहस्थ आश्रमवाले मनुष्य को भी ऋतुकाल में ही सन्तानोत्पत्ति निमित्त ही स्त्री प्रसंग करने की वेदों की आज्ञा है। वैसा ऋतुकालाभिगामी पुरुष भी ब्रह्मचारी ही है ; जैसा कि यह मन्त्र कह रहा है। मनु महाराज भी कहते हैं—

ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र कुत्राश्रमे वसन्॥

अर्थात् ऋतुकाल के अभिमानी और अपने पति वा स्त्री में ही निरत रहनेवाले गृहस्थाश्रमी स्त्री-पुरुष भी ब्रह्मचारी ही हैं।

श्रीमद्भागवत सप्तम स्कन्ध के १४ वें अध्याय में महाराज युधिष्ठिर के प्रश्न पर नारदजी गृहस्थधर्म के सम्बन्ध में उपदेश करते हैं—

सत्संगाच्छनकैः संगमात्मजायात्मजादिषु।
विमुञ्चेन्मुच्यमानेषु स्वयं स्वप्नवदुत्थितः॥

गृहस्थ को सदा सत्संग (अर्थात् धर्मात्मा, विद्वान्, परोपकारी, कर्मनिष्ठ एवं पवित्र आचरणवाले श्रेष्ठ पुरुषों का संग) करना चाहिये। स्त्री पुत्रादि में आसक्ति या ममत्व त्यागना चाहिये। परिवार पालन, और अपना कर्त्तव्य ईश्वरीय आज्ञा समझकर करना चाहिये।

यावदर्थमुपासीनो देहे गेहे च पण्डितः।
विरक्तो रक्तवत्तत्र नृलोके नरतां न्यसेत॥

गृहस्थाश्रम के लिये अर्थ (धन) की नितान्त आवश्यकता है (क्योंकि धन के बिना परिवार पालन पंच महायज्ञ आदि गृहस्थ के व्यापार चल नहीं सकते) धन का उपार्जन धर्मानुकूल साधनों से करने में यथाशक्ति तत्पर रहे। पर अपने शरीर और गृह आदि में आसक्त न हो जावे। शरीर तो धर्मार्जन का पहला और बड़ा साधन है और उसकी रक्षा कर उसे स्वस्थ और कार्य के योग्य बनाये रखना अपना आवश्यक कर्त्तव्य है परन्तु मिथ्या देहाभिमान, शरीर को सजावट और शृङ्गारादि में लिप्त न होना चाहिये। गृहस्थ को उचित है कि वह कभी भी पुरुषार्थ में (आलस्य) असावधानी न आने दे।

अर्थ से प्रयोजन है उस साधन से जिससे भौतिक शरीर की आवश्यकताएँ पूरी हो सके और शरीर स्वस्थ रहकर धर्म की प्राप्ति में साधक हो सके। अतएव अर्थ आवश्यक रूप से सिक्के या नोट को ही नहीं कहते हैं। सिक्के या नोट अर्थ तभी कहला सकते हैं जबतक उनका चलन है और वे शरीर के लिये आवश्यक पदार्थों की प्राप्ति में सहायक हो सकते हैं। शरीर के भोग्य पदार्थों की प्राप्ति तो पृथ्वी माता से ही होती है। मनुष्य की सारी आवश्यकताएँ पृथ्वी माता से ही पुरुषार्थ द्वारा पूरी होती हैं। अतएव हमारे लिये सच्चा धन तो पृथ्वी ही है।

ज्ञातयः पितरौ पुत्रा भ्रातरः सुहृदोऽपरे।
यद्वदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्ममः॥

माता-पिता, पुत्र, भाई, कुटुम्बी और मित्र जो कहें अथवा इच्छा कर उसका यथाशक्ति आसक्ति रहित होकर अनुमोदन करे। ये लोग जो कुछ कहते हैं वे हमारे हित के लिये ही कहते हैं इसलिये उनके कथनानुसार करने में ही अपना और उनका कल्याण होगा। यदि वे अपने लिये भी कुछ इच्छा करें तो उसकी पूर्ति भी तन-मन-धन से करनी चाहिये।

दिव्यं भौमं चान्तरिक्षं वित्तमच्युतनिर्मितम्।
तत्सर्वमुपयुञ्जान एतत् कुर्यात् स्वतो बुधः॥
यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

दैव (पूर्व जन्म के कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त) भौम (पुरुषार्थ द्वारा पृथ्वी माता से प्राप्त) एवं आन्तरिक्ष (अयाचित एवं अकस्मात् प्राप्त) तीनों प्रकार के जितने भी धन हैं वे सब परमात्मा के ही न्यास या थाथी के रूप में हैं। सब मनुष्यों को यह अत्यन्त उचित है कि वे ऐसा ही समझकर अपने प्राप्त धन का उपभोग कर वे जितने धन से अपना निर्वाह हो सकता है उतना ही धन अपना है। बाकी धन जो अपने पास है वह दूसरों के लिये अपने पास ट्रस्ट स्वरूप ईश्वर ने दिया है अतएव अपनी उदरपूर्ति के योग्य धन से अधिक धन को अपना समझना अज्ञानता है और दण्डनीय है। उसे प्राणिमात्र के हित में ही लगाना चाहिये।

मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृपखगमक्षिकाः।
आत्मनः पुत्रवत् पश्येत् तैरेषामन्तरं कियत्॥

मृग, ऊँट, गदहा, बन्दर, चूहा, सर्प, पक्षी, मक्खी अर्थात् प्राणिमात्र को पुत्र के समान प्रेम की दृष्टि से देखे। सारे प्राणीमात्र को ही अपना समझे। किसी से भेदभाव न रखे।

त्रिवर्गं नातिकृच्छ्रेण भजेत गृहमेध्यपि।
यथादेशं यथाकालं यथादैवोपपादितम्॥

त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति गृहस्थ भी अत्यन्त कष्ट के साथ न करे। देश, काल और ईश्वरेच्छा से पुरुषार्थ द्वारा जो प्राप्त हो सके उतने से सन्तुष्ट रहे। अर्थ और काम की प्राप्ति तो गृहस्थ के लिये आवश्यक है ही धर्म तो सबके

लिये ही प्रयोजनीय है परन्तु इन सबकी प्राप्ति के लिये भी शरीर को अत्यधिक कष्ट न देवे। धन की प्राप्ति के लिये थके होने पर भी खटते जाना और धर्मानुष्ठान के लिये दीर्घकालव्यापी उपवासादि से शरीर को क्षीण करना वर्जनीय है।

आश्वाघान्तेवसायिभ्यः कामं सं विभजेद्यथा।
अप्येकामात्मनो दारां नृणां स्वत्वमहो यतः॥

अपने प्राप्त साधनों से कुत्ते, पतित, चाण्डाल आदि तक को भाग देवे। बलिवैश्व, अतिथि सत्कार आदि कार्य करने के लिये अपनी एकमात्र स्त्री तक को विशेष रूपसे नियुक्त करे।

सिद्धैर्यज्ञावशिष्टार्थैः कल्पयेद् वृत्तिमात्मनः।
शेषे स्वत्वं त्यजन्प्राज्ञः पदवीं महतामियात्॥

पवित्र साधनों से धन उपार्जन करना चाहिये और इस प्रकार उपार्जित धन को यज्ञ कार्य में लगाना चाहिये। यज्ञ से बचे हुए धन से ही जीवन निर्वाह करे उसी को अपना समझे, बाकी धन को अपना न समझे। इस प्रकार जीवन यापन करने से मनुष्य अत्यन्त उच्च पद को प्राप्त होता है।

यज्ञ शब्द के तीन अर्थ होते हैं—'देवपूजा', 'संगतिकरण' और 'दान'। पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि देवों की प्रसन्नता सम्पादन करने के लिये होम यज्ञ करना, विद्वान् महात्मा सत्पुरुषों की संगति करना तथा उनकी सब प्रकार से सेवा और मदद करना एवं दीन, दुःखी, सत्पात्रों को दान देना ये सारे सत्कर्म 'यज्ञ' के अन्तर्गत हो जाते हैं। इन

सब कर्मों में धन लगाकर बाकी धन अपने उपयोग में लाना इसी को शास्त्रों में यज्ञ शेष का भोग करना कहा गया है।

देवानृषीन् नृभूतानि पितृनात्मानमन्वहम्।
स्ववृत्त्यागतवित्तेन यजेत पुरुषं पृथक्॥

अपने गुण कर्म स्वभाव के अनुकूल सद्वृत्ति से प्राप्त धनके द्वारा देवयज्ञ (अग्निहोत्रादि), ऋषि यज्ञ (स्वाध्याय, विद्या प्रचार आदि), नृयज्ञ (अतिथि सत्कार), भूतयज्ञ (बलिवैश्वदेव अर्थात् कुत्ता, कौवा, कीटादि, तथा कठिन रोगों से पीड़ित एवं अन्य प्रकार से पुरुषार्थ करने में असमर्थ मनुष्यों को अन्नदान) पितृ-यज्ञ (माता-पिता की सेवा एवं पितृ श्राद्धादि) करे, अपनी आत्मा को सन्तुष्ट रखे एवं अन्तर्यामी परमात्मा की आराधना करे।

यर्ह्यात्मनोऽधिकाराद्याः सर्वाः स्युर्यज्ञसम्पदः।
वैतानिकेन विधिना अग्निहोत्रादिना यजेत्॥

अपने जो अधिकार आदि हैं वे सभी यज्ञ की सम्पत्ति हैं ऐसा समझना चाहिये। जो कर्म जिस किसी पद या अधिकार से किये जायँ स्वार्थ की भावना से न किये जायें, बल्कि उनके करने में प्राणिमात्र का हित ही लक्ष्य हो। इसके अतिरिक्त हवन यज्ञादि भी मण्डपादि निर्माण कर विधि के अनुसार किये जायें।

न ह्यग्निमुखतोऽयं वै भगवान् सर्वयज्ञभुक्।
इज्यते हविषा राजन् यथा विप्रमुखे हुतैः॥

सब यज्ञों के भोक्ता परमात्मा का पूजन अग्निरूपी मुख में आहुति डालने से तो होता ही है उससे भी अधिक ब्राह्मणरूपी मुख में आहुति डालने से अर्थात् ब्राह्मणों की सेवा और सहायता करने से होता है। (वेदादि शास्त्रों में अग्नि को देवों का मुख कहा है। तात्पय यह है कि अग्नि में आहुति डालने से ही वह जल, वायु पृथ्वी, आकाश, सूर्यादि देवों को प्राप्त होती है और इससे वृष्टि द्वारा प्राणिमात्र का कल्याण होता है। परमपिता की सन्तान प्राणिमात्र का यज्ञ द्वारा हित साधन ही परमात्मा की सच्ची पूजा है। इसी कारण परमात्मा को यज्ञों का भोक्ता कहा गया है)। जिन ब्राह्मणों की सेवा सहायता का स्थान हवन यज्ञ से ऊपर कहा गया है वे ब्राह्मण कसे हों उसके सम्बन्ध में नारदजी युधिष्टिर से आगे चलकर यों कहते हैं—

पुरुषेष्वपि राजेन्द्र सुपात्रं ब्राह्मणं विदुः।
तपसा विद्यया तुष्ट्या धत्ते वेदं हरेस्तनुम्॥

हे राजन् मनुष्यों में सत्पात्र, सच्चे ब्राह्मण को इसलिये कहा गया है कि उनमें तपस्या, विद्या और सन्तोष होते हैं। वे परमात्मा के ज्ञानस्वरूप सर्वज्ञानमय वेदों को धारण करते हैं। (उन्हीं वेदों को धारण करते हैं। उन्हीं वेदों के प्रचार से संसार में धर्म की मर्यादा स्थिर रह सकती है। यज्ञादि सारे सत्कर्म ब्राह्मणों के वेद प्रचार द्वारा ही संसार में प्रवृत्त हो सकते हैं। अतएव सत्पात्र, विद्वान्, तपस्वी, संतोषी, वेदज्ञ ब्राह्मणों की सेवा और सहायता करके उन्हें पेट की चिन्ता से मुक्त कर देना और इस

प्रकार उन्हें स्वाध्याय करने और वेद प्रचार द्वारा प्राणिमात्र के कल्याण के लिये प्रयत्न करने का सुयोग देना निःसन्देह सारे सत्कर्मों का मूल है। हां, जो लोग कोई समाजसेवा का कार्य नहीं करते और कमाने में जो परिश्रम होगा उससे बचने के लिये ही आलस्यवश भिक्षावृत्ति करते हैं ऐसे लोगों का वचन मात्र से भी सत्कार न करना चाहिये ऐसी शास्त्रों की स्पष्ट आज्ञा है। कारण, ऐसे लोगों की सहायता करने से संसार में अकर्मण्यता फैल जायगी जो वांछनीय नहीं है। मनु० अ० ४ में लिखा है—

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः।
अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥

जो तपस्वी और विद्वान नहीं हैं एवं दान लेने में बड़ी रुचि रखते हैं ऐसे नाममात्र के ब्राह्मण अपने तो दुःखभागी होते ही हैं, अपने दाता को भी साथ ले डूबते हैं जैसे पत्थर की नाव पर चढ़कर समुद्र में तैरनेवाले समुद्र में डूब जाते हैं।

न वार्यपि प्रयच्छेत्तु बैडालव्रतिके द्विजे।
न बकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित् ॥ १९२

बिडालव्रतवाले अर्थात् धर्म का दिखावा करनेवाले, लोभी हिंसायुक्त स्वभाववाले बकव्रती अर्थात् बगुला के जैसे ध्यान करने वाले परन्तु सदा अपने स्वार्थ की ही चिन्ता में लगे रहनेवाले एवं वेदादि शास्त्रों को न जाननेवाले नाममात्र के ब्राह्मण को कुछ दान न देना चाहिये।

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम्।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥ १६३

ऊपर कहे हुए इन तीनों प्रकार के मनुष्यों को अपनी पवित्र कमाई का भी धन देनेवाले दाता का तो धन नाशरूप तत्काल ही अनर्थ होता है, वैसे लेनेवालों के भी इह लोक परलोक बिगड़ जाते हैं।

श्रीमद्भागवत स्कन्ध ७ अध्याय १५ में के निम्नलिखित उपदेश विशेष माननीय हैं—

असंतुष्टस्य विप्रस्य तेजो विद्या तपो यशः।
स्रवन्तीन्द्रियलौल्येन ज्ञानं चैवावकीर्यते ॥

संतोषरहित पुरुष की विद्या, उसके तेज, तप और यश सारे के सारे उसकी इन्द्रियों की चञ्चलता के कारण चू जाते हैं, उसका ज्ञान छिन्नभिन्न होकर नष्ट हो जाता है।

कामस्यान्तं हि क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधस्यैतत् फलोदयात्।
जनो याति न लोभस्य जित्वा भुक्त्वा दिशो भुवः ॥

भूखे और प्यासे रहने से काम की समाप्ति हो जाती है। (भूख प्यास से पीड़ित व्यक्ति को काम नहीं सता सकता है।) क्रोध का अन्त क्रोध जिस कारण से हुआ उसके निवारण से हो जाता है। किन्तु लोभ का अन्त तो पृथ्वी की सारी दिशाओं को जीतकर एवं उनपर राज्य करके भी नहीं हो सकता है। (अत-एव लोभ मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है उसपर विजय करके ही मनुष्य सुखी हो सकता है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम धर्मानु-

कूल पुरुषार्थ करते हुए परमात्मा की व्यवस्था से हमें जो प्राप्त हो जाय उसीमें सन्तोष करें। दूसरे के धन पर मन न चलाव और न अन्याय से कोई वस्तु लेने की इच्छा करें।)

पण्डिताश्चहवो राजन् वहुज्ञाः संशयच्छिदः।
सदसस्पतयोऽप्येके असंतोषात् पतन्त्यधः॥

हे राजा युधिष्ठिर, संसार में शास्त्रों के पण्डित बहुत हैं, उनका ज्ञान अपार है और वे अपने विद्याबल से दूसरे के संशयों का समाधान भी कर सकते हैं। बहुतेरे चतुर वक्ता भी हैं ए सभाओं में अपनी वक्तृत्व शक्ति से जनता को अपनी ओर आकृष्ट कर सकते हैं, उसे जिधर चाहें घुमा सकते हैं। परन्तु यदि एक असन्तोष उन विद्वान, शास्त्रज्ञ, व्याख्याताओं में है तो वह उनको नीचे गिराने के लिये पर्याप्त है। असन्तोष सारे सद्गुणों का नाश करनेवाला है अतएव हमें असन्तोष (लोभ) सर्वथा त्याग देना चाहिये।

असंकल्पाज्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात्।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात्॥

विषयों के चिन्तन से मन को हटाकर काम पर विजय प्राप्त करना चाहिये। काम वासना के त्यागने से क्रोध पर विजय होती है। लोभ पर विजय प्राप्त करने का उपाय यह है कि अर्थ से होनेवाले अनर्थों को समझे। अर्थ चार पदार्थों में से जो मनुष्य के लिये प्राप्तव्य कहे गये हैं अन्यतम है। संसारयात्रा (मनुष्य की) बिना अर्थ के एक क्षण भी नहीं चल सकती है

परन्तु उसके येनकेन प्रकारेण संग्रह करने से महान् अनर्थ भी होते हैं। इस बात को जो सर्वदा ध्यान में रखते हैं वे ही लोभ पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। भय पर विजय परमात्मतत्त्व के चिन्तन से होती है। परमात्मा हमारा पिता है, वह सब जगह वर्तमान है, हमें देख रहा है, हम उसके पुत्र हैं, वह हमारी रक्षा अवश्य करेगा। ऐसी दृढ़ भावना मन में रखने से हमें कदापि भय नहीं हो सकता है।

आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दंभं महदुपासया।
योगान्तरायान् मौनेन हिंसां कामाद्यनीहया॥

वेदादि शास्त्रों की चर्चा एवं स्वाध्याय से शोक और मोह पर विजय प्राप्त होती है। दंभ या मिथ्या अभिमान पर विजय अपने से बड़ों की सेवा या संगत करने से होती है। व्यर्थ इधर-उधर की बातें करना एवं व्याधि आदि जो योग अर्थात् चित्तवृत्ति के निरोध में बड़ी बाधाएँ हैं उन पर विजय पाने के लिये मौन का अवलम्बन करना ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। मन में कामादि के संकल्प न उठने देने से मनुष्य हिंसा या परपीड़न से निवृत्त होते हैं।

कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात् समाधिना।
आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया॥

भौतिक दुःख अर्थात् वे दुःख जो हमें दूसरे प्राणियों (चोर, सर्प, व्याघ्रादि) से प्राप्त हो सकते हैं कृपा अर्थात् प्राणि-मात्र के हितचिन्तन और कल्याण साधन से दूर होते हैं। दैव

दुःख अर्थात् मन, इन्द्रियों की चञ्चलता, किंवा पूर्व जन्म में किये कर्मों के फलस्वरूप जो दुःख हमें प्राप्त होते हैं उनका नाश समाधि द्वारा परमात्मा के चिन्तन से होता है। (वस्तुतः किये कर्मों का फल तो भोगना होगा परन्तु साधारण पुरुष की अपेक्षा भक्तों को दुःख की अनुभूति बहुत न्यून किंवा नहीं के बराबर होती है, वे पर्वत के समान बड़ी विपत्ति में भी विचलित और अधीर नहीं होते हैं)। आत्मिक दुःख अर्थात् आत्मा और शरीर के दुःख रोगादि 'आसन' प्राणायाम आदि योग के अङ्गों के अनुष्ठान से दूर होते हैं।

रामगुण वर्णन

वाल्मीकि रामायण अयोध्या काण्ड प्रथम सर्ग में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्रजी के गुणों का वर्णन—

स च नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं च भाषते।
उच्यमानोपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते॥

रामचन्द्रजी सदा ही शान्त चित्त रहते थे। मधुर वचन बोलनेवाले थे उनके प्रति यदि कोई कठोर वचन कहे तो उसका उत्तर नहीं देते थे।

कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥

उनका कोई एक बार भी कुछ उपकार कर दे तो उसे कभी नहीं भूलते थे। परन्तु उनकी बुराई बार-बार करने पर भी उसे भूल जाते थे, क्योंकि वे सबको अपना ही समझते थे।

शीलवृद्धैर्ज्ञानवृद्धैर्वयोवृद्धैश्च सज्जनैः ।
कथयन्नास्त वै नित्यमस्त्रयोग्यान्तरेष्वपि ॥

अस्त्रशस्त्र के अभ्यास से जो समय मिलता था उसमें वे चरित्रवान् ज्ञानी और वृद्धजनों के साथ ज्ञान की चर्चा किया करते थे।

बुद्धिमान्मधुराभाषी पूर्वभाषी प्रियंवदः ।
वीर्यवान्न च वीर्येण महता स्वेन विस्मितः ॥
न चानृतकथो विद्वान्वृद्धानां प्रतिपूजकः ।
अनुरक्तः प्रजाभिश्च प्रजाश्चाप्यनुरज्यते ॥

वे बुद्धिमान् एवं सदा ही मधुर और प्रिय बोलनेवाले थे। मिलनेवालों से पहले ही बोलते थे उनके बोलने की प्रतीक्षा नहीं करते थे। बड़े पराक्रमशाली थे परन्तु अपने बल का लेशमात्र भी अभिमान आपमें न था। वे कभी असत्य भाषण नहीं करते तथा वृद्धों की पूजा सत्कार करनेवाले थे। वे प्रजा को चाहते प्रजा उनको चाहती थी।

सानुक्रोशो जितक्रोधो ब्राह्मणप्रतिपूजकः ।
दीनानुकम्पी धर्मज्ञो नित्यं प्रग्रहवाञ्छुचिः ॥

वे दयालु थे क्रोध पर आपको विजय प्राप्त थी। ब्राह्मणों के पूजक, दीनों पर दया करनेवाले, धर्मज्ञ और इन्द्रियों को वश में रखनेवाले थे।

कुलोचितमतिः क्षात्रं स्वधर्मं बहु मन्यते ।
मन्यते परया प्रीत्या महत्स्वर्गफलं ततः ॥

अपने कुल की मर्यादा का उन्हें ध्यान था। क्षात्रधर्म में अनुरक्त थे एवं प्रजापालन को सारे सुखों का मूल मानते थे।

नाश्रेयसि रतो यश्च न विरुद्धकथारुचिः।
उत्तरोत्तरयुक्तीनां वक्ता वाचस्पतिर्यथा॥

सदा शुभकर्मों में रुचि रखनेवाले एवं नरके कल्याण में अपना कल्याण समझनेवाले थे। इधर उधर की वार्ता एवं वैर-विरोध की बातों में उनकी रुचि नहीं थी। कथोपकथन में युक्ति देने में आप बृहस्पति के समान थे।

आरोगस्तरुणो वाग्मी वपुष्मान्देशकालवित्।
लोके पुरुषसारज्ञः साधुरेको विनिर्मितः॥

वे सदा नीरोग रहते थे, उनकी युवावस्था स्थिर थी। वे चतुर वक्ता एवं प्रियदर्शन थे। किस मनुष्य में क्या सार (कौन कितने पानी में है) यह जान जाते थे और एक ही साधु थे।

स तु श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः।
बहिश्चर इव प्राणो बभूव गुणतः प्रियः॥

अपने श्रेष्ठ गुणों के कारण वे प्रजा के शरीर से बाहर स्थित प्राण के समान थे। साधारण प्राण तो शरीर के भीतर रहकर ही शरीरधारी को जीवित रखते हैं परन्तु आपमें यह विशेषता थी कि आप प्रजा के शरीर से बाहर थे फिर भी प्रजा आपके ही कारण जीवित थी।

सर्वविद्याव्रतस्नातो यथावत्साङ्गवेदवित्।
इष्वस्त्रे च पितुः श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः॥

आप सारी विद्याओं को समाप्त करके स्नातक हुए थे। ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्या समाप्ति के अनन्तर गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया था। शिक्षा, कला, व्याकरण, निरुक्त, छन्दः शास्त्र और ज्योतिष इन छः वेदाङ्गों के साथ चार वेदों का अध्ययन किया था। अस्त्र शस्त्र की विद्या में तो अपने पिता से भी बढ़चढ़ कर थे।

कल्याणाभिजनः साधुरदीनः सत्यवागृजुः।
वृद्धैरभिविनीतश्च द्विजैर्धर्मार्थदर्शिभिः॥

वे कल्याणों के निधान और परोपकारी थे। क्षोभ के कारण उपस्थित होनेपर भी सदा अक्षुब्ध रहते थे। किसी भी अवस्था में असत्य भाषण नहीं करते थे। छल-कपट तो आपको छू तक नहीं गया था। आपकी शिक्षा, वृद्ध, ज्ञानी, धर्मात्मा, विद्वानों द्वारा हुई थी।

धर्मकामार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान्प्रतिभानवान्।
लौकिके समयाचारे कृतकल्पो विशारदः॥

आप धर्म अर्थ और काम के यथार्थ स्वरूप को जानते थे। आपकी स्मरणशक्ति और प्रतिभा अपूर्व थी। लौकिक और सामयिक व्यवहारों में सफल पण्डित थे।

निभृतः संवृताकारो गुप्तमन्त्रः सहायवान्।
अमोघक्रोधहर्षश्च त्यागसंयमकालवित्॥

आप बड़े विनयी थे, आपके अभिप्राय गूढ़ रहते थे बाहरी आकृति पर उनका असर न दीख पड़ता था आपकी मन्त्रणा गुप्त रहती थी फल प्राप्ति पर्यन्त वह दूसरों पर प्रकट नहीं हो सकती

थी। राजकाज में आप मन्त्रियों से परामर्श लेकर कार्य करते थे। आपके क्रोध और हर्ष कभी निष्फल नहीं होते थे। जिस पर आपका क्रोध होता था उसका त्राण होना कठिन था जिस पर आपकी प्रसन्नता होती वह निहाल हो जाता था।

दृढ़भक्तिः स्थिरप्रज्ञो नासद्ग्राही न दुर्वचः।
निस्तन्द्रीरप्रमत्तश्च स्वदोषपरदोषवित् ॥

गुरु आदि मान्यजनों में आपकी दृढ़ भक्ति थी, आपकी बुद्धि निश्चल थी; आप असत् पुरुषों किंवा वस्तुओं का ग्रहण नहीं करते थे, अनुचित विषयों में आपका आग्रह नहीं था। दूसरे के दिल को दुखा देनेवाले वचन नहीं बोलते थे। आप आलस्य नहीं करते थे। कर्त्तव्य कर्मों के सम्पादन करने में शिथिलता नहीं करते। अपने दोषों और दूसरों के दोषों को अच्छी प्रकार जानते थे।

शास्त्रज्ञश्च कृतज्ञश्च पुरुषान्तरकोविदः।
यः प्रग्रहानुग्रहयोर्यथान्यायं विचक्षणः ॥

आप शास्त्रों के मर्म को समझनेवाले थे। अपने प्रति किये गये थोड़े से उपकार को भी नहीं भूलनेवाले थे। एक पुरुष से दूसरे पुरुष में क्या अन्तर है यह समझते थे अथवा किसी भी पुरुष के हृदय के भावों को जाननेवाले थे। यथोचित रीति से दंण्ड या पुरस्कार की व्यवस्था करने में प्रवीण थे।

सत्संग्रहानुग्रहणे स्थानविन्निग्रहस्य च।
आयकर्मण्युपायज्ञः सदृष्टव्ययकर्मवित् ॥

: आप अच्छे पुरुषों को खोज-खोजकर अपने पास रखते थे। उनके तथा उनके परिवार आदि के पालन-पोषण की उचित व्यवस्था करते थे। किसको दण्डादि द्वारा निग्रह करना चाहिये यह भली प्रकार जानते थे।

प्रजा का शोषण न करते हुए भौंरा जिस प्रकार फूलों से मधु-संचय करता है उसी प्रकार आप प्रजा से कर संचय कर राजकोष की वृद्धि करते थे और अपने भोग-विलास में प्रजा का धन व्यय न कर प्रजापालन के कार्यों में ही उस धन के व्यय करने की जो शास्त्रविधि है उसको जानने और तदनुकूल करने-वाले थे।

श्रेष्ठयं चास्त्रसमूहेषु प्राप्तो व्यामिश्रकेषु च।
अर्थधर्मौ च संगृह्य सुखतन्त्रो न चालसः॥

आप शस्त्रास्त्र की विद्या में तो निपुण थे ही (वेदादि के पंडित तो प्रसिद्ध ही थे)। संस्कृत, प्राकृत, आदि भाषाओं के इतिहास नाटकादि ग्रन्थों से भी परिचित थे। धर्म और अर्थ के संग्रह जिससे बाधा न पहुंचे उसी मात्रा में काम (शारीरिक सुख आदि) का सेवन करते थे। धर्म और (धर्माचरण पूर्वक) अर्थ की प्राप्ति में आलस्य नहीं करते थे।

वैहारिकाणां शिल्पानां विज्ञातार्थविभागवित्।
आरोहे विनये चैव युक्तो वारणवाजिनाम्॥

आप मनोविनोद और निर्दोष क्रीड़ा सम्बन्धी कलाओं, गीत-वादित्र एवं चित्रकारी आदि के ज्ञाता थे। न्यायोचित पुरुषार्थसे

उपार्जित धन को पांच विभागों में बाँटकर सद्व्यय करने की जो शास्त्रों की आज्ञा है आप उसे अच्छी प्रकार जानते थे। हाथी घोड़ों की सवारी करना तथा उन्हें अपने वश में रखने में भी आप निपुण थे। शास्त्रों में धन को समुचित रूप से धर्म प्राप्ति के लिये कीर्तिकर कार्यों के लिये, स्वशरीर एवं आत्मा तथा अपने स्त्री पुत्रादि कुटम्बियों के लिये व्यय करने का आदेश है केवल एक काम में ही धन खर्च करना अनुचित है इस आदेश का सूचक श्लोक है—

"धर्माय यशसेऽर्थाय चात्मने स्वजनाय च।
पञ्चधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च शोभते॥
धनुर्वदविदां श्रेष्ठो लोकेऽतिरथसंमतः।
अभियाता प्रहर्ता च सेनानयविशारदः॥

आप युद्ध विद्या में विशारद थे। महान् योद्धा के रूप में आप लोक में प्रसिद्ध थे। युद्ध के लिये कब प्रस्थान करना चाहिये कब शत्रु पर आक्रमण करना चाहिये, सेना का किस प्रकार सञ्चालन करना चाहिये, व्यूह आदि की रचना कैसी होनी चाहिये सारी बातें जानते थे।

अप्रधृष्यश्च सङ्ग्रामे क्रुद्धैरपि सुरासुरैः।
अनसूयो जितक्रोधो न दृप्तो न च मत्सरी॥

युद्धक्षेत्र में देवता और असुर आदि भी क्रोध करके आपका कुछ नहीं बिगाड़ सकते थे और आपके सामने नहीं ठहर सकते

थे। यों तो आपमें परनिन्दा, क्रोध, अभिमान और वैर-विरोध का लेशमात्र भी नहीं था।

नावज्ञेयश्च भूतानां न च कालवशानुगः।
एवं श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः॥

आपके अतुल तेज के कारण संसार का कोई प्राणी आपकी अवहेलना या अपमान करने का साहस नहीं कर सकता था। आप काल के वशवर्ती होकर चलनेवाले नहीं थे। (साधारण लोग समय की दुहाई देकर अपनी कमजोरी नहीं छोड़ पाते, धर्म के सिद्धान्तों पर नहीं चल सकते, कहते हैं क्या करें जमाना ऐसा ही है। परन्तु महापुरुष जमाने के प्रवाह में कदापि नहीं बहते वे अपने धर्म और पुरुषार्थ पर अटल रहते हैं और जमाने को अपने पीछे चलाते हैं स्वयं जमाने के पीछे नहीं चलते)। इन सारे श्रेष्ठ गुणों से युक्त आप प्रजा के प्रिय थे।

संमतस्त्रिषु लोकेषु वसुधायाः क्षमागुणः।
बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्येचापि शचीपतेः॥

तीनों लोकों में आप आदरणीय थे। आप क्षमा में पृथ्वी के समान बुद्धि में बृहस्पति एवं पराक्रम में इन्द्र के समान थे।

तथा सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसंजननः पितुः।
गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः॥

सारी प्रजा को अपने श्रेष्ठ गुणों के द्वारा इतने प्रिय होने के कारण श्रीरामजी पिता को ऐसे अच्छे लगते थे जैसा किरणों से शोभायमान सूर्य।

ऊपर लिखे इन सारे श्रेष्ठ गुणों के कारण ही भगवान् राम मर्यादा पुरुषोत्तम कहे जाते हैं। हमें उनके चरणचिह्नों पर चलते हुए उनके वे सब गुण धारण करने का सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये।

कर्मणा मनसा वाचा त्याज्य और विहित कर्म

कर्म, वचन और मन से दश कर्मों को त्यागना उचित है, इस सम्बन्ध में भीष्म पितामह ने महाराज युधिष्ठिर को अनुशासन पर्व के तेरहवें अध्याय में निम्नलिखित श्लोकों में उपदेश किया है—

> कायेन त्रिविधं कर्म वाचा चापि चतुर्विधम्।
> मनसा त्रिविधं चैव दश कर्मपथांस्त्यजेत् ॥

शरीर से तीन प्रकार के, वचन से चार प्रकार के और मन से तीन प्रकार के कर्म त्याग देने चाहिये।

> प्राणातिपातः स्तैन्यं च परदारानथापि च।
> त्रीणि पापानि कायेन सर्वतः परिवर्जयेत् ॥

जीव हिंसा, चोरी और पर-स्त्री गमन—ये तीन कर्म शरीर से त्यागने योग्य हैं।

> असत्प्रलापं पारुष्यं पैशुन्यमनृतं तथा।
> चत्वारि वाचा राजेन्द्र न जल्पेन्नानुचिन्तयेत् ॥

असम्बद्ध प्रलाप (बे मतलब की बात) कठोर वचन, पर-निन्दा (चुगली) और झूठ बोलना—ये चार वचन के कर्म त्यागने योग्य हैं।

अनभिध्या परस्वेषु सर्वसत्त्वेषु सौहृदम्।
कर्मणां फलमस्तीति त्रिविधं मनसाचरेत्॥

पराये धन पर मन चलाना, दूसरों का अहित सोचना, नास्तिकता (अर्थात् वेदादि शास्त्रों की निन्दा करना एवं कर्म फल में विश्वास न रखना) ये तीन मानस कर्म हैं जो त्याज्य हैं, मनुष्य को पराये धन पर मन न चलाना चाहिये, प्राणिमात्र से प्रेम रखना चाहिये। सुख दुःख जो हमें प्राप्त हो रहे हैं वे हमारे कर्मों के फल स्वरूप ही हैं ऐसा दृढ़ विश्वास रखते हुए ईश्वर में आस्था रखनी चाहिये एवं वेद और ईश्वर की निन्दा न करनी चाहिये।

ये शरीर, वचन और मनके जो दस कर्म त्याज्य बतलाये गये हैं उन्हें कदापि नहीं करना चाहिये। कारण इन कर्मों का करनेवाला तो व्यक्तिगत रूपसे दुःखका भागी होता ही है साथ ही दूसरे लोग उसके असत् कर्म से दुःख पायेंगे। उसकी देखादेखी दूसरे भी असत् कर्म में प्रवृत्त हो जायगे। इससे संसार का अहित होगा। अतएव इन त्याज्य कर्मों के त्यागने में ही अपना एवं प्राणी मात्र का कल्याण है।

एक बार पार्वती ने भगवान् शंकर से पूछा था—स्वामिन् किस शील, चरित्र और आचार से मनुष्य स्वर्ग जाते हैं? इसका

उत्तर भगवान् शंकर ने निम्न रूप से दिया है, जो महाभारत अनुसाशन पर्व के अध्याय १४४ में वर्णित है।

देवि धर्मार्थतत्वज्ञे धर्मनित्ये दमे रते।
सर्वप्राणिहितः प्रश्नः श्रूयतां बुद्धिवर्द्धनः॥

देवि, तुम धर्म एवं अर्थ के विशेष तत्व को जानती हो। तुम सदा ही धर्म में और इन्द्रिय दमन में रत रहती हो! तुमने जो प्रश्न किया उससे प्राणिमात्र का हित होगा और वह मनुष्यों की बुद्धि बढ़ायेगा। उसे सुनो—

नाधर्मेण न धर्मेण वध्यन्ते छिन्नसंशयाः।
प्रलयोत्पत्तितत्वज्ञाः सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः॥

जो संशय से रहित हैं, प्रलय और उत्पत्ति के तत्व को जाननेवाले हैं। वे सर्वज्ञ समदर्शी अधर्म या धर्म के भी बन्धनमें नहीं बँधते। (धर्म का फल स्वर्ग और अधर्म का फल नरक है पर हैं दोनों ही बंधन। स्वर्ग में सुख तो होता है पर वह अन्ततः नाशवान् है। फलतः सकाम कर्म का परिणाम बन्धन है परन्तु संशयरहित एवं सृष्टि की विशेषता जाननेवाले महाजन भव बंधन में कर्म करते रहने पर भी नहीं पड़ते)।

वीतरागा विमुच्यन्ते पुरुषाः कर्मबन्धनैः।
कर्मणा मनसा वाचा ये न हिंसन्ति किञ्चन,
ये न सज्जन्ति कस्मिंश्चित्ते न बध्यन्ति कर्मभिः॥

कर्म, मन और वचन से जो किसी भी आत्मा को किसी भी

तरह का कष्ट न देते, जो राग और द्वेष से रहित तथा किसी भी विषय में लिप्त नहीं होते वे कर्मों के बन्धन में नहीं बँधते।

प्राणातिपाताद्विरताः शीलवन्तो दयान्विताः।
तुल्यद्वेष्यप्रिया दान्ता मुच्यन्ते कर्मबन्धनैः॥

जो इन्द्रियों के विषयों से निवृत्त रहते हैं, शीलवान और दयालु हैं, शत्रु और मित्र को समान मानते हैं और जो मनको अपने वशमें रखते हैं वे कर्मों के बन्धनों से छुटकारा पा जाते हैं।

सर्वभूतदयावन्तो विश्वास्याः सर्वजन्तुषु।
त्यक्तहिंसासमाचारास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो प्राणिमात्र पर दया रखते, जिन पर सभी प्राणी विश्वास करते और जिन्होंने हिंसा त्याग दी है और उत्तम आचारवाले हैं वे सुखी हैं।

परस्वे निर्ममा नित्यं परदारविवर्जकाः।
धर्मलब्धान्नभक्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन दूसरे के धनपर कभी भी मन नहीं चलाते, परायी स्त्री से सदा ही विरत रहते हैं और धर्मपूर्वक पुरुषार्थ से अन्न उपार्जन करके भोगते हैं वे सुखी हैं।

मातृवत्स्वसृवच्चैव नित्यं दुहितृवच्च ये।
परदारेषु वर्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन परायी स्त्रियों को सदा ही माता, बहन वा कन्या के समान समझते हैं वे सुखी हैं।

स्तैन्यान्निवृत्ताः सततं सन्तुष्टाः स्वधनेन च।
स्वभाग्यान्युपजीवन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन कभी भी चोरी नहीं करते, सदा अपने धनमें ही संतुष्ट रहते, अपने भाग्यानुसार (कर्म करते हुए) भाग्य पर ही विश्वास करके अपना निर्वाह करते, हैं वे सुखी हैं।

स्वदारनिरता ये च ऋतुकालाभिगामिनः।
अग्राम्यसुखभोगाश्च ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन अपनी ही स्त्री में रत रहते हैं और ऋतुकाल में सन्तानोत्पत्ति के ही लिये गमन करते हैं न कि इन्द्रिय सुख के लिये वे ही सुखी हैं।

परदारेषु ये नित्यं चरित्रावृतलोचनाः।
यतेन्द्रियाः शीलपरास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन कभी भी दूसरे की स्त्री को बुरी दृष्टि से नहीं देखते और अपनी इन्द्रियों को सदा ही वशमें रखते हैं एवं शांत स्वभाव से रहते हैं वे ही सुखी हैं।

एष देवकृतोमार्गः सेवितव्यः सदा नरैः।
अकषायकृतश्चैव मार्गः सेव्यः सदा बुधैः॥
दानधर्मतपोयुक्तः शीलशौचदयात्मकः।
वृत्त्यर्थं धर्महेतोर्वा सेवितव्यः सदा नरैः।
स्वर्गवासमभीप्सद्भिर्न सेव्यस्त्वत उत्तरः॥

यह जो कल्याणकारी मार्ग है उस पर सभी को चलना चाहिये। यह पाप रहित है वस्तुतः इस राहमें दान, धर्म, तप,

शील, शुद्धि और दया सभी वर्तमान हैं। जीविका और धर्म के लिये भी इस मार्ग पर सदा ही चलना चाहिये। यह मार्ग सुख का देनेवाला है। इसके विपरीत कभी भी न चले।

उमोवाच

वाचा तु बध्यते येन मुच्यतेऽप्यथवा पुनः।
तानि कर्माणि मे देव वद भूतपतेऽनघ॥

भगवान् शङ्करसे पार्वतीजी पूछती हैं कि किस प्रकार की वाणी से मनुष्यों को बंधन में पड़ना पड़ता है, किस प्रकार की वाणी से बंधन से छूटता है एवं सुख की प्राप्ति होती है, यह आप कहिये।

महेश्वर उवाच

श्लक्ष्णां वाणीं निराबाधां मधुरां पापवर्जिताम्।
स्वागतेनाभिभाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो वाणी कोमल एवं प्रिय तथा बाधा रहित, साफ साफ मतलब बतानेवाली और मीठी होने पर भी पाप रहित यानें झूठ न हो जो सज्जन ऐसी वाणी के साथ सबका आदर-सत्कार करते हैं वे सुखी हैं।

परुषं ये न भाषन्ते कटुकं निष्ठुरं तथा।
अपैशुन्यरताः सन्तस्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन कठोर कड़वी और निष्ठुर वाणी कभी भी नहीं बोलते एवं किसी की भी निन्दा (चुगली) नहीं करते वे ही सुखी हैं।

पिशुनां न प्रभाषन्ते मित्रभेदकरीं गिरम्।
ऋतं मैत्रं तु भाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन मित्रों के आपस में भेद डालनेवाली चुगली नहीं करते और साथ ही ऐसी वाणी बोलते हैं जो सत्य तथा मित्रता को बढ़ानेवाली होती है वे ही सुखी हैं।

ये वर्जयन्ति परुषं परद्रोहं च मानवाः।
सर्वभूतसमा दान्तास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन परद्रोह और कड़वी वाणी को त्याग देते हैं, प्राणिमात्र को समभाव से समझते हैं एवं अपनी इन्द्रियों को वश में रखते हैं वे ही सुखी हैं।

शठप्रलापाद्विरता विरुद्धपरिवर्जकाः।
सौम्यप्रलापिनो नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन जो बात हितकर नहीं है तथा आपस में विपरीत है उसपर कभी भी तर्क नहीं करते हैं। जो बात हितकर एवं ज्ञान देनेवाली हैं उसकी चर्चा सदा ही करते हैं वे सुखी हैं।

न कोपाद्व्याहरन्ते ये वाचं हृदयदारणीम्।
सान्त्वं वदन्ति क्रुद्धाऽपि ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन क्रोध आने पर भी ऐसी वाणी नहीं बोलते हैं जिससे दूसरों के हृदय को चोट पहुंचे क्रोध आने पर भी शान्ति से ही बोलते हैं वे ही सुखी हैं।

एष वाणीकृतो देवि धर्मः सेव्यः सदा नरैः।
शुभः सत्यगुणा नित्यं वर्जनीयो मृषा बुधैः॥

हे पार्वतीजी, यह जो वाणी का धर्म कहा गया है वह सदा ही सभी मनुष्यों के सेवन योग्य है यह शुभ और सत्यगुणयुक्त है। झूठ को सर्वदा ही त्याग देना चाहिये।

उमोवाच

मनसा वध्यते येन कर्मणा पुरुषः सदा।
तन्मे ब्रूहि महाभाग देवदेव पिनाकधृन्॥

माता पार्वतीजी ने शंकरजी से पूछा कि हे भगवन् किस प्रकार के मानस-कर्म से मनुष्य बंधन को प्राप्त होते हैं और कैसे मानस-कर्म से सुख प्राप्त करते हैं वह आप कहिये।

महेश्वर उवाच

मानसेनेह धर्मेण संयुक्ताः पुरुषाः सदा।
स्वर्गं गच्छति कल्याणि तन्मे कीर्तयतः श्रुणु॥
दुष्प्रणीतेन मनसा दुष्प्रणीततराकृतिः।
मनो वध्यति येनेह श्रुणुवाक्यं शुभानने॥

हे कल्याणी, जिस प्रकार के मानस-कर्म से युक्त मनुष्य सदा सुख को प्राप्त होते हैं एवं जिस प्रकार के मानसिक दुष्ट कर्मों से मनुष्य दुःख के भागी होते हैं वह मैं आपको बतलाता हूं, सुनिये।

अरण्ये विजने, न्यस्तं परस्वं दृश्यते यदा।
मनसाऽपि न हिंसन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन, जङ्गल में या निर्जन स्थान में पड़े हुए अथवा रक्खे हुए भी दूसरे के धन को देखकर उसे लेने की इच्छा मन में भी नहीं लाते वे ही सुखी हैं।

ग्रामे गृहे वा ये द्रव्यं पारक्यं विजने स्थितम्।
नाभिनन्दन्ति वै नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन गांव या घरमें भी निर्जन स्थान में रक्खे हुए दूसरे के धन को देखकर कभी भी प्रसन्न नहीं होते, अथवा मन नहीं चलाते वे ही सुखी हैं।

तथैव परदारान् ये कामवृत्तान् रहोगतान्।
मनसाऽपि न हिंसन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः॥

इसी प्रकार कामवासना से युक्त एवं एकान्त स्थान में मिली हुई परायी स्त्री को जो सज्जन मन से भी कभी नहीं चाहते वे ही सुखी हैं।

शत्रुं मित्रं च ये नित्यं तुल्येन मनसा नराः।
भजन्ति मैत्राः सङ्गम्य ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन मिलने पर शत्रु और मित्र को सदा एक से मनसे अभिनन्दन करते हैं तथा जो मन से ही मित्रता रखते हैं वे ही सुखी हैं।

श्रुतवन्तो दयावन्तः शुचयः सत्यसङ्गराः।
स्वैरर्थैः परिसन्तुष्टास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन शास्त्र के जाननेवाले और दयावान हैं, भेदभाव से रहित (शुद्ध मन) और सत्यप्रनवाले हैं, अपने ही पुरुषार्थ से प्राप्त हुए धन से सन्तुष्ट रहते हैं, वे ही सुखी हैं।

अवैरा ये त्वनायासा मैत्री चित्तरताः सदा।
सर्वभूतदयावन्तस्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन वैर-विरोध नहीं करते, सदा सबसे मित्रता का भाव रखते एवं सभी प्राणियों पर दया करते हैं वे ही सुखी हैं।

श्रद्धावन्तो दयावन्तश्चोक्षाश्चोक्षजनप्रियाः।
धर्माधर्मविदो नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन सदा ही श्रद्धा (अर्थात् सत्य को ग्रहण करने एवं उसपर दृढ़ रहने की बुद्धि) से युक्त हैं, दयालु और पवित्र हैं और पवित्रजनों की संगति करते हैं एवं धर्म और अधर्म को जानते हैं वे ही सुखी हैं।

शुभानामशुभानां च कर्मणां फलसञ्चये।
विपाकज्ञाश्च ये देवि ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन, शुभ और अशुभ कर्मों के परिणाम को जानते हैं वे ही सुखी हैं।

न्यायोपेता गुणोपेता देवद्विजपराः सदा।
समुत्थानमनुप्राप्तास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन सदा ही न्यायवान हैं, गुणवान हैं, देवताओं और गुरुजनों में श्रद्धा रखते हैं तथा आत्मा की उन्नति में लगे रहते हैं वे ही सुखी हैं।

शुभैः कर्मफलैर्देवि मयैते परिकीर्तिताः।
स्वर्गमार्गपरा भूयः किं त्वं श्रोतुमिहेच्छसि॥

हे देवि, ऊपर जो मानस-कर्म मैंने कहे हैं उनके फल शुभ हैं। यही सुख का मार्ग है।

कर्मणा, वाचा, मनसा के जो ऊपर लिखे नियम भगवान शंकरजी ने हमारे लिये बतलाये हैं इन नियमों के अनुसार कर्म करने से ही हमारा कल्याण होगा लेकिन ये नियम तो हम में स्वभाव से ही होने चाहिये। इसमें हमारी विशेषता नहीं है। इन कर्मों के विपरीत चलने से ही हमारा ह्रास होता है। अपने पुरुषार्थ से निःस्वार्थ भाव से प्राणिमात्र की सेवा करने, तथा योग के द्वारा प्राकृतिक आयु को उन्नत करने में हमारी कुछ विशेषता भी है।

आयु वृद्धि के नियम

महाभारत अश्वमेध पर्वमें अर्जुन द्वारा कृष्ण से गीता के उपदेश को फिर से कहने की प्रार्थना की जाने पर श्रीकृष्ण ने जो काश्यप और सिद्ध का संवाद अध्याय १५ (अनुगीता पर्व अध्याय २) में सुनाया था उसमें आयुवृद्धि के जो नियम बताये गये हैं वे इस प्रकार हैं।

आयुःकीर्तिकराणीह यानि कृत्यानि सेवते।
शरीरग्रहणे यस्मिस्तेषु क्षीणेषु सर्वशः॥
आयुःक्षयपरीतात्मा विपरीतानि सेवते।
बुद्धिर्व्यावर्तते चास्य विनाशे प्रत्युपस्थिते॥

मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है कि वह अपने मनुष्य शरीर को सफल बनाने के लिये इस लोक में वे ही कर्म करे जो कि आयु और कीर्ति को बढ़ानेवाले हैं तथा जिनका आचरण श्रेष्ठ पुरुष करते हैं। यदि उन सभी सत्कर्मों का लोप हो जाता है तो मनुष्य

का भी पतन हो जाता है। कारण जिस मनुष्य की आयुका नाश होना चाहता है उसका मन स्थिर नहीं रहता और वह सब विपरीत कर्म करने लग जाता है। विनाश समीप आने पर बुद्धि भी विपरीत हो जाती है।

सत्त्वं बलं च कालं च विदित्वा चात्मनस्तथा।
अतिवेलमुपाश्नाति स्वविरुद्धान्यनात्मवान्॥

उस हालत में अपना मनोबल, शरीरबल और समय को जानकर भी असंयमी होकर समय बेसमय अपने लिये हानि-कारक आहार करने लगता है।

यद्वायमतिकष्टानि सर्वाण्युपनिषेवते।
अत्यर्थमपि वा भुंक्ते न वा भुंक्ते कदाचन॥
दुष्टान्नामिषपानं च यदन्योन्यविरोधि च।
गुरु चाप्यमितं भुंक्ते नातिजीर्णोऽपि वा पुनः॥

उस हालत में मनुष्य बहुत ही कष्ट देनेवाले आहार-विहारों का सेवन करने लगता है। बहुत खाने लगता है या बहुत समय तक भी नहीं खाता। दूषित अन्न-जल (सड़े-गले बासी एवं जिसमें दुर्गन्ध पैदा हो गई हो) और परस्पर विरोधी अन्न तथा रस (जिनको एक साथ नहीं खाना चाहिये जैसे दूध के साथ नमक, केला, बड़द आदि, चीनी के साथ नमक आदि) का सेवन करने लगता है, गरिष्ट और मात्रा से अधिक भोजन करता है अथवा पहले का किया हुआ भोजन पूरा पच जाने के पहले ही फिर भोजन कर लेता है।

व्यायाममतिमात्रं च व्यवायं चोपसेवते।
सततं कर्मलोभाद्वा प्राप्तं वेगं विधारयेत्।

अपनी शक्ति से अधिक मात्रा में व्यायाम करता है, अधिक मात्रा में स्त्री-प्रसङ्ग करता है। मल-मूत्र आदि के वेग को किसी दूसरे काम के कर लेने के लोभ से रोक रखता है। (सोते-जागते या कोई काम करते हुए जब भी मल-मूत्र आदि का वेग मालूम हो उससे तुरन्त ही निवृत्त होना चाहिये उसमें कदापि आलस्य न करना चाहिये। उसे रोकना बहुत हानिकारक है।)

रसाभियुक्तमन्नं वा दिवा स्वप्नं च सेवते।
अपक्वानागते काले स्वयं दोषान्प्रकोपयेत्॥

अन्न के साथ अधिक रस (मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय) का सेवन करता है अथवा दिन में सोता है। बिना पके हुए अथवा बेमौसिम के पके हुए अन्न फल का सेवन करता अथवा असमय में भोजन करता है जैसे भोजन का जो निर्धारित समय है उससे विपरीत समय में भोजन करता है। इससे शरीर के दोष, वात, पित्त, कफ प्रकुपित होते हैं।

स्वदोषकोपनाद्रोगं लभते मरणान्तिकम्।
अपि वोद्बन्धनादींनि परीतानि व्यवस्यति॥

वात, पित्त, कफ के प्रकुपित होने से नाना प्रकार के रोग होते हैं। मृत्यु तक हो जाती है। यहाँ तक नहीं बुद्धिभ्रंश से मनुष्य ऐसे-ऐसे विपरीत कार्य कर लेता है जिससे बिना रोग के भी मर जाता है।

तस्य तैः कारणैर्जन्तोः शरीरं च्यवते तदा।
जीवितं प्रोच्यमानं तद्यथावदुपधारय॥

उपर्युक्त कारणों से मनुष्य का शरीर अति शीघ्र क्षीण होता है तथा आयु का ह्रास होता है। दीर्घायु बल, कीर्ति और ऐश्वर्य आदि के जो जीवन के उपयुक्त कर्म हैं मनुष्य को सदा धारण करने चाहिये।

सदाचार के नियम

महाभारत अनुशासन पर्व के अध्याय १०४ में भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर जी को सदाचार के नियमों का उपदेश मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ किया है, उसके कुछ अंश नीचे उद्धृत किये गये हैं।

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम्।
आचारात् कीर्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च॥

मनुष्य सदाचार से दीर्घायु की प्राप्ति करता है। सदाचार से ही लक्ष्मी की प्राप्ति करता है। सदाचार से ही जीवित अवस्थामें कीर्ति प्राप्त करता है और मृत्युके बाद भी उसकी कीर्ति यहाँ कायम रहती है और उसका नाम अमर रहता है।

तस्मात् कुर्यादिहाचारं यदिच्छेद्भूतिमात्मनः।
अपि पापशरीरस्य आचारो हन्त्यलक्षणम्॥

इसलिये कल्याण चाहनेवाले मनुष्य को उचित है कि वह सदाचार का सर्वदा पालन करे। सदाचार से पाप शरीर के सारे कुलक्षण एवं दुर्व्यसन भी दूर हो जाते हैं।

आचारलक्षणो धर्मः सन्तश्चारित्रलक्षणाः।
साधूनां च यथावृत्तमेतदाचारलक्षणम्॥

धर्म का स्वरूप आचार है। सदाचार से युक्त पुरुष ही सन्त हैं। साधु पुरुषों का जो जीवन क्रम है वही आचार है। वही नियम सबके लिये हितकर है।

सर्वलक्षणहीनोपि समुदाचारवान्नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयुश्च शतं वर्षाणि जीवति॥

जो क्रोध नहीं करता सदा सत्य ही बोलता है, प्राणिमात्र की आत्मा को कष्ट नहीं देता, सदा सबका हित करता, सरल स्वभाव से युक्त है, छल-कपट नहीं रखता, तथा दूसरोंके अवगुणों की ओर नहीं देखता वह सौ वर्ष जीता है।

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
उत्थायाचम्य तिष्ठेत पूर्वां सन्ध्यां कृताञ्जलिः॥

ब्राह्म मुहूर्त (सूर्योदय से चार घड़ी अर्थात् प्रायः डेढ़ घण्टा पूर्व, यह काल अमृत वेला है) में उठे। उठकर धर्म और अर्थ के लिये भगवान का चिन्तन करे। आचमन करके प्रातःकाल की सन्ध्या करे।

एवमेवापरां संध्यां समुपासीत वाग्यतः।
ऋषयो नित्यसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुवन्॥

इसी प्रकार मौन होकर सायंकाल की संध्या भी करे। ऋषि लोग प्रति दिन सायं-प्रात. संध्या करके बड़ी आयु प्राप्त करते थे।

परदारा न गन्तव्या सर्ववर्णेषु कर्हिचित्।
न हीदृशमनायुष्यं लोके किंचन विद्यते।

किसी वर्ण का पुरुष भी परस्त्री गमन कदापि न करे। इससे बढ़कर आयु को नाश करनेवाला दूसरा कोई कर्म नहीं है।

यावन्तोरोमकूपाः स्युः स्त्रीणां गात्रेषु निर्मिताः।
यावद्वर्षसहस्राणि नरकं पर्युपासते॥

स्त्री के शरीर में जितने रोम छिद्र हैं उतने हजार वर्ष परस्त्री-गामी पुरुष नरक में वास करता है।

प्रसाधनं च केशानामंजनं दंतधावनम्।
पूर्वाह्ण एव कार्याणि देवतानां च पूजनम्॥

केशों को संवारना, आंखों में अञ्जन लगाना, दांतों को साफ़ करना, देवताओं का पूजन—ये सब काम प्रातःकाल ही करना चाहिये।

पन्था देयो ब्राह्मणाय गोभ्यो राजभ्य एव च।
वृद्धाय भारतप्ताय गर्भिण्यै दुर्बलाय च॥

ब्राह्मण, गौ, राजा, वृद्ध, भारी बोझ से पीड़ित, गर्भिणी एवं दुर्बल मनुष्य के लिये रास्ता छोड़ देना चाहिये अर्थात् इनके चलने में रुकावट नहीं डालनी चाहिये।

उपानहौ च वस्त्रं च धृतमन्यैर्नधारयेत्।
ब्रह्मचारी च नित्यं स्यात् पादं पादेन नाक्रमेत्॥

दूसरे के व्यवहार में आये हुए जूते और वस्त्र न पहिने। सदा ब्रह्मचारी रहे। पांव पर पांव न रखे।

अमावस्यां पौर्णमास्यां चतुर्दश्यां च सर्वशः ।
अष्टम्यां सर्वपक्षाणां ब्रह्मचारी सदा भवेत् ॥

दोनों पक्ष की अमावास्या, पूर्णिमा, चतुर्दशी, एवं अष्टमी इन तिथियों में सदा ब्रह्मचर्य से ही रहे।

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥

बाण से लगा हुआ घाव चङ्गा हो जाता है। कुल्हाड़े से काटा हुआ जङ्गल फिर से आबाद हो जाता है परन्तु कठोर वाणी से लगा हुआ भयङ्कर घाव कभी आराम नहीं होता।

कर्णिनालीकनाराचान्निर्हरन्ति शरीरतः ।
वाक्शल्यस्तु न निर्हतुं शक्यो हृदिशयो हि सः ॥

तीर किंवा बन्दूक की गोली शरीर में पैठ जाने पर उसे शरीर से निकाला जा सकता है! किन्तु वाणी की गोली वा तीर यदि हृदय में पेठ जाय तो वह हृदय में ही रहेगा उसे किसी प्रकार भी हृदय से खींचकर बाहर नहीं निकाला जा सकता है। इसीलिये वाणी का प्रयोग खूब सोच समझकर ही करना चाहिये।

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान् विद्याहीनान् विगर्हितान् ।
रूपद्रविणहीनांश्च सत्यहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥

हीन अङ्गवाले तथा काने, लङ्गड़े, बहरे आदि, अतिरिक्त अङ्ग वाले यथा छः अंगुलीवाले आदि एवं विद्या, रूप, धन एवं सत्य से हीन मनुष्यों के प्रति दुर्वचन कदापि न बोलें।

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम् ।
द्वेषस्तम्भोभिमानं च तैक्ष्ण्यं च परिवर्ज्जयेत् ॥

नास्तिकता, वेद और देवताओं की निन्दा, द्वेष, आलस्य, अभिमान एवं स्वभाव का तीखापन छोड़ देवें ।

परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्क्रुद्धो नैनं निपातयेत ।
अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्व शिक्षार्थं ताडनं स्मृतम् ॥

दूसरे पर दण्ड न उठावे, क्रोध में आकर उसपर दण्ड प्रहार न करे। पुत्र और शिष्य को शिक्षा के लिये ताड़न किया जा सकता है ।

कृत्वा मूत्रपुरीषे तु रथ्यामाक्रम्य वा पुनः ।
पादप्रक्षालनं कुर्यात्स्वाध्याये भोजने तथा ॥

पेशाब या पाखाने के बाद, रास्ता चलने के बाद एवं स्वाध्याय और भोजन के पूर्व पाँव धोवे ।

नित्यमग्निं परिचरेद्भिक्षां दद्याच्च नित्यदा ।
वाग्यतो दन्तकाष्ठं च नित्यमेव समाचरेत् ॥

प्रतिदिन अग्निहोत्र करे, भिक्षा देवे एवं मौन होकर दातोन करे ।

न चाभ्युदितशायी स्यात्प्रायश्चित्ती तथा भवेत् ।
मातापितरमुत्थाय पूर्वमेवाभिवादयेत ॥

सूर्योदय तक सोया न रहे, सूर्योदय से पहले ही उठ जावे । सूर्योदय के बाद उठने से प्रायश्चित्त (पश्चात्ताप) करे । उठकर सबसे पहले माता-पिता को प्रणाम करे ।

उदक्शिरा न स्वपेत तथा प्रत्यक्शिरा न च।
प्राक्शिरास्तु स्वपेद्विद्वानथवा दक्षिणाशिराः॥

उत्तर या पश्चिम दिशा की ओर सिर करके न सोवे पूर्व या दक्षिण की ओर सिर करके सोवे।

न भग्ने नावशीर्णे च शयने प्रस्वपीत च।
नान्तर्धाने न संयुक्ते न च तिर्यक् कदाचन॥

टूटे हुए अथवा जीर्ण-शीर्ण खाट पर न सोवे, दो व्यक्ति एक साथ (अर्थात् एक दूसरे से सट के) न सोवे। टेढ़ा न सोवे (क्योंकि मेरुदण्ड सदा सीधा रहना चाहिये। चित्त न सोवे बाईं करवट सोवे)। जिस घर में बाहर से प्रकाश न आता हो बिल्कुल अन्धकारमय हो उस घर में भी न सोवे एवं मुंह को ढक के न सोवे।

नोत्सृजेत् पुरीषं च क्षेत्रे ग्रामस्य चान्तिके।
उभे मूत्रपुरीषे तु नाप्सु कुर्यात्कदाचन॥

गाँव के निकट के खेत या मैदान में पाखाना न करे। (तात्पर्य यह है कि पाखाना पेशाब आदि की गन्दगी से किसी व्यक्ति को किसी हालत में हानि न पहुंचे) पाखाना और पेशाब जल में कदापि न करे।

नालीढया परिहतं भक्षयीत कदाचन।
तथा नोद्धृतसाराणि प्रेक्षते नाप्रदाय च॥

रजस्वला स्त्री के हाथ का बना भोजन न करे। (रजस्वला स्त्री को ऋतुकाल के प्रथम चार दिन पूर्ण विश्राम करना चाहिये)

ऐसे अन्न न खाने चाहिये जिनमें सार कुछ भी न हो। जो खाते हुए को देख रहा हो उसे बिना दिये भी भोजन न करना चाहिये।

अन्नं बुभुक्षमाणस्तु त्रिर्मुखेन स्पृशेदपः।
भुक्त्वा चान्नं तथैव त्रिर्द्विः पुनः परिमार्जयेत्॥
प्राङ्मुखो नित्यमश्नीयाद् वाग्यतोऽन्नमकुत्सयन्।

भोजन करने के पूर्व तीन वार आचमन करे, भोजन के पश्चात् मुख को दो तीन बार अच्छे प्रकार साफ करके धोवे और गहरा कुल्ला करे। विशेष करके पूर्व की ओर मुंह करके मौन होकर खावे। (चारों दिशाओं की ओर मुख करके खाने में शास्त्र निषेध नहीं करते) खाते समय प्रसन्न चित्त रहे। अन्न की किसी प्रकार निन्दा न करे। उसे बुरे भाव से न देखे। भोजन के समय अन्न में ही मन लगावे।

सायंप्रातश्च भुञ्जीत नान्तराले समाहितः।
बालेन तु न भुञ्जीत परश्राद्धं तथैव च॥

सायंकाल और प्रातःकाल दो बार ही भोजन करे बीच में न खावे। केश जिस भोजन में पड़ गया हो उसे न खावे और दूसरे के श्राद्ध का अन्न भी न खावे।

वाग्यतो नैकवस्त्रश्च नासंविष्टः कदाचन।
भूमौ सदैव नाश्नीयान्नानासीनो न शब्दवत्॥
भुञ्जानो मनुजव्याघ्र नैव शंकां समाचरेत्
सौहित्यं न च कर्त्तव्यं रात्रौ न च समाचरेत्॥

चुपचाप शांत चित्त से भोजन करे। एक वस्त्र से भोजन न

करे (अर्थात् गमछा आदि के रूप में दूसरा वस्त्र पास में रखना चाहिये) सोकर कदापि न खावे। अन्न को भूमि पर रखकर न खावे (किसी पात्र में रखकर खावे) सीधा बैठकर ही खावे, चलता-फिरता या खड़ा नहीं खावे। खाते समय किसी तरह का शब्द न करे। मन में किसी प्रकार की शङ्का भोजन करते समय न करे कि यह पचेगा या नहीं। खूब ठूंस-ठूंसकर न तो स्वयं खावे और न दूसरे को खिलावे। रात में तो कभी भी डटके नहीं खाना चाहिये।

न दिवा मैथुनं गच्छेन्न कन्यां न च बन्धकीम्।
न चास्नातां स्त्रियं गच्छेत्तथायुर्विन्दते महत्॥

दिन में स्त्री-प्रसंग कदापि न करे। कन्या (युवावस्था से पहले) एवं बांझ स्त्री से मैथुन न करे। जिस स्त्री ने ऋतुस्नान न किया हो अथवा अन्य प्रकार से अपवित्र हो उससे भी समागम न करे। इस प्रकार के कर्म करने से आयु का ह्रास होता है। इसलिये ऐसे कर्म न करे।

वृद्धो ज्ञातिस्तथा मित्रं दरिद्रो यो भवेदपि।
गृहे वासयितव्यास्ते धन्यमायुष्यमेव च॥

वृद्ध कुटुम्बी एवं मित्र यदि दरिद्र अथवा कमजोर हो जाय तो उन्हें अपने घरमें रखकर सब प्रकार से उनकी मदद करनी चाहिये। इससे धन और आयु की वृद्धि होती है।

सन्ध्यायां न स्वपेद्राजन् विद्यां न च समाचरेत्।
न भुञ्जीत च मेधावी तथायुर्विन्दते महत्॥

सन्ध्या समय (सूर्यास्त के समय) न सोवे और न स्वाध्याय करे। उस समय भोजन भी न करे। इससे आयु घटती है।

महाकुले प्रसूतां च प्रशस्तां लक्षणैस्तथा।
वयस्थां च महाप्राज्ञः कन्यामावोढुमर्हति ॥

अच्छे कुल में पैदा हुई शुभलक्षणों से युक्त युवती से ही विद्या और व्रत को समाप्त करके युवा अवस्था को प्राप्त गृहस्थाश्र ममें प्रवेश करने की इच्छा रखने वाला बुद्धिमान् पुरुष विवाह करे।

अपत्यमुत्पाद्य ततः प्रतिष्ठाप्य कुलं तथा।
पुत्राः प्रदेया ज्ञानेषु कुलधर्मेषु भारत ॥
कन्या चोत्पाद्य दातव्या कुलपुत्राय धीमते।
पुत्रा निवेश्याश्च कुलाद्भृत्या लभ्याश्च भारत ॥

सन्तान उत्पन्न कर उन्हें सब प्रकार से योग्य बनाकर कुल की प्रतिष्ठा को बढ़ावे। पुत्रों को पूर्ण विद्या प्राप्ति के लिये विद्वान् गुरुओं के हवाले कर उन्हें कुल-धर्म के पालन करने की भी प्रेरणा करे। कन्या को भी योग्य बनाकर उसका श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न तथा विद्वान् वर के साथ विवाह करे। पुत्र का विवाह भी उत्तम कुल में ही करे। सेवक भी कुलीन ही रखे।

वर्जयेद् व्यङ्गिनीं नारीं तथा कन्यां नरोत्तम।
समार्षां व्यङ्गितां चैव मातुः स्वकुलजां तथा ॥
पिंगलां कुष्ठिनीं नारीं न त्वमुद्वोढुमर्हसि।
अपस्मारिकुले जातां निहीनां चापि वर्जयेत् ॥
श्वित्रिणां च कुले जातां क्षयिणां मनुजेश्वर।

ऐसी स्त्री से विवाह न करे जो हीन अङ्गवाली अथवा अतिरिक्त अङ्गवाली हो, एक ही गोत्र की हो अथवा माता के कुल में उत्पन्न हुई हो। पिंगल वर्णवाली किंवा कुष्ठरोग से पीड़ित स्त्री से विवाह न करे। जो कुल सत्कर्म से हीन हो जिसमें मृगी, श्वेत-कुष्ट अथवा क्षयरोग हो वैसे कुल के साथ भी विवाह सम्बन्ध न करे।

न चेर्ष्या स्त्रीषु कर्त्तव्या रक्ष्या दाराश्च सर्वशः।
अनायुष्या भवेदीर्ष्या तस्मादीर्ष्यां विवर्जयेत्॥

स्त्रियों से ईर्ष्या न करे। उनकी सब प्रकार से रक्षा करे। ईर्ष्या से आयु की हानि होती है अतएव ईर्ष्या छोड़ देनी चाहिये

अनायुष्यं दिवा स्वप्नं तथाभ्युदितशायिता।
प्रगे निशामाशु तथा नैवोच्छिष्टाः स्वपन्ति वै॥

दिन में सोने से अथवा प्रातःकाल सूर्योदय हो जाने तक सोते रहने से आयु का नाश होता है। सायंकाल सूर्यास्त के समय भी नहीं सोना चाहिये और जूठे मुंह भी नहीं सोना चाहिये।

सन्ध्यायां च न भुञ्जीत न स्नायेन्न तथा पठेत्।
प्रयतश्च भवेत्तस्यां न च किंचित् समाचरेत्॥

सन्ध्याकाल में अर्थात् दिन और रात की सन्धिवेलाओं में भोजन, स्नान या पढ़ना-लिखना न करे। उस समय समाहित चित्त होकर सन्ध्योपासन करे और दूसरा काम कुछ न करे।

अनिमन्त्रितो न गच्छेत यज्ञं गच्छेत दर्शकः।
अनर्चिते ह्यनायुष्यं गमनं तत्र भारत॥

किसी के यहाँ विना बुलाये न जावे। यज्ञ में दर्शक के रूप से जा सकता है। कहीं विना सम्मान के अपमानित होकर जाने से आयु क्षीण होती है।

न चैकेन परिव्रज्यं न गन्तव्यं तथा निशि।
अनागतायां सन्ध्यायां पश्चिमायां गृहे वसेत्॥

अकेला कहीं न जावे। सूर्यास्त के पूर्व ही घर चला आवे और रात में घर में ही रहे। (रात्रि में निर्जनता के कारण हिंसक जीवजन्तुओं का भय रहता है)।

मातुः पितुर्गुरूणां च कार्यमेवानुशासनम्।
हितं चाप्यहितं चापि न विचार्यं नरर्षभ॥

माता, पिता तथा गुरु की आज्ञा का अवश्य पालन करे। उनमें हित-अनहित का विचार न करे।

यत्नवान्भव राजेन्द्र यत्नवान् सुखमेधते।
अप्रधृष्यश्च शत्रूणां भृत्यानां स्वजनस्य च॥

मनुष्य को सदा कर्मशील एवं पुरुषार्थी होना चाहिये। पुरुषार्थी मनुष्य ही सुखी रहता है और सदा उन्नति करता है। शत्रु सेवक और आत्मीय स्वजन उसका कदापि निरादर नहीं कर सकते।

युक्तिशास्त्रं च ते ज्ञेयं शब्दशास्त्रं च भारत।
गन्धर्वशास्त्रं च कलाः परिज्ञेया नराधिप॥

मनुष्य को तर्कशास्त्र, व्याकरण, गान विद्या एवं कला का भी यथायोग्य ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

पुराणमितिहासांश्च तथाख्यानानि यानि च ।
महात्मनां च चरितंश्रोतव्यं नित्यमेव ते ॥

पुरावृत्त, इतिहास, सुन्दर वृत्तान्त. एवं महापुरुषों के चरित्र नित्यमेव सुनने चाहिये ।

पत्नी रजस्वला या च नाभिगच्छेन्न चाह्वयेत् ।
स्नातां चतुर्थे दिवसे रात्रौ गच्छेद् विचक्षणः ॥
पञ्चमे दिवसे नारी षष्ठेऽहनि पुमान् भवेत् ।
एतेन विधिना पत्नीमुपगच्छेत पण्डितः ॥

रजस्वला पत्नी से न तो समागम करे और न उसे अपने पास बुलावे । चौथे दिन पत्नी के ऋतुस्नान करने के पश्चात् रात्रि में उसके समीप जावे । पाँचवीं रात्रिमें गर्भ रहने से कन्या और छठी रात्रि में पुत्र उत्पन्न होता है । इसी विधि से (युग्म रात्रि में पुत्र अयुग्म रात्रि में कन्या उत्पन्न करने की इच्छा से सोलहवीं रात्रि तक) सन्तार्थी बुद्धिमान पुरुष स्त्रीप्रसङ्ग करे ।

ज्ञातिसम्बन्धिमित्राणि पूजनीयानि सर्वशः ।
यष्टव्यं च यथाशक्ति यज्ञैर्विविधदक्षिणैः ॥

सगोत्र सम्बन्धियों एवं मित्रों का यथायोग्य सादर-सत्कार करना चाहिये । शक्ति के अनुसार अवश्य यज्ञ (सत्कर्म) करने चाहिये और ऋत्विजों को विविध प्रकारके द्रव्य दक्षिणामें देने चाहिये ।

एषते लक्षणोद्देश आयुष्याणां प्रकीर्तितः ।
शेषस्त्रैविद्यवृद्धेभ्यः प्रत्याहार्यो युधिष्ठिर ॥

भीष्मपितामहजी कहते हैं कि हे राजा युधिष्ठिर आयु को बढ़ानेवाले नियम ऊपर मैंने संक्षेप से कहे। विशेष चार्रा वेदोंके विद्वान् एवं वृद्ध पुरुषों से पूछकर जान लेना चाहिये।

आचारो भूतिजनन आचारः कीर्तिवर्द्धनः।
आचाराद् वर्धते ह्यायुराचारो हन्त्यलक्षणम् ॥
आगमानां हि सर्वेषामाचारः श्रेष्ठ उच्यते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मादायुर्विवर्द्धते ॥

सदाचार से ऐश्वर्य, कीर्ति एवं आयु की वृद्धि होती है। सदाचार से सारे कुलक्षण नष्ट होते हैं। सारे वेदों में आचार को ही सर्वश्रेष्ठ माना है। धर्म सदाचार से ही उत्पन्न होता है। धर्म से आयु बढ़ती है।

अनुशासन पर्व अध्याय ७५ से निम्नलिखित विषयों पर भीष्मपितामह के उपदेश लिखे जाते हैं—

विधिवत् पावकं हुत्वा ब्रह्मलोके नराधिप।
अधीत्यापि हि यो वेदान् न्यायविद्भ्यः प्रयच्छति ॥

ब्राह्मण का धर्म विधिपूर्वक यज्ञ करना (और कराना) है तथा वेदों को पढ़कर उन्हें न्याय शास्त्रके जाननेवाले योग्य शिष्यों को पढ़ाना भी ब्राह्मण का धर्म है।

(इस सम्बन्ध में मनुस्मृति अध्याय १ का श्लोक ८८ तथा गीता के अध्याय १८ का श्लोक ४२ अर्थ सहित नीचे लिखे जाते हैं।)

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।

दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥ मनु०

पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना एवं कराना, दान देना, एवं दान लेना ये छः कर्म ब्राह्मण के कहे गये हैं। दान लेना बहुत प्रशंसित कर्म नहीं है इसको मनु महाराज ने अन्यत्र इस प्रकार कहा है कि 'प्रतिग्रहः प्रत्यवरः'।

शमोदमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेवच।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ गीता॥

मन की शान्ति, इन्द्रिय निग्रह, तप, शौच अर्थात् शरीर मन और आत्मा की पवित्रता, क्षमाशीलता, सरलता, ज्ञान, विज्ञान (सृष्टि के सारे पदार्थों एवं परमात्मा के सम्बन्ध का विशेष ज्ञान) एवं आस्तिकता अर्थात्, वेद, ईश्वर एवं कर्मफल में विश्वास ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।

क्षत्रियोऽध्ययने युक्तो यजने दानकर्मणि।

युद्धेयश्च परित्राता सोपि स्वर्गे महीयते॥

क्षत्रिय का धर्म है अध्ययन करना, यज्ञ और दान करना तथा युद्ध में प्रवीण होना और प्रजा एवं शरण में आये हुए व्यक्तियों की रक्षा और प्रतिपालन करना।

वैश्यः स्वकर्मनिरतः प्रदानाल्लभते महत्।

अपने वर्ण के विहित कर्मों को करता हुआ वैश्य भी उत्तम गति को प्राप्त होता है। (मनु महाराज ने वैश्यों के ये कर्म बतलाये हैं—पशुओं का पालन और रक्षण, दान देना, यज्ञ करना,

विद्याध्ययन करना, वाणिज्य करना, धन की वृद्धि कर उसे शुभ कर्म में लगाना, एवं खेती करना)।

शूद्रः स्वकर्मनिरतः स्वर्गं शुश्रूषयाच्छंति।

स्वकर्म में निरत शूद्र सेवा धर्म के द्वारा सब सुखों को प्राप्त करते हैं।

कूर्म पुराण उत्तर विभाग, अध्याय १५ :—

वेदं वेदौ तथा वेदान् विन्द्याद्वा चतुरो द्विजः।
अधीत्य चाभिगम्यार्थं ततः स्नायाद् द्विजोत्तमः॥

जीवन के प्रथम भाग को ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्याध्ययन में लगाकर एवं चारों वेदों वा कम से कम एक वेद को भी सांगोपांग पढ़कर तब ही गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करे।

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् बहिर्माल्यं न धारयेत्,
अन्यत्र कांचनाद्विप्रः न रक्तां विभृयात् स्रजम्॥

गृहस्थाश्रम में आकर भी स्वाध्याय करना न छोड़े। प्रतिदिन नियमित रूप से धर्मग्रन्थों एवं अन्य ज्ञानवर्द्धक पुस्तकों को पढ़ता पढ़ाता किंवा सुनता सुनाता रहे। लाल रङ्ग की माला न धारण करे। सोने की माला के सिवा दूसरी माला को वस्त्र के ऊपर धारण न करे।

शुक्लाम्बरधरो नित्यं सुगन्धः प्रियदर्शनः।
न जीर्णमलवद्वासा भवेद् वै विभवे सति॥

सदा सफेद कपड़े पहने, शरीर और वस्त्र को ऐसे स्वच्छ और पवित्र रखे कि जिससे दुर्गन्ध न आवे (दुर्गन्ध से अपना चित्त

भी प्रसन्न नहीं रहता स्वास्थ्य की भी हानि होती है साथ ही अपने पास बैठनेवाले लोगों को भी ग्लानि होती है)। मैले-कुचैले कपड़े न पहने।

ऋतुकालाभिगामीस्याद् यावत्पुत्रोभिजायते।

ऋतुकाल में ही भार्या के पास जावे जबतक पुत्र का जन्म न हो। (संतान उत्पन्न हो जाने पर जबतक उस गोदवाली सन्तान का पूर्णरूप से लालन पालन न हो जावे तबतक स्त्री समागम से पृथक् रहे)।

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्य कुर्यादतन्द्रितः।
अकुर्वाणः पतत्याशु नरकान् याति भीषणान्॥

वर्णाश्रम के जो विहित कर्म हैं उनके करने में कदापि आलस्य न करे। सदा पुरुषार्थ के साथ सत्कर्म करता रहे। ऐसा नहीं करने से नरक का भागी होगा।

अभ्यसेत प्रयतो वेदं महायज्ञांश्च भावयेत्।
कुर्याद् गृह्याणि कर्माणि संध्योपासनमेव च॥

वेदों का पढ़ना पढ़ाना तथा सुनना सुनाना यत्नपूर्वक करे। पञ्च महायज्ञ तथा गृहस्थ आश्रम के अन्य शास्त्र विहित कर्म एवं उपासना भी प्रतिदिन नियम से करे।

सख्यं समाधिकैः कुर्यादर्चयेदीश्वरं सदा।
दैवतान्यधिगच्छेत कुर्याद् भार्याविभूषणम्॥

मित्रता अपने समान अथवा अपने से बड़ों के साथ करनी

चाहिये। देव पूजन, ईश्वर आराधन एवं अपनी स्त्री का भूषणादि से सत्कार सदा करे।

न धर्मं ख्यापयेद् विद्वान् न पापं गूहयेदपि।
कुर्वीतात्महितं नित्यं सर्वभूतानुकम्पनम्॥

अपने किये धर्म कार्यों को अपने आप न कहता फिरे अपने दुष्कर्मों को भी कदापि न छिपावे (अपने से कोई भूल हो जावे तो उसको स्वीकार कर लेना चाहिये, उससे आगे सुधार होने की सम्भावना रहती है)। अपनी आत्मा को सब प्रकार से उठाने का यत्न करना चाहिये एवं प्राणिमात्र पर दया रखनी चाहिये।

वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च।
वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरेद्विहरेत् सदा॥

अपनी आयु, कर्म, धन, विद्या, कुल, वेष, वाणी और बुद्धि के अनुरूप ही सर्वदा आचरण और व्यवहार रखना चाहिये।

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहः।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यति॥

जिस मार्ग से अपने पिता पितामह आदि चले हों उसी मार्ग में चलना चाहिये, परन्तु वह मार्ग सत्पुरुषोंका मार्ग होना चाहिये। यदि पिता पितामह आदि धर्मानुकूल मार्ग में न चले हों तो उस अवस्था में उनकी देखादेखी कदापि न करना चाहिये। उनके असत् मार्ग को छोड़ देना चाहिये। इसी में अपना कल्याण है।

विभागशीलः सततं क्षमायुक्तो दयालुकः।
गृहस्थस्तु समाख्यातो न गृहेण गृही भवेत्॥

समय का एवं धन का उचित रीति से विभाग करके धर्म, अर्थ और काम (त्रिवर्ग) का समान रूप से सेवन करनेवाला, क्षमाशील एवं दयालु मनुष्य ही यथार्थ में गृहस्थ कहलाने योग्य है। केवल घर होने से ही कोई गृहस्थ नहीं हो जाता है।

क्षमा दया च विज्ञानं सत्यं चैव दमः शमः।
अध्यात्मनिरतज्ञानमेतद् ब्राह्मणलक्षणम्॥

क्षमा, दया, विज्ञान, सत्य, इन्द्रियनिग्रह, शान्ति, तथा आत्मा परमात्मा का चिन्तन एवं नित्य ज्ञान की ही चर्चा ये ही ब्राह्मण के लक्षण हैं।

स्वदुःखेष्विव कारुण्यं परदुःखेषु सौहृदात्।
दयेति मुनयः प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य साधनम्॥

मनुष्य का हृदय इतना विशाल होना चाहिये कि वह दूसरे के दुःख को अपने निज के दुःख के समान अनुभव करे। दूसरे के दुःख को अपना दुःख समझना ही धर्म का साक्षात् साधन कहा गया है।

चतुर्दशानां विद्यानां धारणं हि यथार्थतः।
विज्ञानमिति तद्विद्याद्येन धर्मो विवर्द्धते॥

चौदह विद्याओं (चार वेद, ऋग्, यजुः, साम और अथर्व; चार उपवेद यथा गांधर्व वेद, अथर्व वेद, आयुर्वेद एवं धनुर्वेद तथा छः वेदांग यथा शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) का यथार्थ रूप से धारण करना ही विज्ञान कहलाता है। विज्ञान यथार्थ में वही है जिससे धर्म की वृद्धि हो। जिस

विज्ञान से अधर्म या नास्तिकता की वृद्धि हो वह विज्ञान कोई विज्ञान नहीं है। उसे त्याग देना चाहिये।

धर्मस्यायतनं यत्नाच्छरीरं प्रतिपालयेत्।
न च देहं विना रुद्रो शियते पुरुषैः परः॥

शरीर धर्म का आयतन अर्थात घर है। (शरीर के विना धर्म का आचरण नहीं हो सकता है।) इस कारण शरीर का यत्न के साथ पालन करे विना शरीर के परमपुरुष परमात्मा की आराधना नहीं हो सकती है।

नित्यं धर्मार्थकामेषु युज्येत नियतो बुधः।
न धर्मवर्जितं काममथ वा मनसा स्मरेत्॥
सीदन्नपि हि धर्मेण न त्वधर्म समाचरेत्।

धर्म, अर्थ और काम इन तीनो ही की प्राप्तिके लिये बुद्धिमान गृहस्थ सदा ही पुरुषार्थ करे किन्तु ऐसे अर्थ और काम जिनकी प्राप्ति के लिये अधर्म का आचरण करना पड़े उनका मनमें भी विचार न लावे। धर्म पर चलता हुआ यदि कष्ट भी पावे तो भी अधर्म का आचरण न करे। (लोग धर्म मार्ग पर चलते हुए भी कभी-कभी दुःख प्राप्त कर जाते हैं परन्तु वह दुःख उनके पहले किये हुए अशुभ कर्मों का फल है। साधारण लोग उसे परोपकारादि शुभ कर्मों का फल ही मानकर धर्म से उदासीन हो जाते हैं। हमें सदा यह अटल विश्वास रखना चाहिये कि धर्म का फल सदा ही कल्याणकारी होता है। आज यदि हम अपने पूर्वकृत अशुभ कर्मों के फलस्वरूप दुःख भोग रहे हैं तो आज के धर्म

का शुभ फल आगे चलकर अवश्य प्राप्त करेंगे। शुभ अशुभ कोई भी कर्म परमात्मा के विधान में निष्फल नहीं जा सकते।

नाधार्मिकैर्वृते ग्रामे न व्याधि बहुले भृशम्।
न शूद्रराज्ये निवसेन्न पाषण्डजनैर्वृते।'

जिस ग्राम में धर्मात्मा पुरुष नहीं है, जहां का जलवायु स्वास्थ्यकर नहीं है. जहां पर मूर्खों का राज्य है या पाषण्डी (अर्थात् असाधु किन्तु धर्म का ढोंग करनेवाले) मनुष्यों की भरमार है वहां न रहना चाहिये।

परक्षेत्रे गां चरन्तीं न चाचक्षीत कस्यचित्।

दूसरे के खेत में चरती हुई गायको देखकर किसी से न कहे।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

जैसी बात या व्यवहार दूसरे हमारे साथ करें और हमें पसन्द न हो वैसी बात या वैसा व्यवहार हमें भी दूसरे के साथ कदापि न करना चाहिये। (यह एक ऐसा धार्मिक सिद्धान्त है कि इसे संसार के सार मत मतान्तर के लोग एकमत होकर निर्विवाद स्वीकार करते हैं।)

न देवगुरुविप्राणां दीयमानन्तु वारयेत्।
न चात्मानं प्रशंसेद्वा परनिन्दां च वर्जयेत्॥

देवताओं के उद्देश्य से किंवा गुरुओं और ब्राह्मणों को यदि कोई कुछ दे रहा हो तो उसे नहीं रोके। अपने मुंह से अपनी प्रशंसा आप न करे, दूसरे की निन्दा न करे।

वर्जयेद्वै रहस्यं च परेषां गूहयेद्बुधः।

दूसरे की गुप्त बात जानने की चेष्टा न करे दूसरे की कोई गोपनीय बात यदि अपने को मालूम हो तो उसे प्रकट न करे।

न नग्नां स्त्रियमीक्षेत पुरुषं वा कदाचन।
न च मूत्रं पुरीषं वा न च संसृष्टमैथुनम्॥

नग्न स्त्री या पुरुष को न देखे, टट्टी पेशाब भी न देखे, दूसरे को मैथुन करते न देखे।

विविध श्लोक

अजीर्णे भेषजं वारि जीर्णे वारि बलप्रदम्।
अमृतं भोजनार्धे तु भुक्तस्योपरि तद्विषम्॥

अजीर्ण में जल औषधि के समान है, भोजन पच जाने पर जल पीना बल वर्द्धक है, भोजन के बीच में अमृत तुल्य हितकारी एवं भोजन के अन्त में जल पीना हानिकारक है।

इदमेव हि पाण्डित्यं चातुर्यमिदमेव हि।
इदमेव सुबुद्धित्वमायादल्पतरो व्ययः॥

आमदनी से कम खर्च करना ही सच्ची पण्डिताई, चतुराई एवं बुद्धिमानी है।

आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः॥

जो आशा (लोभ या तृष्णा) के दास हैं वे सारे संसार के दास हैं। जिन्होंने आशा को वश में कर लिया है सारा संसार उनका दास हो जाता है।

तावन्महत्तां महत्वं यावत् किमपि हि न याचते लोकम्।
बलिमनुयाचनसमये श्रीपतिरपि वामनो जातः॥

बड़ों का बड़प्पन तभी तक है जब तक वे दूसरों से कुछ मांगते नहीं हैं। बलि से याचना करते समय पराक्रमी विष्णु भगवान् को भी वामन (छोटा) होना पड़ा।

सर्वाः सम्पत्तयस्तस्य संतुष्टं यस्य मानसम्।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतैव भूः॥

जिसका मन सन्तुष्ट है उसको सारी सम्पत्ति प्राप्त है वही धनी और सुखी है। जिसके पांवों में जूते हैं उसको पृथ्वी पर चलने में कांटों से बचने के लिये पृथ्वी पर चर्म बिछाने की आवश्यकता नहीं है वह जहां चाहे सुखपूर्वक जा सकता है उसके लिये तो सारी पृथ्वी ही चर्म से आच्छादित है। वास्तव में अधिक धन के लिये बेचैनी मनके असंतोष के कारण ही तो होती है। असंतोष के कारण जितना ही धन प्राप्त होता जायगा उतना ही अधिक पाने की लालसा बढ़ती जायगी और इससे बेचैनी भी बढ़ती जायगी।

तुलसीदासजी ने बड़ा ही अच्छा कहा है—

धनहीन कहै धनवान सुखी, धनवान कहै सुख राजा को भारी।
राजा कहै महाराज सुखी, महाराज कहै सुख इन्द्र को भारी।
इन्द्र कहै चतुरानन सुखी, चतुरानन कहै सुख विष्णु को भारी
तुलसीदास विचारि कहै: हरिभक्ति बिना सब लोक दुखारी॥

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

यह अपना है वह दूसरा है यह विचार क्षुद्र पुरुषों का होता है। उदार हृदयवाले (शुद्ध आचरणवाले) मनुष्यों के लिये तो सारा संसार ही अपना कुटुम्बी है।

उत्तमे तु क्षणं कोपो मध्यमे घटिकाद्वयम् ।
अधमे स्यादहोरात्रं चाण्डाले मरणान्तिकः ॥

श्रेष्ठ पुरुषों का क्रोध क्षणभर के लिये होता है। मध्यम श्रेणी के लोगों का क्रोध दो घड़ी रहता है, नीचे दर्जे के लोग एक दिन-रात रखते हैं; चाण्डाल का क्रोध जीवन भर रहता है (उसका यदि कोई कुछ बुरा कर दे तो उसे मरते दमतक क्षमा न करेगा)। अतएव महापुरुष वे ही हैं जो किसी से बदला लेने की भावना दिल में नहीं रखते हैं।

उद्योगे नास्ति दारिद्र्यं जपतो नास्ति पातकम् ।
मौनेन कलहो नास्ति नास्ति जागरतो भयम् ॥

पुरुषार्थी मनुष्य को दरिद्रता नहीं हो सकती। ईश्वर के नाम का ज्ञान सहित जप करने से पाप पास नहीं आ सकता। चुप रहने से कलह नहीं हो सकता और सचेत रहने से भय नहीं हो सकता।

कोहि भारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम् ।
को विदेशः सुविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ॥

समर्थ मनुष्यों के लिये कुछ भी भारी नहीं है, परिश्रमी मनुष्यों के लिये कहीं भी दूर नहीं है। विद्वानों के लिये कोई भी देश विदेश नहीं है। सब जगह विद्या के कारण स्वदेश जैसा ही उनका आदर होगा। जो प्रिय बोलनेवाले हैं उनके लिये कोई भी पराया नहीं है सब को वे अपनी वाणी से अपना बना लेते हैं।

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।
गृहं तु गृहिणीहीनं कान्तारमिति मन्यते॥

यथार्थ में ईंट पत्थर के बने मकान को गृह नहीं कहते हैं, गृहिणी ही गृह है अर्थात् गृहिणी से ही घर की शोभा है एवं गृहस्थाश्रम की सारी व्यवस्था चल सकती है। जिस घर में उत्तम गृहिणी नहीं है वह जङ्गल के तुल्य है, यथार्थ में उसको घर नहीं कह सकते।

द्वावेतौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव।
राजनमविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम्॥

सांप जैसे बिल में रहनेवाले जन्तुओं को ग्रस लेता है उसी प्रकार भूमि इन दोनों को ग्रस लेती है, एक तो ऐसे क्षत्रिय को जो युद्ध से डरे, और दूसरे उस ब्राह्मण को जो विदेश न जावे। घर में विद्या, कला आदि का यथार्थ आदर नहीं हो सकता।

जरामरणदुःखेषु राज्यलाभसुखेषु च।
न बिभेमि न हृष्यामि तेन जीवाम्यनामयः॥
यथाकालमुपायातावर्थानर्थौ समौ मम।
हस्ताविव शरीरस्थौ तेन जीवाम्यनामयः॥

यदा यदा मुने किंचिद्विजानामि तदा तदा ।
मतिरायाति नौद्धत्यं तेन जीवाम्यनामयः ॥
करोमीशोपि नाक्रांतिं परितापे न खेदवान् ।
दरिद्रोपि न वाञ्छामि तेन जीवाम्यनामयः ॥
सुखितोऽस्मि सुखापन्ने दुःखितो दुःखिते जने ।
गर्वस्य प्रियमित्रं च तेन जीवाम्यनामयः ॥

बुढ़ापा, मृत्यु किंवा दुःख अथवा राज्यलाभ कुछ भी प्राप्त होनेपर न तो डरे (या दुःख करे) और न हर्ष ही करे बल्कि दुःख-सुख हानि-लाभ सब में एक रस रहे वही मनुष्य नीरोग और सुखी रहता है। समय-समय पर अर्थ और अनर्थ प्राप्त होते रहते हैं इनको जो दोनों हाथों के जैसा समान भाव से देखता है वही मनुष्य नीरोग और सुखी है। जब-जब कोई नई विद्या की प्राप्ति करे तो मनुष्य को उचित है कि वह उससे अपनी बुद्धि को पवित्र करे उद्धत न हो जावे। इसी से सुख और आरोग्य की प्राप्ति होती है। शक्ति रहते हुए भी जो दूसरों पर आक्रमण नहीं करता, विपत्ति प्राप्त होनें पर भी जो शोक नहीं करता तथा धनहीन होते हुए भी जो दूसरे के धन पर मन नहीं चलाता वही सुखी और नीरोग रहता है। दूसरे के सुख से सुखी और दूसरे के दुःख से जो दुःखी होता है तथा जो गर्वीले मनुष्यों से भी घृणा नहीं करता (अथवा जो विपत्ति में भी आत्मसम्मान नहीं खोता है) वही सुखी और नीरोग रह सकता है।

धनिकः श्रोत्रियो राजा नदी वैद्यस्तु पंचमः।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते न तत्र दिवसं वसेत्॥
लोकयात्रा भयं लज्जा दाक्षिण्यं त्यागशीलता।
पंच यत्र न विद्यन्ते न तत्र दिवसं वसेत्॥
यस्मिन् देशे न संमानो न प्रीतिर्न च बान्धवाः।
न च विद्यागमः कश्चिन्न तत्र दिवसं वसेत्॥

जहाँ पर धनी, विद्वान्, राजा, नदी और वैद्य नहीं हो वहां पर एक दिन भी न रहे। जहाँ पर जीविका का साधन न हो, पाप और कुकर्म से लज्जा करनेवाले न हों, चतुर बुद्धिमान और त्याग शील लोग न हों वहां पर एक दिन भी न रहे। जिस देश में सम्मान न हो, प्रीति करनेवाले और बन्धुबान्धव न हों, विद्या-प्राप्ति न होवे उस देश में एक दिन भी न रहे।

दाने तपसि शौर्ये च विज्ञाने विनये नये।
विस्मयो नहि कर्त्तव्यो बहुरत्ना वसुन्धरा॥

दानशीलता, तप, बल, पराक्रम, ज्ञानविज्ञान, विनय और नीतिज्ञता अपने में जितनी भी अधिक क्यों न हो उसका अभि-मान नहीं करना चाहिये। पृथ्वी रत्नों से भरी है। इसमें एक से एक बढ़कर हैं।

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नो विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

अपनी माता, बहिन या पुत्री के साथ भी एकान्त में एक साथ न बैठे। इन्द्रियां बड़ी चञ्चल होती हैं और विद्वानों को

भी पथभ्रष्ट कर सकती हैं। अतएव बुद्धिमानी इसी में है कि ऐसा अवसर ही न आने दें। यों भी जब-जब किसी पुरुष को परायी स्त्री से बात करने की आवश्यकता हो तो मातृभाव को मन में रखते हुए ही उससे वार्तालाप करे, और स्त्री को भी ऐसा ही उचित है कि पराये पुरुष से पुत्रवत भाव मन में रखते हुए ही बातचीत करे।

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिवेत्।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥

दृष्टि से पवित्र करके (अच्छी तरह देखकर) भूमि पर पांव रखे, जल को वस्त्र से छानकर ही पीवे, वाणी को सत्य से पवित्र करके बोले (अर्थात् असत्य, अप्रिय, एवं परहानि करनेवाले वचन न बोले) आचरण मन की पवित्रता से ही करे (किसी भी कर्म के करने में मन में हिंसा, राग, द्वेष, लोभ आदि के भाव न हों, कर्तव्यनिष्ठा और परहित की ही भावना सदा रहे)।

येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥

जिन में विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील, गुण वा धर्म कुछ भी नहीं हैं वे पृथ्वी पर भारस्वरूप ही हैं।

रे रे चातक सावधानमनसा मित्रं क्षणं श्रूयताम्।
अम्भोदा वहवो वसन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः॥
केचिद्वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद्वृथा।
यं यं पश्यति तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः॥

कवि चातक को सम्बोधन करके कह रहा है कि जरा साव-धान होकर सुनो—आकाश में मेघ बहुत हैं पर सभी समान नहीं हैं। कोई-कोई मेघ तो वृष्टि से पृथ्वी को आर्द्र कर औषधियों और वनस्पतियों को भोजन प्रदान करते हैं और उनके द्वारा प्राणिमात्र का कल्याण करते हैं परन्तु कितने मेघ तो यों ही गरजते हैं पर वरसते नहीं हैं। अतएव जिस किसी को भी देखकर ही दीन वचन बोलना मत आरम्भ कर दो। मनुष्य के लिये यही शिक्षा है कि सब किसी को अपने दुःख न सुनाया करे और न हर किसी से कुछ मांगता रहे। अपना दुःख केवल परमपिता से ही कहे और प्रभु से ही याचना करे। परमात्मा ने जो हमारे शरीर में विवेक के साधन मन आदि, ज्ञानेन्द्रिय और हाथ-पांव आदि कर्मेन्द्रिय देकर हमें अच्छे-बुरे का विवेक करते हुए ज्ञानपूर्वक पुरुषार्थ करने का शुभ आदेश दिया है उस आदेश का यथा-शक्ति पालन करने से प्रभु हमें सारे भोग्य पदार्थ अवश्य देंगे और हमारी सारी कमी को पूरी करेंगे इसमें सन्देह नहीं है।

यामनध्ये न भोक्तव्यं द्वियामं नैव लंघयेत्।

दिनके पहले पहर में अर्थात सूर्योदय से तीन घंटे तक भोजन न करे। दोपहर तक विना भोजन किये भी न रहे। बारह बजे के पहले अवश्य ही खा लेवे। एक पहर के भीतर भोजन करने से आम रस की वृद्धि होती है (जिससे आमाशय, आम वात आदि रोगों के होने की सम्भावना है)। दोपहर तक उपवास करने से रस का क्षय होता है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

कृष्ण भगवान गीता में कहते हैं कि भोजनभट्ट आदमी योग नहीं कर सकता। बिल्कुल भूखा रहनेवाला मनुष्य भी योग नहीं कर सकता है। बहुत सोनेवाला अथवा बिल्कुल ही नहीं सोनेवाला मनुष्य भी योग नहीं कर सकता। उचित मात्रा में आहार-विहार करनेवाले तथा सोने जागनेवाले और चेष्टा करनेवाले ही योग के द्वारा सारे दुःखों का नाश करने में समथ होते हैं। (अधिक भोजन से अजीर्ण, आलस्य आदि के कारण शरीर में काम करने की क्षमता नहीं रह जाती है अधिक उपवास से अथवा पाचनशक्ति से कम खाने से भी शरीर क्षीण होकर कार्य करने में असमर्थ हो जाता है। कृष्ण जी ने गीता में योग का अर्थ बतलाया है 'योगः कर्मसु कौशलम्' अर्थात् अपने कर्त्तव्य कर्म को सुचारू रूप से सम्पादन करना। दूसरा अर्थ है—

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।

पुरुषार्थ करते हुए सफलता असफलता जो कुछ भीप्राप्त हो उसमें सम भाव रखना, सफलता में हर्ष अथवा असफलता में शोक न करना। चित्त का निरोध करके उसे ईश्वर में लगाना भी योग है। इन सारे कार्यों के लिये शरीर की स्वस्थता नितान्त प्रयोजनीय है।)

देशाटनं पण्डितमित्रता च वृद्धोपसेवा च सभाप्रवेशः।
अनेकशास्त्राणि विलोकतानि चातुर्यमूलानि भवन्ति पंच ॥

अनेक देशों का भ्रमण, विद्वानों से मित्रता, वृद्धों की सेवा, राजसभा में प्रवेश तथा शास्त्रों का अध्ययन—ये पाँच चतुराई के मूल हैं।

गर्ज गर्ज क्षणं मूढ मधु यावत् पिबाम्यहम्।
मया त्वयि हते पापे गर्जिष्यन्त्यत्र देवताः ॥

युद्ध क्षेत्रमें मा दुर्गाने महिषासुर से कहा था—मूर्ख, तू खूब गरज। जितना अधिक तू गरजेगा उतने ही कम समयमें मैं तेरा अहंभाव रूपी मद्य पी लूंगी। अहंभाव स्वरूप मधु को पीकर मैं तेरी आसुरी सम्पत्ति का नाश कर दूंगी। तेरे मारे जाने के बाद जहाँ अभी तू गरज रहा है वहाँ देवता गरजेंगे। अर्थात् आसुरी भाव की समाप्ति पर दैवी भाव की अभिवृद्धि होगी।

भगवान् मानवके अहंभावको ही खाते हैं। अहंभाव आसुरी सम्पत्ति है उसके नष्ट हो जानेसे मानव देवता हो जाता है। इसलिये हमें कभी भी अपनेमें अहंभाव नहीं लाना चाहिये।

वस्तुतः सारे कार्य प्रकृति के विधानके मुताबिक चला करते हैं। हम तो उसमें केवल निमित्त हैं पर आसुरी भावके उदय होने से हम कर्म विशेषमें अपने को कर्त्ता मानने लगते हैं। इस सम्बन्ध में भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

[प्रकृति के गुण—सत्त्व-रज-तमसे सारे कार्य किये जाते हैं पर अहंभाव की प्रधानता होने पर हम उसमें अपने को कर्ता मान बैठते हैं]

दक्ष यज्ञ के विध्वंस का कारण भी अहंभाव का उद्रेक ही था। दक्ष प्रजापति उस यज्ञ कर्म को, जो प्रकृति के कल्याण के लिये प्रवर्तित हुआ था, अपना मानी उसमें अपने को कर्ता मान कर बैठे थे। अहंभाव में आकर ही उन्होंने स्वयंभू शिव को उसमें आमन्त्रित नहीं किया था और उनके विषय में कुछ उटपटांग बातें भी कही थीं। सतीने दक्ष की शक्ति के रूपमें अपने आपको मिटा दिया। प्रजापति दक्ष का यज्ञ विध्वस्त हो गया।

न्यायागतधनस्तत्त्वनिष्ठोऽतिथिप्रियः।
श्राद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते॥

अपने पुरुषार्थ से धर्म एवं सत्यतापूर्वक धन प्राप्त करनेवाला तत्त्व ज्ञानमें निरन्तर मन लगाये रहनेवाला हित और अहितको समझते हुए घरमें आये हुए अतिथिका सत्कार करनेवाला और देवताओंका पूजन, पितरों का श्राद्ध-तर्पण, तथा माता-पिता की सेवा श्रद्धापूर्वक करनेवाला मन, वचन, कर्मसे सत्य आचरण करनेवाला ऐसा गृहस्थाश्रममें रहनेवाला भी पुरुष मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

परान्नं परवस्त्रं च परशय्या परस्त्रियः।
परवेश्मनि वासश्च शक्रस्यापि श्रियं हरेत्॥

दूसरे का अन्न खाना, दूसरे का वस्त्र अपने काम में लाना, दूसरे की शय्या पर सोना, परायी स्त्री में कामवासना रखना, दूसरे के घर में रहना—ये कर्म इन्द्र की भी श्री हरनेवाले हैं। साधारण मनुष्यों का तो कहना ही क्या है।

परान्नं परद्रव्यं च तथैव तु प्रतिग्रहम्।
परस्त्री परनिन्दां च मनसाऽपि विवर्जयेत्॥

दूसरे का अन्न, दूसरे का धन, तथा प्रतिग्रह (दान) लेने; परायी स्त्री और पराये की निन्दा करना मन से भी छोड़ देना चाहिये। अर्थात् इन वस्तुओं पर मन ले जाना भी पाप है। यहां परान्न' एवं 'परद्रव्य' से वह अन्न एवं धन समझना चाहिये जो विना सम्बन्ध, श्रम या मंगल कामना के, लिया जाता है। एक मित्र या सम्बन्धी परस्पर के व्यवहार क्षेत्र में आवश्यकता के अनुसार अपने मित्र या सम्बन्धी का अन्न किंवा धन ग्रहण कर सकता है। यहां दाता एवं ग्रहीता में परायेपन का अनुभव नहीं होना चाहिये।

कुछ ऐसे महापुरुष होते हैं जिनका अपना कुछ भी नहीं होता। वे मन, वचन एवं कर्म से संसार की मंगल कामना किया करते हैं। उन महापुरुषों के लिये सारा संसार अपना है। इसके सिवा जो लोग व्यक्ति विशेष की मंगल कामना तन-मन से करते हैं वह उनके लिये पराया नहीं होता। जो लोग अपने ही स्वार्थके लिये, केवल ले लेनेकी ताकमें लगे रहते हैं-उनके कर्मोंकी सिद्धि कभी नहीं होती।

प्रतिग्रह (दान) दाताके कष्ट निवारणके वास्ते लिया जाता है। क्योंकि ब्राह्मणोंका जीवन संसारके उपकारके लिये होता है। इस लिये वे प्रतिग्रह लेकर दाताका कष्ट निवारण करते हैं। ऐसी शक्ति भगवान्ने ब्राह्मणोंमें रख छोड़ी है। कारण, उनमें त्याग है। प्रतिग्रह लेना अपने भोगके लिये नहीं होना चाहिये। प्रतिग्रह लेकर अपने पास नहीं रखना चाहिये। उसे बांट देना चाहिये। बांट देनेमें दाता एवं ग्रहीता—दोनों की भलाई है। लोभके वशीभूत हो जो प्रतिग्रह लिया जाता है वह दो में से एकके लिये भी हितकर नहीं होता।

अपनी स्त्रीके साथ भी सहवासके शास्त्रोंने नियम बताये हैं (जिनका इस पुस्तकमें एकाधिक बार उल्लेख हुआ है) उससे विपरीत चलने पर पाप लगता है। फिर परायी स्त्रीकी तो बात ही दूसरी है। परायी स्त्री तो माता की भांति पूजनीय है।

दूसरेकी निन्दा करना पातक है। निन्दाकी जड़में असूया रहती है। उसीसे प्रेरित होकर मनुष्य दूसरे पर कीचड़ उछालता है। किसी महाकविने जैसा कि कहा है—'अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दा प्रकुर्वते।'—बड़े पद पर पहुंचने की अभिलाषा रखने वाले किन्तु उस पर नहीं पहुंच सकने वाले लोग उन पदों पर आसीन जनोंकी निन्दा किया करते हैं। इससे प्रकट होता है कि निन्दक पुरुष अपने जीवनमें उन्नति करने किंवा सुखी होनेका साधन खो बैठता है। वह परायेकी निन्दा करके अपने कर्त्तव्योंकी

इति समझ लेता है। पुनः ऊपर उठनेका प्रयास नहीं करता। परनिन्दा इह लोक एवं परलोक—दोनोंका नाशक है। इस लिये इससे बचना चाहिये।

वस्तुओंकी आवश्यकता होनेपर दूसरेकी वस्तु विनिमयमें ली जा सकती है परन्तु मुफ्तमें परायी वस्तु लेनेका विचार मनमें भी नहीं आना चाहिये। कारण, मुफ्तमें परायी वस्तु लेनेसे आलस्य उत्पन्न होता है। आलस्यसे उद्योगमें कमी आती है। उद्योगके अभावसे मानवतासे च्युति हो जाती है।

अतः सर्वात्मना देवि, वाणिज्यकृषिकर्मसु।
प्रमादव्यसनालस्यं मिथ्यालापं विवर्जयेत्॥

—व्यापार, खेती और किसी भी दूसरे काममें असावधानी न करे। दुर्व्यसनोंमें आसक्ति और आलस्य हर हालतमें छोड़ देना चाहिये। असत्य भाषण तो कभी भी नहीं करना चाहिये।

जिह्वा दग्धा परान्नेन हस्तौ दग्धौ प्रतिग्रहात्।
मनो दग्धं परस्त्रीषु कथं सिद्धिर्वरानने॥

हे पार्वति! जिनकी परान्न सेवनसे जिह्वा (जीभ) दग्ध हो गयी तथा प्रतिग्रह (दान) लेने से हाथ दग्ध हो गये, जिनका मन परायी स्त्रियोंको दोष दृष्टिसे देखनेसे दग्ध हो गया ऐसे पुरुषों को सिद्धि एवं सुख कभी भी प्राप्त नहीं होता।

आलस्यं स्त्रीसेवा सरोगिता जन्मभूमिवात्सल्यम्,
सन्तोषो भीरुत्वं षड् व्याघाता महत्त्वस्य।

आलसी स्वभाव, काम-पिपासाकी पूर्तिके लिये स्त्रियोंके पीछे लगा रहना, बराबर रोगी रहना जन्म-स्थान को न छोड़ना, सन्तोष और डरपोकपन—ये छः बड़प्पनके बाधक हैं अर्थात् इनमेंसे कोई एक भी जिस पुरुषमें आ जाय वह बड़ा नहीं हो सकता।

आलस्य—प्रातःकाल सूर्योदयसे पहले उठना चाहिये, नियत समयपर स्नान-सन्ध्या-तर्पण समाप्त कर लेना चाहिये, मध्यान्ह भोजन उचित समय पर ही करना चाहिये और जीविकोपार्जन में निर्धारित समय पर लग जाना चाहिये। यह जागरुकता है। इससे विपरीत आचरण करना। दूसरे शब्दोंमें खाना-पीना गप-शप करना और सोने ही में सारा समय लगा देना आलस्य है। इसके सिवा किसी काममें मन न लगाना भी आलस्य है।

स्त्री सेवा—स्त्रियोंमें पूज्य बुद्धि रखकर उनकी सेवा करना तो बड़प्पन का मार्ग है। इसके प्रतिकूल काम-पिपासाकी तृप्तिके लिये उनके पीछे-पीछे फिरना, गलेमें गला लगाकर पार्कों एवं सड़कों पर घूमना, स्त्रियोंकी गोष्ठीमें बैठकर नर्महास्य, डींगें मारना आदि स्त्री सेवा शब्दसे कहा गया है।

सरोगिता—ऐसा आचरण करना जिससे रोग सदा बना रहे या स्वभावतः सदा रोगी रहना।

जन्मभूमिवात्सल्य—जन्म स्थान को छोड़नेमें पीड़ा का अनुभव करना।

सन्तोष—विद्या, ज्ञान एवं धन उपार्जनसे क्षण भरके लिये भी विरत नहीं होना चाहिये। ये तीनों चीजें व्यक्ति एवं राष्ट्रके महत्त्व को बढ़ाती हैं। इनसे सन्तोष कर लेना महत्त्व का बाधक है।

भीरुत्व—डरपोकपन। यह कई तरहका होता है। भूत पिशाच से भय, अकारण भय, किसी वस्तु को आखिरी रूप देनेमें भय, बड़ा उद्योग प्रारम्भ करनेमें भय आदि। सभी कार्यों का परिणाम अनुकूल ही नहीं होता। पर परिणाम की प्रतिकूलता का विचार कर किसी उद्योग को प्रारम्भ न करना कायरता है। नीति कहती है—'न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति। संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति'—संशयात्मक काम किये बिना मनुष्य उन्नति नहीं कर सकता। संशयात्मक काममें खतरा है पर फूलमें भी तो काँटे होते हैं। उन्हें हटाकर ही फूल चुनते हैं। इस लिये सन्तोष भी भीरुता का ही एक रूप है और यह महत्त्व का बड़ा बाधक है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

अपने जाने नहीं, गुरुजनों एवं शास्त्रों में श्रद्धा भी न रखे, सदा मन में संशय रखे एवं सब में सन्देह करे ऐसे मनुष्य के लोक परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।

अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥

नीति में निपुण लोग निन्दा करें या प्रशंसा करें, लक्ष्मी आवे अथवा जहाँ इच्छा चली जावे, मृत्यु आज ही हो जावे किंवा युगों बाद होवे, इसकी लेशमात्र भी चिन्ता न कर धीर (बुद्धिमान) पुरुष न्याय (धर्म) के मार्ग से एक पग भी विचलित नहीं होते।

विद्याविलासमनसो धृतशीलशिक्षाः
सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः।
संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये
धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः ॥

जिनका मन सदा विद्या की चर्चा में लगा रहता है, जिन्होंने उत्तम शील की शिक्षा धारण की है, सत्य ही जिनका व्रत है, जिनमें अभिमान का मल जरा भी नहीं, जो संसार के प्राणिमात्र का दुख दूर करने में प्रयत्नशील हैं तथा परोपकार में ही सर्वदा निरत रहते हैं वे महापुरुष धन्य हैं।

धर्मं शनैः संचिनुयाद् वल्मीकमिव पुत्तिकाः।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥

किसी भी प्राणी को पीड़ा नहीं देते हुए धर्म का शनैः-शनैः संचय करते जाना चाहिये। परलोक में सहायक एक मात्र धर्म ही होता है।

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥

परलोक में माता, पिता, स्त्री, पुत्र, कुटुम्बी आदि सहायता के लिये उपस्थित नहीं हो सकते। एक मात्र धर्म ही वहां पर साथ दे सकता है। अतएव माता, पिता, स्त्री, पुत्रादि के मोह में पड़कर धर्म को न त्याग देवे। धर्म उन सबसे अधिक उपकारी है, इसका सेवन सदा ही करता रहे और धर्म की मर्यादा में रहते हुए ही पुत्रादि परिवार वर्ग का पालन करे।

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतद् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

—खल यदि विद्या सम्पन्न हुआ तो विवाद करेगा, धनी हुआ तो घमण्ड करेगा और यदि बलशाली हुआ तो दूसरोंको कष्ट देगा। इसके प्रतिकूल सज्जन पुरुष विद्यासे ज्ञानार्जन करेगा, धनका उत्तम पात्रोंमें दान करेगा और शक्तिशाली होकर असक्तोंकी रक्षा करेगा।

एक ही वस्तु आश्रम भेदसे भिन्न २ गुण प्रकट करती है।

सर्पाणां च खलानां च सर्वेषां दुष्टचेतसाम्।
अभिप्राया न सिद्ध्यन्ति तेनेदं वर्त्तते जगत्॥

—सर्पों, खलों और सभी दुष्ट प्रकृतिके प्राणियोंका मतलब सिद्ध नहीं होता, इसी लिये यह संसार वर्त्तमान है। यदि उनका मतलब सिद्ध हो जाय, तो वे संसारको एक क्षण भी टिकने न दें।

आदौ गुरुर्ह्स्वतरा च पश्चात् पूर्वं लघुर्वृद्धिमती क्रमेण ।
दिनस्य पूर्वार्द्ध-परार्द्धभिन्ना छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥

खलोंकी मित्रता प्रारम्भमें बड़ी गाढ़ी होती है और आगे चलकर धीरे-धीरे वह कम होने लगती है। इसके विपरीत सज्जनोंकी मित्रता प्रारम्भमें तो हलकी होती है पर क्रमशः बढ़ती जाती है, जैसे प्रातःकालीन एवं मध्याह्नोत्तर की छाया होती है। प्रातःकालीन छाया लम्बी होती है पर मध्याह्न तक वह बहुत ही छोटी हो जाती। दो पहरके बाद की छाया इसके उलटी होती है।

कटु क्वणन्तो मलदायकाः खलास्तुदन्त्यलं बन्धनशृंखला इव ।
मनस्तु साधुध्वनिभिः पदेपदे हरन्ति सन्तो मणिनूपुरा इव ॥

—खलकी उपमा हाथ या पैर में पड़ी हुई बेड़ीसे दी गई है। बेड़ीकी आवाज कर्कश होती है। वह जिस जगह पड़ी हुई होती है उसे काला कर डालती है और कष्ट तो खूब ही देती है। इसके विपरीत सज्जनकी उपमा मणियोंसे रचित नूपुर से दी गयी है। नूपुरकी ध्वनि मधुर होती है और श्रोताके मनको बरबस वह अपनी ओर खींच लेती है।

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्यायालंकृतोऽपि सन् ।
मणिना भूपितः सर्पः किमसौ न भयंकरः ॥

दुर्जन यदि विद्वान् हो तो भी उससे दूर रहना चाहिये। मनियार साँप भी क्या विषधर नहीं होता? विद्या उत्तम वस्तु है। उससे विनय आता है। किन्तु विद्वान् होकर भी जो विनय-

शील न हुआ, दुर्जन ही रहा वह साधारण दुर्जनोंकी अपेक्षा अधिक भयंकर होता है। इसलिये उससे हर तरह से बचना चाहिये। कहते हैं—मनियारा सांप अधिक भयंकर होता है।

उत्साह सम्पन्न मदीर्घसूत्रम्।
क्रियाविधिज्ञम् व्यसेनस्वसक्तम्॥
शूरम् कृतज्ञम् दृढ़ सौहृदञ्च।
लक्ष्मी स्वयं याति निवास हेतोः॥

उत्साह से युक्त, आलस्य रहित, क्रिया विधिके जाननेवाले, दुर्व्यसनों से रहित, बलवान, किये हुए को जाननेवाले एवं दृढ़ मित्रतावाले, ऐसे पुरुषों के पास लक्ष्मी स्वयमेव आ जाती है।

जाड्यंधियो हरति सिञ्चतिवाचि सत्यम्।
मानोन्नतिं दिशति पापमपा करोति॥
चेतप्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिम्।
सत्संगति कथय किन्नकरोति पुंसाम्॥

बुद्धि की जड़ता को नष्ट करती है, वाणी में सत्यता का प्रादुर्भाव करती है, मानको बढ़ाती है, पापको दूर करती है, चित को प्रसन्न करती है, लोकमें यशको फैलाती है। कहो सत्संगति मनुष्य के लिये क्या नहीं करती है।

सानन्दम् सदनम् सुताश्चसुधियः कान्ता न दुर्भाषिणी।
सन्मित्रम् सुधनम् स्वयोषित रतिश्चाज्ञापराः सेवकाः॥
आतिथ्यम् शिवपूजनम् प्रतिदिनम् मिष्टान्न पानम् गृहे।
साधोः सङ्गमुपासते हि सततम् धन्यो गृहस्थाश्रमः॥

जिनका घर आनन्दोल्लास से परिपूर्ण है, पुत्र विद्वान् है, प्रिय-भाषिणी स्त्री है, सन्मित्र है, अर्थात् स्त्री में रति है, आज्ञा में रहने वाले सेवक हैं। सर्वदा अतिथि सत्कार होता है, शिव पूजन होता है, घर में नित्य ही मिष्टान्न पान (प्राकृतिक आहार) होता है। निरन्तर सज्जन पुरुषों की संगति होती है ऐसा गृहस्थाश्रम धन्य है।

सर्पा पिबन्ति पवनम् न च दुर्बलास्ते।
शुष्कैः तृणं वनगजाः बलिनो भवन्ति॥
कन्दैफलैः मुनिजनाः क्षपयन्ति कालम्।
सन्तोष एव पुरुषस्य परम् प्रधानम्॥

सर्प वायु पीते हैं परन्तु दुर्बल नहीं है, हाथी शुष्क तृणके खाने से ही बलवान होते हैं, कन्द, फलों के आश्रय से मुनिजन कालको व्यतीत करते हैं। अर्थात् सन्तोष ही पुरुष का परम धर्म है।

गायन्ति देवाः किल गीतकानि, धन्यास्तु ये भारत भूमि भागे।
स्वर्गापवर्गस्य फलार्जनाय, भवन्ति भूयः पुरुषा सुरत्वात्॥

जिनका भारत भूमि भागमें जन्म हुआ है वे धन्य हैं। ऐसा देवता लोग गीत गाते हैं। क्योंकि स्वर्ग और अपवर्ग के फलको उपार्जन करने के लिये सुरत्व से पुनः मनुष्य होते हैं।

किं तेन हेम गिरिणा रजताद्रिणा वा।
यत्राश्रिताश्च तरवः स्तरवस्तएव॥
मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण।
कङ्कोल निम्ब-कटुजा अपिचन्दनास्युः।

अर्थात्—स्वर्ण पर्वत, रजत पर्वत से क्या प्रयोजन, क्योंकि उनके पास होनेवाले वृक्ष, वृक्ष ही रहते हैं। उनमें कोई भी विशेषता नहीं आती। हम तो मलय पर्वत को ही उच्च समझते हैं जिसके आश्रय से कङ्कोल, निम्ब तथा कटु वृक्ष भी चन्दन ही जाते हैं।

एह्यागच्छ समाश्रयासनमिदम् कस्माच्चिराद्दृश्यसे ;
का वार्ताकुशलोऽसिबालसहितः प्रीतोऽस्मि ते दर्शनम्।
एवं ये समुपागतान् प्रणयिता प्रल्हादयन्त्यादरात् ,
तेषाम शक्यमशंकितेनमनसा हर्म्याणि गन्तुं सदा॥

अर्थात् यहां आवो, यह आसन है, बहुत दिनों से दर्शन दिये, कहो क्या बात है, कुशल तो है : कुटुम्ब सहित मैं आपके दर्शन से प्रसन्न हूं। इस प्रकार से जो सत्कार करते हैं उनके घर निशंक मनसे जाना चाहिये। जो आये हुए का आदर न करें उनके घर कभी नहीं जाना चाहिये।

रक्षः पतिः जनकजा हरणेनवाली ,
तारापहार विधिना स च कीचकोऽपि।
पांचालिका प्रमथनान्निधनम् जगाम ,
तस्मात् कदापि परदार रतिम् न कुर्यात॥

भगवती सीता के अपहरण से रावण, सुग्रीव की स्त्री "तारा" के अपहरण से वाली, द्रौपदी (पांचालिका) के प्रमथन से कीचक मृत्यु को प्राप्त हो गये। अतः मनुष्य मात्रको कभी भी परस्त्री में

करनी चाहिये। सदैव मातृभाव से देखना चाहिये सम्पूर्ण स्त्रियां शक्तिरूपा तथा पूज्या हैं।

परस्त्री मातेव क्वचिदपि न लोभः परधने,
न मर्यादाभङ्गः क्षणमपि न नीचेष्वभिरुचिः।
रिपौ शौर्यं स्थैर्यं विपदि विनयं सम्पदि सता,
गिरं वत्स भ्रातर्भरत नियतं यास्यसि सदा॥

हे भरत—परस्त्री को माता के समान समझना चाहिये। दूसरे के धनपर कभी भी मन नहीं चलाना चाहिये। मर्यादा का कभी भी उल्लंघन नहीं करना चाहिये, नीच की संगति भी नहीं करनी चाहिये, शत्रु पर वीरता दिखलानी चाहिये, विपत्ति में धैर्य रखना चाहिये, सम्पत्ति में नम्रता रखनी चाहिये। यह उपदेश मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्रजी ने जनतन्त्रात्मक राज्यके विषय में दिया था। अतः मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य है कि वह इन नियमों पर चलता हुआ अपना तथा संसार का कल्याण करें।

विष्णोः प्रार्थयमेदिनीं पशुपते वीर्यं बलात्कारणम्।
प्रेतेशान्महिषं तवास्ति वृषभः फालं त्रिशूलं कुरु॥
शक्ताऽहं तवचान्न-पान नयने स्कन्दोगवां रक्षणे।
भिक्षां संत्यज गर्हितां कुरु कृषिं गौरीवचः पातुवः॥

भगवती गौरी भगवान् शंकर से, प्रार्थना करती है कि हे पशुपते उत्तिष्ठ, पराक्रम को धारणकर, आलस्य को छोड़, निन्दनीय भिक्षा वृत्तिको त्यागकर श्रमयुक्त कृषी (खेती) करो। जिस के

लिये विष्णुसे पृथ्वी, प्रेतश (यमराज) से महिष ग्रहण करो तथा वृष आपके पास है, त्रिशूल का हल बनाओ। मैं आपके लिये अन्न पानादि लानेमें समर्थ हूं। स्कन्द (कार्तिक स्वामी) को गौ रक्षा के लिये नियुक्त करो। इस प्रकार सुचारु-रूपसे कार्यमें संलग्न हो जाओ। यह जो उपदेश है यह संसार के तमाम गृहस्थियों के लिये प्रयोजनीय है। अतः आलस्य को छोड़ अपने पैरोंपर खड़े होओ, परमुखापेक्षी मत बनो, पुरुषार्थ करो।

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवी श्रिताः॥
अथो अन्नेनैवजीवन्ति। अथैतदपि यन्त्यन्ततः॥
अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात् सर्वौषधमुच्यते॥
अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नं न निंद्यात्॥

तद्व्रतम्। प्राणोवा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। आपोवाअन्नम्। ज्योतिरन्नादम्। अन्नं बहुकुर्वीत। तद्व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्। आकाशो अन्नादः। इति तैत्तिरीयोपनिषत्॥

अन्न से ही प्रजा उत्पन्न होती है। जो कुछ भी पृथ्वीपर स्थित है वह अन्न से ही है। अन्न से ही तमाम प्राणी जीते हैं। अन्तमें अन्नमें ही समाजाते हैं। अन्न ही प्राणियों में ज्येष्ठ है। इसी कारण अन्न सर्वौषधरूप है। अन्नको साक्षात् ब्रह्म जानो। अन्न की निन्दा मत करो। यह भी व्रत है। प्राण भी अन्न ही है। शरीर अन्न को खानेवाला है। जल भी अन्न ही है। अग्नि (ज्योति) अन्न को खानेवाली है। अन्नकी वृद्धि करो। यह भी व्रत है। पृथ्वी भी अन्न ही है। आकाश अन्नको खानेवाला है।

राजनिघण्टुसे उपयोगमें आनेवाली कतिपय वस्तुओंके गुण एवं यत्र-तत्र कुछ प्रयोग भी लिखे जाते हैं—

पीपर

पिप्पली ज्वरहा वृष्या स्निग्धोष्णा कटुतिक्तका।
दीपनी मरुतश्वासकासश्लेष्मक्षयापहा॥

पीपर, ज्वरघ्न, शुक्रल, स्निग्ध, उष्ण, रसमें कटु, तिक्त है और अग्निको दीप्त करती है। इसके प्रयोगसे वायु, दम, खाँसी, कफ और मामूली क्षय (राजयक्ष्मा) नष्ट होता है। पीपरके चूर्ण को मधुके साथ खानेसे कास-श्वास-कफके विकार शान्त होते हैं। पीपर बहुत ही तीक्ष्ण है, इसलिये अपना काम भी बहुत जल्द करती है। चरकने पीपरका अधिक उपयोग मना किया है।

सोंठ

शुण्ठी कटूष्णा स्निग्धा च कफशोफानिलापहा।
शूलबन्धोदराध्मानश्वासश्लीपदहारिणी॥

सोंठ कड़वी, गर्म और चिकनी है। इसके प्रयोगसे कफ, सूजन, वायु, मरोड़ा, कब्ज, पेटका फूलना, कास और फिलपाँव नष्ट होता है। प्रातःकाल अनपच मालूम होने पर सोंठका चूर्ण मिश्री मिलाकर गर्म पानी के साथ खानेसे अनपच जाता रहता है।

मरिच

मरिचं कटु तिक्तोष्णं लघु श्लेष्मविनाशनम्।
समीरक्रिमिहृद्रोगहरं च रुचिकारकम्॥

गोल मरिच, कड़वी, तीती, गर्म और हल्की है। इसके प्रयोगसे कफ, वायु, पेटके कीड़े एवं हृद्रोग जाते रहते हैं और रुचि बढ़ती है।

सोंठ-पीपर-मरिचको आयुर्वेदमें 'कटुत्रय' और 'त्रिकटु कहते हैं। आयुर्वेदकी दवाओंमें इनका बहुत अधिक प्रयोग आता है। कटुत्रयका चूर्ण नमक मिलाकर खानेसे तमाम उदरके रोग नष्ट होते हैं। 'त्रिकटुके चूर्णमें जवाखार मिलाकर प्रयोग करनेसे उदरशूल तुरत शान्त होता है।'

जवाइन

यवानी कटुतिक्तोष्णा वातार्शःश्लेष्मनाशिनी।
शूलाध्मान क्रिमिच्छर्दिमर्दिनी दीपनी परा।

जवाइन कड़वी, तीती और गर्म है। इसके प्रयोग से वायु, बवासीर, कफ, मरोड़ा, पेटके कीड़े और कै बन्द होती है एवं अग्निवर्द्धन की इसमें बड़ी शक्ति है। जवाइनका अर्क अग्नि दीपन में प्रयुक्त होता है और उससे गुल्म भी शान्त होता है। हाजमे की हर तरह की गड़बड़ी, जवाइनमें काला या सेंधा नमक मिलाकर गर्म पानीके साथ खानेसे मिटती है। अरबीमें जवाइनका छौंक उसके श्लेष्मल एवं वातल स्वभाव का ख्याल करके ही दिया जाता है।

दोनों इलायची

एलाद्वयं शीतलतिक्तमुक्तं सुगन्धि पित्तार्तिकफापहारि।
करोति हृद्रोगमलार्तिवस्तिशूलघ्नमत्र स्थविरा गुणाढ्या॥

दोनों इलायचियां ठंढी, तिती, सुगन्धविशिष्ट कफपित्त शामक हैं। हृद्रोग, पेटके मल, पीड़ा, जी मिचलाना, पेडूका दर्द आदि इनके प्रयोगसे नष्ट होते हैं। इलायची जलाकर मधुके साथ देनेसे छोटे बच्चोंकी कै बन्द हो जाती है।

धान्य पंचक क्वाथ

धान्यवालकविल्वाद्दनागरैः साधितं जलम्।
धान्यपंचकमेत् स्याद् ग्राहि दीपनपाचनम्॥
इदं धान्यचतुष्कं स्यात् पित्ते शुण्ठी विनापुनः।
चक्रदत्त चिकित्सा अतिसाराधिकार।

धनिया, खस, कच्चे बेलकी गिरी, नागरमोथ और सोंठ सम भाग। इनको जौकूट चूर्ण करके रखले। इसमें से १। तोला चूर्ण लेकर बीस तोला पानीमें पकाकर पांच तोला जल बाकी रहे तब ठंढाकर स्वच्छ कपड़े से छान कर आवश्यकतानुसार दिनमें २-३ बार देवे। यह क्वाथ उत्तम पाचन दीपन और ग्राही है। सब तरह के अतिसार में इसका प्रयोग होता है। मंदाग्नि के लिये विशेष फायदेमन्द है।

लवंग

लवंगं लघु चक्षुष्यं हृद्यं दीपनपाचनम्।
शूलानाहकफकासकासच्छर्दिक्षयापहम्॥

लवंग हल्का, आंखों और हृदयके लिये हितकर, अग्निदीपक एवं अजीर्णका पाचन है। इससे शूल, पेटका फूलना, कफ, श्वास,

कास और क्षय (यक्ष्मा) नष्ट होता है। लवंगके काढ़ेसे ज्वर चला जाता है। आगमें सेंककर या यों ही मुखमें रखकर चूसनेसे श्वास कास शान्त होता है। आंख उठनेपर स्त्रीके दूध या पानीमें घिसकर छापनेसे आंखों का दर्द कम हो जाता है।

लवङ्गादि चूर्ण आयुर्वेद का एक प्रसिद्ध भेषज है। लवङ्ग, मरिच, वहेरेके बराबर-बराबर चूर्ण। इन तीनोंके बराबर कत्थेका चूर्ण। सबोंको बबूलकी छालके काढ़ेके योगसे चनेके बराबर गोली बनानी चाहिये। यह लवङ्गादि वटी है। इसके मुखमें रखनेसे खांसी जाती रहती है। मुखके छाले भी नष्ट होते हैं।

कस्तूरी

कस्तूरी सुरभिस्तिक्ता चक्षुष्या मुखरोगजित्।
किलासकफदौर्गन्ध्यवातलक्ष्मीमलापहा।

कस्तूरीमें खूब स्पष्ट गन्ध है। यह तिती, आंखोंके लिये हितकर, मुखगत रोगोंको शान्त करती, किलास (श्वेत कुष्ठ— जिसमें थोड़ी लाली भी रहती है), कफ, दुर्गन्ध, वायु, गन्दगी और मलका नाश करती है। कस्तूरी आयुर्वेदके उत्कृष्ट औषधों में एक है। कस्तूरी भैरव, आदि बड़े-बड़े योगोंमें इसीकी प्रधानता है। सन्निपात ज्वरमें, जब कफ ज्यादा बढ़ जाता है या मृद्धोन्मुख होता है, इसका प्रयोग चिकित्सकजन करते हैं।

कपूर

कर्पूरः शीतलो वृष्यश्चक्षुष्यो लेखनो लघुः।
कफदाहास्ययवैरस्यमेदःशोथविषापहः॥

कपूर ठण्डा, शुक्रवर्द्धक, आंखोंका हितकर, चर्बी छांटनेवाली और हलका है। इसके प्रयोगसे कफ, दाह, मुखकी विरसता, गेदा, सूजन और विष दूर होते हैं।

मूली

मूलकं तीक्ष्णमुष्णं च कटूष्णं ग्राहि दीपनम्।
दुर्नामगुल्महृद्रोगवातघ्नं रुचिरं गुरु॥

मूली तीक्ष्ण, गरम, रसमें कटु, कब्जकरनेवाली, फिर भी स्वभावतः अग्निवर्द्धक है। इसके सेवन से ववासीर, गुल्म, हृद्रोग और वायु शान्त होते हैं। इससे रुचि बढ़ती है और यह भारी भी है। मूली तभी तक लाभ पहुंचाती है जबतक वह कोमल रहती है। बाल मूलीको वाग्भटने खाये जानेवाले कन्दोंमें पाचनकी दृष्टिसे श्रेष्ठ माना है। मूलीके पानीमें लवण मिलाकर १५ दिनों तक धूपमें पकाकर भोजनोत्तर ॥। भरसे १) भर तक पीनेसे पेटके प्रायः सभी रोग दूर होते हैं।

सहेंजन

शिग्रुश्च कटुतिक्तोष्णस्तीक्ष्णो वातकफापहः।
मुखजाड्यहरो रूच्यो दीपनो व्रणदोपनुत्॥

सहेंजन रसमें कटु, तिक्त साथ ही गर्म एवं तीक्ष्ण भी है। वायु एवं कफ को दूर करता है। मुँहके अस्वाद को हरता, रुचि बढ़ाता, जठराग्निको तेज करता और घाव फुन्सी को ठीक करता है। सहेंजन का समय है वसन्त। वसन्तमें घाव फुन्सियां

श्री होती हैं। सहँजनके उपयोगसे रक्त शुद्ध होता है और घाव-फून्सी मिटते हैं।

सहँजनके योगके लिये निम्न लिखित एक योग है—सोंठ, सोहागा, सेंधा, गान्धी। सहजन इसमें वरिया वांधी। अस्सी वाय वहत्तर पीड़ा कहे धन्वन्तरि क्षणमें रांधी। सोंठ, सोहागे का लावा, सेंधा नमक और हींग—वरावर को सहँजनकी छालके रसमें वनवेर वरावर की गोली वना-सुखाकर गर्म पानीके साथ खानेसे पेटके अधिकतर विकार दूर होते हैं।

जिमिकन्द (शूरण)

शूरणः कटुकरुच्यदीपनः पाचनः क्रिमिकफानिलापहः।
श्वासकासवमनार्शसां हरः शूलगुल्मशमनोऽस्त्रदोषकृत्॥

जिमिकन्द रसमें कड़ुआ, रोचक, अग्निवर्द्धक पाचन, क्रिमि, कफ एवं वायुका शामक, सांस, खांसी, वमन, ववासीर, पेटका दर्द और गुल्मको शान्त करता है पर रक्तमें थोड़ी गड़वड़ी भी पैदा करता है। जिमिकन्द का एक नाम अर्शोघ्न भी है यानी ववासीर का नाशक। इसलिये ववासीर पर इसके कतिपय प्रयोग होते हैं पर यह लाभ वहीं पहुंचता है जहां ववासीरसे खून न आता हो। दूसरे शब्दोंमें वादी ववासीर पर यह काम करता है—खूनी को, नुकशान पहुंचाता है। पुटपक विधानसे पकाकर इसका भर्ता—तेल एवं लालमिरचसे शून्य—वादी ववासीर पर वड़ा काम करता है और कब्ज को मिटाता है।

वथुआ शाक

वास्तुकं तु मधुरं सुशीतलं क्षारमीषदम्लं त्रिदोषजित्।
रोचनं ज्वरहरं महार्शसां नाशनं च मलमूत्रशुद्धिकृत्॥

वथुआ रसमें मीठा, थोड़ा खट्टा, बहुत ही ठंढा, खारा, वात-पित्त कफका शमक, रुचिकर ज्वरहर और बवासीरका नाशक है। पेशाब और पाखाना साफ लाता है। वथुआमें क्षार और अम्ल होनेसे यह उत्तम पाचन है। पुराने वैद्योंका विचार है कि सालमें दो चार बार वथुएका शाक अवश्य खाना चाहिये। इससे पेटके विकार तो शान्त होंगे ही संयोगतः बाल आदि, जो पेटमें चले आते हैं, वहाँ जाकर पचते नहीं तथा न निकलते हैं बल्कि आंतोंमें चिपक जाते हैं और नानाविध उदर रोग उत्पन्न करते हैं। वे सब वथुए का शाक खानेसे गलकर मलके साथ बाहर निकल जाते हैं। इस दृष्टिसे वथुआ एक उत्तम शाक है।

पालकी शाक

पालक्यमीषत् कटुकं मधुरं पथ्यशीतलम्।
रक्तपित्तहरं ग्राहि ज्ञेयं सन्तर्पणं परम्।—राजनि०

पालक्या वतला शीता भेदिनी श्लेष्मला गुरुः।
विष्टंभिनी मदश्वासरक्तपित्तकफापहा।—मदनपालनि०

पालकी मधुर, थोड़ी कड़वी, पथ्य, ठंढी, रक्तपित्तशमक, कब्ज करनेवाली और खूब तृप्ति देनेवाली है। (राज नि०)

पालकी वातल, साफ पाखाना लानेवाली (कब्जकरनेवाली नहीं) कफवर्द्धक, भारी, अतएव ठहरकर पचलेवाली, श्वास, सांस, रक्त-पित्त और कफ नाशक है (म० नि०)

दोनों निघण्टुओंमें पालकीके गुणमें फरक है और विपरीतता भी। पहलेमें पालकी ग्राहि (कब्ज करनेवाली); दूसरे में भेदिनी (पाखाना साफ लानेवाली) बतायी गई है। इसका समन्वय अनुभवके आधार पर यों होता है—यह देरसे पचती है, कुछ वायु को भी बढ़ाती है इसी अर्थमें इसे 'ग्राहि' कहा गया है। वस्तुतः है तो साफ पाखाना लानेवाली ही। दूसरे श्लोक में 'श्लेष्मला' एवं 'कफपहा' परस्पर विरुद्ध शब्द आये हैं। यहां 'श्लेष्मला' का अर्थ शक्तिवर्द्धक एवं 'कफपहा' का अर्थ अतिरिक्त कफके दूरी करणसे है।

परवल (मदनपाल निघण्टुसे)

पटोलं पाचनं हृद्यं वृष्यं लघ्वग्निदीपनम्।
स्निग्धोष्णं हन्ति कासास्त्रज्वरदोषत्रयक्रिमीन्॥

परवल (फल) पाचन, हृदयके लिये हितकर, रतिशक्ति-वर्द्धक, हल्का, अग्नि दीपक, चिकना और गर्म है। इससे खांसी, रक्त, ज्वर, वृद्ध वात-पित्त-कफ और क्रिमि रोग दूर होते हैं।

पत्रं पित्तहरं शीतं वल्ली तस्य कफापहा।
मूलं विरेचनं प्रोक्तं फलं दोषत्रयापहम्॥

परवलके पत्ते ठंडे हैं और पित्तको शान्त करते हैं। डण्डल कफ का नाश करता और जड़ विरेचन की क्षमता रखती है।

फलको तो कह ही आये हैं कि वह त्रिदोष शामक है। पित्त-ज्वरमें धनियां आदि देकर बनाया हुआ परवलका जूप बड़ा काम करता है।

बैंगन

वृन्ताकं स्वादु तीक्ष्णोष्णं कटुपाकं च पित्तलम्।
कफवातहरं हृद्यं दीपनं शुक्रलं लघु।
ज्वरारोचककासघ्नं पक्वं तत् पित्तलं गुरु।

बैंगन मीठा, तीक्ष्ण, उष्ण, पाकमें कटु, पित्तवर्द्धक, कफवात शामक, हृदयके लिये हितकर, अग्नि दीपन, शुक्रवर्द्धक और हलका है। यह ज्वर, अरुचि और खांसीको दूर करता है पर पकजाने पर विशेषरूपसे पित्त वढ़ाता तथा हल्काके वजाय भारी हो जाता है। वस्तुतः कोमल बैंगनमें ही सारे गुण हैं। कहा है—वृन्ताकं कोमलं पथ्यम्। बीज आजानेपर तो वह अग्राह्य हो जाता है।

दूब

दूर्वाः कषाय्र मधुराश्च शीताः पित्ततृषारोचकवान्तिहन्त्र्यः।
सदाहमूर्छाग्रहभूतशान्तिश्लेष्मश्रमध्वंसनतृप्तिदाश्च।

दूव कषैली, मीठी और ठंढी है। इससे पित्त, प्यास, अरुचि, के, दाह, मूर्छा, ग्रह, भूतवाधा, कफ एवं थकावट दूर होती है और इससे तृप्ति होती है। दूर्वास्वरसको मधुके साथ पीनेसे पित्त, प्यास और वमन शान्त होते हैं। स्वरसके लेपसे दाह मिटता है।

तुलसी

तुलसी कटुतिक्तोष्णा सुरभिः श्लेष्मवातजित्।
जन्तुभूतकृमिहरा रुचिकृद् वातपित्तजित्॥

तुलसी कड़ुवी, तिती गर्म एवं सुगन्ध विशिष्ट है। इसके विविध प्रयोगसे कफ, वायु, कीड़े, भूत और पेटके कीड़े हटते हैं। साथ ही यह रुचि भी बढ़ाती है। तुलसीके पत्ते एवं लवंगके काढ़ेसे ज्वर हटता है। काढ़ेमें लवंगका चूर्ण मिलाकर भी पीते हैं। तुलसी-पत्रके रसमें ईषत् सेन्धा नमक मिला कर पीनेसे तमाम कफके दोष शान्त होते हैं।

केला

रम्भापक्कफलं कषायमधुरं बल्यं च शीतं तथा।
पित्तं चास्रविमर्दनं गुरुतरं पथ्यं न मन्दानले।
सद्यः शुक्रविवर्द्धनं क्लमहरं तृष्णापहं कान्तिदम्।
दीप्ताग्नौ सुखदं कफामयकरं सन्तर्पणं दुर्जरम्।

पका केला कसैला, मीठा, बलवर्द्धक, ठंढा, पित्त, रक्त दोष शामक एवं बहुत भारी है। यह मन्दाग्नि से ग्रस्त लोगों के लिये अहित है। यह तुरत शुक्र बढ़ाता, थकावट तथा प्यास दूर करता और कान्ति बढ़ाता है। उन्हीं लोगों को सुख पहुंचा सकता है जिनकी जठराग्नि तेज है। कफज रोग उत्पन्न करता, सन्तर्पण है और देर से पचता है।

न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि।
शमीकरोति विषमान् शमनं तद् यथा मिसिः॥

सौंफ शरीरके दोषोंको बाहर नहीं निकालती, समान मानपर रहे दोषों को अपने स्थान से च्युत नहीं करती और घटे-बढ़े दोषों को अपने अपने मानपर लाती है। आयुर्वेद की परिभाषा में इसे शमन कहते हैं। सौंफ का प्रयोग अनेक प्रकार से होता है और वह लाभ भी अनेक रोगोंमें पहुंचाता है। सौंफ, सनाय एवं छोटी हर्र का योग उत्तम विरेचन है। सौंफ के अर्कके उपयोगसे पेटके प्रायः सभी रोग दूर होते हैं।

सोना।

> स्वर्णं स्निग्धकषायतिक्तमधुरं दोषत्रयध्वंसनं।
> शीतं स्वादु रसायनं च रुचिकृन् चक्षुष्यमायुष्प्रदम्।
> प्रज्ञावीर्यबलप्रदं स्मृतिकरं कान्ति विधत्ते तनोः।
> सन्धत्ते दुरितक्षयं श्रियमिदं धत्ते नृणां धारणात्॥

सोना चिकना है। इसमें कषाय, तिक्त और मधुर ये तीन रस हैं। यह ठंढा, मीठा और रसायन (बुढ़ापा और रोगका नाशक) है। इसके प्रयोग से वात-पित्त-कफके दोष नष्ट होते हैं। यह रोचक, नेत्रोंके लिये लाभकारी और आयु बढ़ाता है। बुद्धि, पराक्रम, बल और स्मरणशक्ति इसके प्रयोगसे बढ़ते हैं। खाने और पहननेसे कान्ति बढ़ती है। इसके समीप रखनेसे पापोंका भी नाश होता है।

जलानेपर लाल, काटनेपर सफेद, कसौटीपर घिसनेपर केसर की चाई, चिकना और तौलनेपर जो भारी हो वही उत्तम सोना

है। उत्तम सोना कोमल होता है इसका रंग लाल एवं पीला होता है।

रूपा-चांदी

रौप्यं स्निग्धं कषायाम्लं विपाके मधुरं सरम्।
वातपित्तहरं रुच्यं पलीपलितनाशनम्॥
दाहच्छेदनिकाषेषु सितं स्निग्धं च मृदु गुरु।
घर्षणेऽपि च वर्णाढ्यमनुत्तमं तदुदीरितम्॥

चांदी चिकनी होती है। इसका रस कषाय और खट्टा है पर विपाक इसका मधुर होता है। यह पेशाब-पाखाना लाती है। इसके प्रयोगसे वात-पित्त शान्त होते हैं। रुचि बढ़ती है अकालमें पके केश पुनः काले हो जाते हैं। बढ़ियां चांदी गलाने, काटने और घिसने पर सफेद ही दीखती है, चिकनी एवं भारी होती है। साथ ही अधिक से अधिक घिसने पर भी अपना रङ्ग कायम रखती है।

तांबा

ताम्रं सुपक्वं मधुरं कषायं तिक्तं विपाके कटु शीतलं च।
कफापहं पित्तहरं विबन्धशूलप्रपाण्डूदरगुल्मनाशि॥
घनघातसहं स्निग्धं रक्तपत्रामलं मृदु।
शुद्धाकरसमुत्पन्नं ताम्रं शुभमसंकरम्॥

तामेमें मधुर, कषाय और तिक्त—तीन रस हैं। इसका विपाक कटु होता है। शीत है फिर भी कफका नाश करता है। अतिरिक्त पित्त, कब्ज, पेटका दर्द, पांडु, उदररोग और

गुल्मका नाशक है। उत्तम ताम्र वह है जो घनकी चोटसे टूटे नहीं, चिकना हो, पत्तर लाल, स्वच्छ और कोमल हो। पवित्र स्थानसे उत्पन्न तथा धात्वन्तरसे बिना मिला हुआ ही तामा उत्तम होता है।

हीरा

वज्रं च षड्रसोपेतं सर्वरोगापहारकम्।
सर्वाघशमनं सौख्यं देहदार्ढ्यं रसायनम्॥

हीरेमें छ रस हैं। यह प्रत्येक रोगका प्रयोग विशेष से नाश करता है। सब पापों का भी नाश करता है। सुख देता है। शरीरमें दृढ़ता लाता एवं रसायन है।

उत्तम हीरा पत्थर पर या कसौटी पर देर तक जोर-जोरसे रगड़ने पर भी घिसता नहीं, ओखलमें कूटने या लोहेके मुँद्गरे किंवा घनसे काफी पीटने पर भी उसमें निशान तक नहीं बनता टूटना तो दूर की बात है। हीरा बहुत ही कीमती पत्थर है।

सोना, चांदी, तामा और हीरा खाये जाने पर रोगों को मिटाते हैं और रसायन हैं पर इनका खाया जाना जलाकर (भस्म बनाकर) सम्भव होता है। आवश्यकता होने पर किसी सद् वैद्य से भस्म प्राप्त करनी चाहिये एवं उन्हीं से इनके प्रयोग के विधान भी।

निरुक्त (निघण्टु) अध्याय २ खं० ७

अन्धः (१) वाजः (२) पयः (३) प्रयः (४) पृक्षः (५) पितुः (६) वयः (७) सिनम् (८) अवः (९) क्षु (१०) धासिः (११) इरा (१२)

इला (१३) ऊर्म (१४) ऊर्क् : (१५) रसः (१६) स्वधा (१७) अर्कः (१८) क्षद्म (१६) नेमः (२०) ससम् (२१) नमः (२२) आयुः (२३) सूनृता (२४) ब्रह्म (२५) वर्चः (२६) कीलालम् (२७) यशः (२८) इत्यष्टा-विंशतिरन्ननामानि ॥७॥

निरुक्त (निघण्टु) अध्याय १ खं० १२

अर्णः (१) क्षोदः (२) क्षद्म (३) नभः (४) अम्भः (५) कबन्धम् (६) सलिलम् (७) वाः (८) वनम् (६) घृतम् (१०) मधु (११) पुरीषम् (१२) पिप्पलम् (१३) क्षीरम् (१४) विषम् (१५) रेतः (१६) कशः (१७) जन्म (१८) बृबूकम् (१६) बुसम् (२०) तुग्र्या (२१) बुर्बुरम् (२२) सुक्षेम (२३) धरुणम् (२४) सिरा (२५) अररिन्दानि (२६) ध्वस्मन्वत् (२७) जामि (२८) आयुधानि (२६) क्षपः (३०) अहिः (३१) अक्षरम् (३२) स्रोतः (३३) तृप्तिः (३४) रसः (३५) उद-कम् (३६) पयः (३७) सरः (३८) भेषजम् (३६) सहः (४०) शवः (४१) यहः (४२) ओजः (४३) सुखम् (४४) क्षत्रम् (४५) आवयाः (४६) शुभम् (४७) यादुः (४८) भूतम् (४६) भुवनम् (५०) भविष्यत् (५१) महत् (५२) आपः (५३) व्योम (५४) यशः (५५) महः (५६) सर्णीकम् (५७) स्वृतीकम् (५८) सतीनम् (५६) गहनम् (६०) गभीरम् (६१) गम्भरम् (६२) ईम् (६३) अन्नम् (६४) हविः (६५) सद्म (६६) सदनम् (६७) ऋतम् (६८) योनिः (६६) ऋतस्य योनिः (७०) सत्यम् (७१) नीरम् (७२) रयिः (७३) सत् (७४) पूर्णम् (७५) सर्वम् (७६) अक्षितम् (७७) बर्हिः (७८) नाम (७६) सर्पिः (८०) अपः (८१) पवित्रम् (८२) अमृतम् (८३) इन्दुः (८४) हेम (८५) स्वः (८६) सर्गाः (८७) शम्बरम्

(८८) ... (८९) मधुः (९०) अम्बु (९१) तोयम् (९२) तूयम् (९३) ...(९४) ...म् (९५) तेजः (९६) स्वधा (९७) वारि (९८) जलम् (९९) ...म् (१००) इदम् (१०१) इत्येकशतमुदक नामानि ॥१२॥ ... व्याख्या निरुक्त में है।

अमृत नाम जलका है। मन्दिरों में जो चरणामृत वनाया जाता है वह जल से ही वनता है। ऐसे ही संसार में पांच तरह के जल हैं वे सब ही अमृत हैं। यथा—समुद्र जल (सफेद एकरूप) ... अमृत, गंगाजल, झरना जल, वृष्टि जल और कूप जल। व्यष्टिगत अमृत तो माता का दुग्ध है परन्तु समष्टिगत अमृत तो अन्न एवं अन्न ही है।

वेदों की शिक्षा

शुक्ल यजुर्वेद अ० १२-७०

घृतेन सीता मधुना समज्यतां विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः।
ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमानास्मान् सीते पयसाभ्याववृत्स्व॥

सीता लाङ्गलपद्धतिर्मधुना मधुरेण घृतेनोदकेन समज्यतां॥ संसिच्यतां सिक्ताभवतु। कीदृशी सीता विश्वैर्देवैर्मरुद्भिश्चानुमता अनुज्ञाता अङ्गीकृतावा। एवं परोक्षमुक्त्वा प्रत्यक्षमाह हे सीते ? ऊर्जस्वती अन्नवती सात्वं पयसा पयोदधिघृतादिभिः पिन्वमाना सिञ्चन्ती पूरयन्ती सती पयसा दुग्धादिभिः सह अभ्याववृत्स्व अस्मद्-अभिमुखमावृत्ता भव अस्माकमनुकूला भवेत्यर्थः।

मधुरजलसे सिंची हुई जो जमीन। वह भी कैसी कि विश्वेदेवो और मरुद्गणों से अङ्गीकार की हुई। अर्थात् तैयारकी हुई। वही जमीन अन्नवती होकर अन्न रसादि से दिशाओंको परिपूर्ण करती हुई हमें अन्नरसादिकों से युक्त कर सुखकी अभिवृद्धि करे।

शुक्ल यजुर्वेद अ० १२-७२

कामं कामदुघे धुक्ष्वमित्राय वरुणाय च।
इन्द्रायाश्विभ्यां पूष्णे प्रजाभ्य ओषधीभ्यः ॥७२॥

कामान् मनोरथान् दुग्धे पूरयति कामदुघा। दुहःकब्घश्चेति (पा० ३, २, ७०) कप् प्रत्ययो घान्तादेशश्च तस्याः सम्बुद्धौ हे कामदुघे लाङ्गलपद्धते ! मित्रादिपूषान्तदेवानमथ प्रजार्थमोषधिनिष्पत्यर्थ च काममपेक्षितं भोगंधुक्ष्व सम्पादय: ॥७२॥

हे कामदुघेलाङ्गलपद्धते ! (कामनाओंको पूर्ण करनेवाली कमाई हुई जमीन) प्रजाके लिये औषधी पैदा करनेके लिये भोगोंका सम्पादन कर। जिससे प्रजा सुख समृद्धि को प्राप्त होकर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करे।

हर जोतै अरु हरि भज, यथाशक्ति कछु देय।
ताहु प हरि ना मिल, मुजरा हमसे लेय॥

शुक्ल यजुर्वेद अ० १-२

वसोः पवित्रमसि। द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोऽसि विश्वधाअसि। परमेण धाम्नादृꣳहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्॥

इस मंत्रमें पृथ्वीकी प्रार्थना की गई है कि हे पृथ्वी—तुम जल को धारण करनेवाली हो। जल ही प्राणियोंके प्राण है। आकाश

रोग एवं वायुका भी तुम्हारेमें ही संन्निवेश है। अतः विश्वधा हो। जिनके द्वारा मनुष्य कान्ति एवं श्वासप्रश्वास आदि सुखोंका उपभोग करता है। अतः तुम क्षीर (जल) धारण के लिये दृढ़ होओ।

समानी प्रपा सहवो अन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥ अथर्ववेद ३॥

तुम्हारा प्याऊ (पानी पीने का स्थान) और तुम्हारे अन्नका भाग समान हो (अर्थात् मनुष्य मात्र का एक जैसा ही शुद्ध, पवित्र, पुष्टिकारक निरामिष आहार होवे और सबको जीवन धारणोपयोगी पर्याप्त भोजन प्राप्त होवे जिससे सब समान रूपसे सुखी रहें और असमानता के कारण वर्गवाद की उत्पत्ति मानव समाज में न हो)। गृहस्थाश्रम में और समाज में सब के सब परमात्मा के उपासक और अग्निहोत्र करनेवाले हों। तुम सब एक ही उद्देश्यवाले हो।

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ अथर्व० ३

भगवान् कहते हैं—हे मनुष्यों, मैं तुम सबको हृदय के साथ बनाता हूं (मनुष्य को सहृदय होना चाहिये, प्राणिमात्र के हित की भावना उसके अन्दर होनी चाहिये, परस्पर प्रेमकी भावनासे ही गृहस्थ आश्रम चल सकता है, समाज की सुव्यवस्था बन सकती है)। साथ ही तुम सबको मन अर्थात् मनन करने की—बुद्धिपूर्वक कार्य करने की—शक्ति भी देता हूं। यदि केवल हृदय ही हो, मन न हो, तो भी मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता,

इसलिये बहुत बार हम किसी का हित करना चाहते हैं पर फल उल्टा ही होता है। (उदाहरणार्थ माता-पिता के विचारशून्य प्रेम से बहुत से बच्चे बिगड़ जाते हैं)। हे मनुष्यो, तुम एक दूसरेसे द्वेषभाव न रखो। (यदि किसी में कुछ बुराई हो तो उसे प्रेमसे समझाकर छुड़ाना चाहिये, बुरे मनुष्य से घृणा करने की आवश्यकता नहीं है, बुराई से ही घृणा करनी चाहिये। वैद्य रोग के शत्रु होते हैं, रोगी के नहीं)। एक दूसरे से ऐसा ही व्यवहार करो जैसे गाय अपने नवजात बच्चे के साथ करती है (उसके शरीर के मैल को साफ कर देती, उसकी रक्षाके लिये अपने प्राणों तक की परवा नहीं करती।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्॥ अथर्व० ३

पुत्र अपने पिताके अनुकूल व्रतवाले हों अर्थात् सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि नियमों के पालनेवाले हों। माता के मन के अनुसार चलनेवाले हों और उनमें (माता पुत्र में) प्रेम होवे। स्त्री-पुरुष का व्यवहार सदा ही प्रेमपूर्ण होवे, स्त्री मधु में घोलकर पति से वाणी बोले, पति भी सदा अपनी पत्नीका मान-सन्मान करे।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥ अथर्व० ३

भाई-भाई, भाई बहिन और बहिन-बहिन आपस में द्वेष न करें। सब एक दूसरे के सहयोगी होवें, सभी समान व्रतवाले अर्थात् समान रूप से सत्य आदि धर्मके नियमों का पालन

करनेवाले [illegible] एवं एक ही पवित्र [illegible] रखनेवाले होवें। एक दूसरे से [illegible] ही वचन बोलें जिससे परस्पर वैर-विरोध न होवे, उन सबका कल्याण होवे एवं उनके प्रेम पूर्वक एक साथ [illegible] कार्य करने से संसार का कल्याण होवे।

इयं या परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसंशिता।
ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः॥ अथर्व०

वाणी देवी है (दिव्य गुणों से युक्त है), परमात्मा की विशेष कृपा से केवल मनुष्यों को ही प्राप्त है (अन्य जीवधारी वाणी द्वारा अपने भाव दूसरे पर नहीं प्रकट कर सकते)। इस वाक् देवी के अन्यथा प्रयोग से संसार में बड़े-बड़े अनर्थों की सृष्टि हुआ करती है। (यथार्थ में रामायण और महाभारत आदि की दुःखदायी घटनाएँ मन्थरा की चुगली, सहदेव द्रौपदी आदि के प्रति कटुभाषण आदि, वाणी के असत् प्रयोग से ही तो घटी हैं)। परमात्मा से प्रार्थना है कि वह हमें ऐसी सद्बुद्धि देवें जिससे हम वाणी के असत्य, असूया आदि दूषणों से बचें और देवी वाणी हमारे लिये कल्याण कारिणी होवे।

येन देवा न वियन्ति न च विद्विषते मिथः।
तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥ अथर्व० ३

जिस कारण से विद्वान् ज्ञानी जन अपने कर्तव्यपथ से विच्लित नहीं होते, एवं एक दूसरे से शत्रुता नहीं रखते उसी ब्रह्म की आराधना तुम्हारे घरों में होवे, यही उपदेश मैं (परमात्मा) सारे मनुष्यों को समझाकर करता हूं। (ब्रह्म के अर्थ होते हैं पर-

आत्मा, देह, ब्राह्मण आदि। मनुष्यों के घरों में अर्थात् गृहस्थाश्रम में परमात्मा की पूजा, ब्रह्मचर्य का पालन, वेदों का स्वाध्याय ब्राह्मणों का सान्निध्य एवं उनके सदुपदेश श्रवण एवं तदनुकूल आचरण ये कार्य सदा होने चाहिये। इसी से सबों में प्रेम एवं परस्पर हानि लाभ, सुख दुःख में एकता कायम रह सकती है)।

वाङ्म आसन्नसो प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्॥

मेरे मुख में पूर्ण आयु की समाप्ति तक उत्तम वाणी बोलने की शक्ति रहे, नासिका में प्राण शक्ति का संचार होता रहे, आंखों में दृष्टि उत्तम प्रकार से रहे, कानों में सुनने की शक्ति वर्तमान रहे, मेरे बाल सफेद न हों, मेरे दांत मैले न होंं, मेरे बाहुओं में बहुत बल रहे।

ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः।
प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मा निभृष्टः॥ अथर्व० १६

मेरे ऊरुओं में शक्ति रहे, जांघों में वेग और पांवों में स्थिरता और दृढ़ता रहे। मेरे सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग हृष्ट-पुष्ट होंव एवं आत्मा उत्साहपूर्ण रहे।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ श्रृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥ यजु० ३६

देवोंका परम हितैषी परम प्रभु हमारा नेत्र रूप पथ प्रदर्शक सर्वदा हमारे साथ है उसकी कृपा एवं सहायतासे (हम अपने

सत्कर्मोंके द्वारा) हम सौ वर्षों तक देखनेकी शक्ति कायम रख, सौ वर्षों तक जीवित रहें, सौ वर्षों तक हमारे कानोंमें सुनने की शक्ति बनी रहे, सौ वर्षों तक बोलने की शक्ति हममें वर्त्तमान रहे जिससे हम सत्य, हितकर एवं उचित कथन कर सकें, सौ वर्षोंतक हम पराधीन और दीन न होकर स्वाधीन और स्वावलम्बी रहें। सौ वर्षसे अधिक भी इसी प्रकार रहें। (वेदोंमें चार सौ वर्षों तक मनुष्यकी परमायु कही गई है जो मनुष्यके ४८ वर्ष पर्यन्त नैष्ठिक ब्रह्मचर्यके पालनसे प्राप्त हो सकती है।)

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उताय॥ अ० का० १६

मुझे ब्राह्मणों (विद्वानों) का प्रिय बनाओ, राजन्यवर्ग (योद्धाओं एवं शासकों) का प्रिय बनाओ, वैश्य समुदाय (किसानों एवं वाणिज्य व्यापार करनेवालों) का प्रिय बनाओ, शूद्रों (श्रमजीवियों) का प्रिय बनाओ, जिस किसीसे मिलने का अवसर हो सभी मुझसे प्रेम करें।

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय।
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय॥ अ० १६

प्रभु कहते हैं हे मनुष्यों, उठो (शुभ कर्मके लिये तैयार रहो) अपने उत्तम कर्म, पुरुषार्थ, ज्ञानप्रचार आदिके द्वारा विद्वानों में स्फूर्ति एवं जागरण पैदा करो, आयु, प्राण, प्रजा (स्वसन्तान आदि अथवा जनता), गौ आदि पशु, कीर्ति एवं शुभ कार्य करनेवाले लोकोपकारी जनोंकी सब प्रकारसे वृद्धि एवं उन्नति करो।

ऊपरके पाँच मंत्रोंमें मनुष्यके आदर्श का बड़ी सुन्दर रीतिसे वर्णन किया गया है। (१) पहली बात मनुष्यको अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों की उन्नति करनी चाहिये। जिसका शरीर स्वस्थ और बलवान् नहीं है, मन निर्बल और बुद्धि क्षीण है वह संसार में औरोंके उपकारार्थ कुछ नहीं कर सकता। उसका तो निजका जीवन ही भारस्वरूप है। (२) दूसरी बात जो आवश्यक है वह है दीर्घ आयु की प्राप्ति। विद्या और संसारके अनुभव प्राप्त करके ही मनुष्य परोपकार में प्रवृत्त हो सकता है, किसी प्रकार के लोकहितकार कार्य कर सकता है। उसके लिये कमसे-कम १०० वर्षों की आयु की आवश्यकता है। क्योंकि पचास वर्ष तो ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम की समाप्तिमें ही लग जाते हैं, विद्या और अनुभव प्राप्त करनेमें ही लगते हैं। चालीस-पचास वर्ष की आयुमें मरजानेवाले लोग जनताके लाभ के लिये कुछ कर सकने का अवसर ही कैसे पावेंगे? अतः पुरुषार्थी मनुष्य को उचित है कि शारीरिक मानसिक एवं आत्मिक शक्ति प्राप्त करनेके साथ-ही-साथ दीर्घायु होने का भी यत्न करे। (३) तीसरी आवश्यकता है लोकप्रिय बनने की। अपनी अप्रिय वाणी या व्यवहार के कारण यदि मनुष्य समाज में अप्रिय हो जाता है, लोग उससे मिलना-जुलना या बोलना-चालना नहीं पसन्द करते तो वह चाहे कितना ही सज्जन अथवा आचारवान् होता हुआ भी दूसरोंके कल्याणके लिये कुछ कर सकनेमें असमर्थ हो जाता है। लोग उसे चाहते ही नहीं, उसकी

सुनेगा ही कौन ? (४) लोकप्रियता—लोकैषणासे, नामवरी या वाहवाही की इच्छासे, अभिनन्दन कराने या स्वागत समारोह रचाने की वासनासे, नहीं होना चाहिये। लोकप्रियता को परोपकारके कार्य करानेका एक साधन ही समझ प्राप्त करना चाहिये यथार्थमें लोकप्रिय नेता का कार्य है जनता के स्वास्थ्य आदि की उन्नति करना, बालक बालिकाओं की शिक्षा आदि की उचित व्यवस्था कर उन्हें योग्य नागरिक बनाना, पशु धनकी उन्नति करना, विद्वानोंमें जागृति पैदा कर उनके द्वारा जनताका हित साधन करना, शुभ कर्ममें निरत एवं मान्य पुरुषोंको सब प्रकारसे मान और प्रोत्साहन प्रदान करना। यह मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य होना चाहिये। ऊपर लिखे क्रमसे चलता हुआ मनुष्यमात्र इस लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है, यह वेद का पवित्र सन्देश है।

स्वस्ति पन्थानमनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताघ्नता जानता संगमेमहि॥ ऋक् ५

हम सूर्य और चन्द्रमाके समान कल्याणके पथपर निरालस्य होकर चलें। दानी अहिंसक और विद्वान् मनुष्यों का सदा सङ्ग करें।

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानाᳫं रातिरभि नो निवर्त्ताम्। देवानाᳫं सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे॥ यजु० २५

छल-कपट रहित, सरल स्वभाववाले विद्वानों की सुन्दर बुद्धि हमारे लिये कल्याणकारिणी हो। उन्हीं देवों अर्थात् विद्वानोंके दान (उपदेश आदि) प्राप्त होवें, हम विद्वानों की मित्रता प्राप्त करें और उनके सदुपदेशों द्वारा अपनी आयुको बढ़ावें।

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इद-महमनृतात् सत्यमुपैमि ॥ यजु०

हे व्रतोंके पालक प्रकाशस्वरूप परमात्मन्, मैं व्रत का अनुष्ठान करूँगा। आप मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि मैं उसमें सफल होऊँ। मेरा व्रत सत्यरूप ही होवे। मैं असत्यको त्यागने और सत्यको ग्रहण करनेकी शक्ति प्राप्त करूं।

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ ऋग्० १०

समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्। समानं मंत्रमभिमंत्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥ ऋग० १०

परमात्मा मनुष्यमात्रको उपदेश देते हैं कि हे मनुष्यो, तुम सब साथ मिलकर चलो, एक साथ बैठकर विचार विमर्श करो और एक स्वरसे अपने विचार प्रगट करो (तुममें मतभेद न होवे), तुम्हारे विद्वानोंके मन एक हों (उनमें वैर-विरोध न होवे, वे निःस्वार्थभावसे सबके हितके लिये सद् विद्याओंका उप-देश करें)। तुम सब मिलकर अपने पूर्व ऋषियोंकी तरह एक ही भजनीय प्रभुकी उपासना करो और तुम्हारा मूल मंत्र अथवा उद्देश्य एक ही हो, कि प्राणिमात्रका हित किया जाय।

तुम्हारी सभा अथवा संगठन इसी समान उद्देश्य को लेकर होवे, तुम्हारे मन और चित्त एक जैसे होवें और तुम्हारे भोज्य पदार्थ भी एक ही जैसे होवें।

वैदिक राष्ट्र

आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूरः इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्॥ दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु॥ फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्॥ योगक्षेमो नः कल्पताम्॥ यजुर्वेद अ० २२

हे भगवान्, हमारे राष्ट्र में सत्य और ब्रह्मवर्चस् से युक्त, ज्ञानसम्पन्न, तेजस्वी, परोपकारी, निःस्वार्थ एवं अत्यंत प्रभाव-शाली ब्राह्मण होवें (जो अपने विशाल ज्ञान एवं तपोबलसे जनताका उचित पथप्रदर्शन कर सकें तथा राजा और प्रजाको धर्मकी मर्यादा में चला सकें)। हमारे क्षत्रिय अर्थात् शासक और रक्षकवर्ग शूर वीर होवें, वे अस्त्र-शस्त्रसे युक्त एवं युद्ध विद्यामें प्रवीण होवें, नीरोग एवं स्वस्थ और सबल होवें। हमारे देशमें प्रचूर दूध देनेवाली गायें हों, जिससे बैल मजबूत होकर कृषि कार्य की उन्नति कर सकें। (इसी तरह संसारकी सभी मातृ जाति प्रचूर दूध देनेवाली हों जिससे उनकी अपनी अपनी सन्तानें खूब मजबूत होकर विविध प्रकार से राष्ट्र की उन्नति करें) बैलोंके द्वारा अन्नादि पदार्थ देशमें सर्वत्र एक

स्थानसे दूसरे स्थान को भेजे जा सकें। शीघ्रगामी घोड़े और बैल होवें, यानके अन्य साधन भी होवें जिनसे गमनागमनमें सुविधा रहे। हमारी देवियां और माताएं देशका नेतृत्व करने की शक्ति रखनेवाली होवें, (यथार्थमें राष्ट्र निर्माण का कार्य स्त्रियों पर ही निर्भर करता है। वे ही नेत्री, शासिका विदुषी, सबकी माता अर्थात् निर्मात्री हैं। उनमें पूर्ण विद्या, ज्ञान, शील, धैर्य, गृहकार्यमें प्रवीणता, देश प्रेम आदि होनेसे ही राष्ट्र उन्नत हो सकता है)। राष्ट्रके सारे गृहस्थ यज्ञ करनेवाले (अर्थात् जलवायु, वृष्टि आदिकी अनुकूलता सम्पादनार्थ हवन, यज्ञ तथा साधु, सन्यासी, विद्वान्, गुरु, अतिथि, माता-पिता आदि की सेवा एवं निर्बलोंकी सहायताके हेतु पञ्च- महायज्ञ आदि सत्कर्म करनेवाले) हों। हमारे नवयुवक जिष्णु अर्थात् जय- शील होवें। पक्की लगनवाले हों, एवं ऐसे उद्यमशील हों कि जिस कामको हाथमें लें उसमें उनको सदा ही सफलता प्राप्त हो, उनके हृदयमें अदम्य उत्साह एवं उमंग होवे कि वे सर्वत्र विजयी होवें), रथ आदि से युक्त होवे, शूर वीर और पराक्रमी होवे तथा सभेय अर्थात् सभ्य होवें, (सभामें वक्तृता आदि देने, एवं सभामें मान्य प्राप्त करनेवाले भी हों)। यज्ञादिके द्वारा वृष्टि अनुकूल होवे अर्थात् वृष्टिकी जब-जब आवश्यकता हो तभी हुआ करे। औषधियां अर्थात् अन्नादि एवं फल, मूल, कन्दादि प्रचुर मात्रामें उत्पन्न होवें। हमें योग (अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति) एवं क्षेम (प्राप्त वस्तुकी रक्षाके साधन) प्राप्त होवें।

भगवान्से जो प्रार्थना की गई है उसकी प्राप्ति विना मनुष्यके पुरुपार्थके नहीं हो सकती। भगवान् की वेदोंमें यही आज्ञा है कि भक्त जो मांगता है उसके लिये स्वयं शक्ति भर प्रयत्न करना चाहिये तभी ईश्वरकी सहायता प्राप्त होती है। इसलिये हमारा कर्तव्य है कि हम अपने सारे प्राप्त साधनों द्वारा ज्ञान सहित प्रवल पुरुपार्थ करके राष्ट्र को ऊपर लिखे आदेशोंके अनुसार बनाने का यत्न करें। तभी हमारी प्रार्थना सफल होगी।

अभयं नः करिष्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे। अभयं पश्चाद्भयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु॥ अथव० का १९

प्रभो, हमें अन्तरिक्ष, पृथ्वी एवं सूर्यादि लोकोंसे निभयता की प्राप्ति हो। हमें अपने आगे, पीछे, ऊपर नीचे कहींसे भी भय न होवें।

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्। अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥ अथव० का० १९

हे परमात्मन्, हमें मित्रसे भय न होवे, शत्रुसे भी भय न होवे। परिचित व्यक्तियों एवं वस्तुओंसे निभयता प्राप्त होवे। परोक्षमें भी हमें कुछ भय न होवें। दिनमें, रातमें सभी समय निर्भय रहें। किसी भी देशमें हमारे लिये कोई भयका कारण न रहे। सर्वत्र हमारे मित्र ही मित्र होवें।

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।

शं नः कुरु प्रजाभ्यो अभयं नः पशुभ्यः॥ यजु० ३६

हे परमात्मन्, जहाँ कहीं भी आपके सृष्टि रचना, धारण आदि कार्य हो रहे हैं वहाँ सब जगह हमको आप अभयकर दीजिये। हमें कहीं भी भय न होवे। मनुष्यमात्रसे हमारा कल्याण होवे। हमें पशुओंसे भी निर्भय बना दीजिये, जिससे हिंसक पशु भी हमें भय न दे सकें। हे प्रभो, आप हमें ऐसा बना दीजिये कि मनुष्यमात्र का हम कल्याण कर सकें, किसी की बुराई न करें। पशुओं तथा अन्य प्राणियोंको भी हमसे कुछ भय न होवे। न हम किसीसे डरें और न स्वयं दूसरेको डरावें।

दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ यजु० ३६

हे भगवन् आप हमें ऐसी सद्बुद्धि प्रदान करें कि जिससे हमें संसारके सारे प्राणी मित्र की दृष्टिसे देखें। (अर्थात् अपना मित्र समझें) हम भी दूसरे सारे प्राणिमात्र को मित्र की दृष्टि से देखें तथा हम सब परस्पर एक दूसरेको मित्रकी दृष्टिसे देखा करें। (यथार्थमें यदि कोई भी मनुष्य हमसे द्वेष करता है तो इसका कारण हमें अपनेमें ही खोजना चाहिये क्योंकि वही मनुष्य जो हमसे द्वेष करता है, दूसरेसे प्रेम भी तो करता है। अतएव प्रेम की कमी उसमें नहीं है हम अपनी किसी कमीके कारण अपनेको उसके अनुकूल नहीं बना पाते हैं। हमें उस कमी को दूर करना चाहिये। दूसरेसे कुढ़ने की आवश्यकता नहीं है।

प्राणिमात्रके हित चाहनेवाले, हिंसक पशुओं तकको अपने मित्र बना लेते हैं)।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षिभिर्यजत्रा।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥

कानोंसे कल्याणमय शुभ शब्द ही सुनें, आंखोंसे कल्याण-कारक दृश्य ही देखें। हमारे अङ्ग प्रत्यङ्ग स्वस्थ और सबल रहें। हम ईश्वर, वेद एवं सत्पुरुषों की प्रशंसा करें और दीर्घ आयु प्राप्त कर उसे देवोंके हितमें लगावें। (अर्थात् अपनी आत्माको उन्नत करें, अग्नि, वायु आदि तत्त्वों का पूजन, सेवन और शोधन करें, विद्वानों का सत्कार एवं ईश्वरार्चन करें)।

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा॥ यजु०

मुझे दो मैं तुम्हें दूंगा, मेरे पास रखो मैं तुम्हारे पास रखूंगा, मेरे यहांसे कुछ ले जाते हो, मैं तुम्हारे यहांसे कुछ ले आऊँगा।

मनुष्य का व्यवहार लेन-देन (आदान-प्रदान) पर ही निर्भर करता है। प्रभुने कितने सीधे सादे शब्दोंमें यह अमूल्य शिक्षा दी है। कोई भी मनुष्य अपनी सारी आवश्यकताएं अपनेसे ही पूरी नहीं कर सकता। प्रत्येक मनुष्य न तो सारे काम अपने से ही कर सकता है और न सारे पदार्थ एक ही मनुष्यके पास हो सकते हैं। अतएव आवश्यक है कि 'मनुष्यमात्र सहयोगिता से परस्परके कार्य एवं समाजके व्यवहारको चलायें—अपने पास

जो है मुक्त हस्तसे दूसरों को दे, जो अपने पास नहीं है वह दूसरोंसे ग्रहण करनेमें संकोच न करें। विद्वान अपनी विद्या, धनवाले अपने धन, एक दूसरे की सहायता और कल्याणके लिये देव लेवें, बलवान अपने बलसे सबकी रक्षा करें, धन, बल, विद्या आदि साधन जिनके पास नहीं है वे शरीरसे ही समाज की सेवा करें और बदलेमें धन, विद्यादि साधन सम्पन्न मनुष्यों से सहायता प्राप्त करें। यही वर्णव्यवस्था है, मानवी उन्नति का मूल है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ यजु०४०।२

निष्काम भावसे उत्तम कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीवित रहने की इच्छा करे (और उसके लिये प्रयत्न भी करे)। यही एकमात्र उपाय है जिससे मनुष्य कर्मबन्धन में नहीं बन्ध सकता। कारण, सकामकर्म अर्थात् ऐसे कर्म जो फल की आशासे किये जाते हैं उनके फल भोगनेके लिये शरीर धारण करना अनिवार्य है और इससे मनुष्य जन्म मरणके चक्रसे मुक्ति नहीं पा सकता। यथार्थमें ज्ञानपूर्वक अनासक्त भावसे कर्त्तव्य समझ कर ही पुरुषार्थ करनेवाला मनुष्य उत्तम गतिको प्राप्त करता है।

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥ यजु० ४०।१

सारे जगत्के प्रत्येक अणु परमाणुमें परमात्मा व्याप्त है, सब

जगह वर्त्तमान है, मनुष्य उसी प्रभुके दिये हुए भोग्य पदार्थोंका उपभोग कर रहा है। ऐसा समझते हुए किसी पदार्थसे अपनापन या ममत्व न जोड़कर एवं यथाशक्ति दूसरेको देकर मनुष्य सारे पदार्थों का भोग करे। अन्यायसे दूसरे की वस्तु लेने का यत्न न करे। अपने पुरुषार्थसे ही संतुष्ट रहे, दूसरेके धन पर मन न चलावे। (वेदोंमें सारे ऐश्वर्य प्राप्त कर उनके भोग करने की आज्ञा है परन्तु शर्त यही है कि मनुष्य उन्हें अपना न समझे, प्रभु का समझे, और प्रभु की संतान प्राणिमात्र के हितमें उस ऐश्वर्य को अर्पित करनेमें संकोच न करे, इसी भाव को ब्रह्मार्पण भी कहते हैं)।

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ यजु० ४०।३

घोर अन्धकारसे युक्त सूर्यके प्रकाशसे रहित लोकोंमें वे मनुष्य मरकर जाते हैं जो आत्मघाती हैं। आत्मघातीसे आत्महत्या करनेवाले—अपनी जान देनेवाले—लोग तो अभिप्रेत हैं ही क्योंकि वे समाजके बड़े प्रबल शत्रु हैं, जिनको अपनी आत्मासे प्रेम नहीं है वे संसार भरका अनिष्ट कर सकते हैं, इसमें संदेह नहीं। आत्मघाती उन्हें भी कहते हैं जो अपनी अन्तरात्माकी आवाज़ के विरुद्ध आचरण करते हैं। यह सभी मनुष्यों का अनुभव है कि जो कार्य बुरे होते हैं उनके करनेमें आत्माके अन्दर ग्लानि, लज्जा, भय एवं निरुत्साहके भाव उदय होते हैं। आत्मासे धिक्कार की आवाज आती है। अच्छे कर्मोंके करनेमें

आनन्द उत्साह, उमङ्गके भाव होते हैं। ऐसे कार्य तो करने योग्य हैं परन्तु पूर्वोक्त कार्य अर्थात् जिनके करनेमें आत्मग्लानि आदि होवे मनुष्य को कदापि नहीं करने चाहिये, यदि इतना ध्यानमें रखा जाय तो मनुष्य सारे पापोंसे बच सकता है।

मन्द्रा कृणुध्वं धिय आ तनुध्वं नावमरित्रपरणीं कृणुध्वम्।
इष्कृणुध्वमायुधारं कृणुध्वं प्राञ्चं यज्ञं प्रणयता सखायः॥ ऋग्० १०

परमात्मा राष्ट्रके नेताओंको उपदेश देते हैं कि सब कोई सखा अर्थात् मित्रतायुक्त और एक समान ज्ञानवाले होवें। वे सभी उत्तम (ओजस्वी एवं सत्य हितकर) भाषण करें, ज्ञान-विज्ञान का प्रसार करें, यातायात के लिये और युद्धके लिये भी सुन्दर मजबूत नौकाएं बनावें। शत्रुसे राष्ट्र की रक्षाके लिये पूरा प्रबन्ध रखें। प्रत्येक मनुष्य भी अपनी आत्म रक्षा के साधनोंसे युक्त रहे। कृषि और वाणिज्य द्वारा अन्न की वृद्धि करें, दृढ़ शस्त्रास्त्र तैयार रख जिनसे समयानुसार शत्रुसे देशकी रक्षा की जा सके एवं शासन की सुव्यवस्था रह सके। धन, बल, विद्या, विज्ञानादि द्वारा देश को आगे बढ़ावें, यज्ञ आदि सत्कर्मों की देशमें वृद्धि करें एवं सब प्रकारसे प्रजाका पालन करें।

स्थिरा वः सन्त्वायुधः पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः॥ ऋ० १।३९।

ईश्वर उपदेश करते हैं कि हे राजपुरुषो, तुम्हारे आग्नेय आदि अस्त्र और शतघ्नी अर्थात् तोप, भुशुण्डी अर्थात् बन्दूक तथा धनुष बाण, तलवार आदि शस्त्रास्त्र आक्रमणकारी शत्रुओं को परा-

जित करने और उनसे स्वराष्ट्र की रक्षा के लिये प्रशंसित और दृढ़ होवें तुम्हारी सेना विशाल और प्रशंसनीय होवे कि जिससे तुम सदा विजयी रहो और शत्रु तुम्हारा बाल भी बाँका न कर सके। परन्तु जो निन्दित अन्याय रूप कर्म करनेवाले हैं उनके पूर्वोक्त वस्तु न होवें। (तात्पर्य यह है कि जबतक मनुष्य धार्मिक रहते हैं तभी तक राज्य बढ़ता है अर्थात सब प्रकारसे उन्नति होती है और जब दुष्टाचारी होते हैं तब नष्टभ्रष्ट हो जाते हैं। धर्मात्मा पुरुषों के लिये प्रभु का यह आदेश भी इस मन्त्रमें है कि वे अन्यायी दुराचारी पुरुषों की शक्ति को कदापि न बढ़ने देवें। सब प्रकार से अन्यायकारियोंके बल की हानि और न्यायकारी धर्मात्माओंके बल की उन्नति करनेमें ही मनुष्य की मनुष्यता है। इसी अभिप्राय को भगवान कृष्णने गीतामें कहा है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

अर्थात् सज्जन धर्मात्मा पुरुषों की रक्षा और पापी दुराचारी लोगोंके विनाश द्वारा धर्म की मर्यादा को स्थिर रखनेके लिये मैं बार-बार जन्म लेता हूं।)

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सु सहासति॥ ऋ० १०।१६१

तुम सबका ध्येय समान हो। तुम सबके हृदय समान हों, मन भी समान हों जिससे तुम सबकी शक्ति उत्तम हो। सबके उद्देश्य, हृदयके भाव, मनके विचार एक होनेसे सबमें एकता

होती है और संघ का बल बढ़ता है। सबको सब प्रकारका उत्तम कल्याण प्राप्त होता है।

ईश्वरभक्ति

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ यजु० ३१

जिसने परमात्मा का साक्षात्कार किया है वह मुक्त पुरुष कहता है कि मैं उस परम पुरुष परमात्मा को जानता हूं वह स्वयं प्रकाश स्वरूप है और अन्धकारसे सर्वथा पृथक् है। उस परमेश्वर को जानकर ही मनुष्य मृत्युके दुःखसे, आवागमनके चक्रसे छूटकर अमृत हो सकता है—परम आनन्द की प्राप्तिके लिये और कोई दूसरा रास्ता नहीं है। भौतिक भागोंमें सच्चा आनन्द नहीं है उनकी जितनी अधिक मात्रामें प्राप्ति होगी उतनी ही अधिक पानेकी लालसा उदय होती जायगी और हाहाकार बढ़ता जायगा। इसलिये महर्षि कपिलने सांख्य दर्शनमें कहा है—"न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेरप्यनुवृत्तिदर्शनात्।" अर्थात् इन्द्रियोंसे प्राप्त होने योग्य पदार्थोंसे दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि जैसे ही हम किसी अभिलाषित पदार्थको पा लेते हैं फिर हमें और पानेकी इच्छा हो जाती है। उपनिषद् कहता है—'भूमा व तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति' सबसे अधिकमें ही सुख है अल्पमें सुख कदापि नहीं हो सकता। परन्तु सांसारिक सुख भोग अल्प ही हो सकते हैं कारण, संसार भरकी

सारी धन-सम्पत्ति एक ही मनुष्यके पास सिमट कर नहीं जा सकती। यदि ऐसा करनेका यत्न भी किया जाय कि दुनियाकी सारी सम्पत्ति एक ही व्यक्ति ले लेवे तो संसारके अन्य लोग गरीबी और भूखमरीसे पीड़ित हो ऐसी हाय-हत्या मचायेंगे कि उस सम्पत्तिमान् मनुष्यका अस्तित्व ही कायम न रह सकेगा।

अतएव आनन्दनिधान पूर्ण पुरुषकी ही प्राप्तिसे संसारमें आनन्द का स्रोत बह सकता है। उसे यदि एक मनुष्य प्राप्त कर ले तो दूसरेके लिये भी वह पूर्ण रूपसे ही शेष रहता है। "पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते"—पूर्णसे पूर्ण घटानेसे पूर्ण ही शेष रहता है। अतएव हम सबों को सच्चिदानन्द प्रभुकी भक्तिसे ही सारे सुखों और सच्चे आनन्दकी प्राप्ति हो सकती है, दूसरे उपायसे नहीं। इस हेतु हमारा सबसे बड़ा पुरुषार्थ उस प्रभुको भक्ति द्वारा प्राप्त करनेके लिये होना चाहिये। वही हमारा ध्येय होना चाहिये। संसारके और पदार्थ व्यवहारिक हैं अर्थात् शरीरयात्राके निर्वाहार्थ हैं और उसी विचारसे उनका धर्मपूवक संग्रह करना योग्य है। सांसारिक पदार्थोंके उपार्जनमें किंवा परिवार आदिके पालनमें हमें परमात्माको कदापि नहीं भूल जाना चाहिये। उन सारे व्यवहारोंको परमात्माकी आज्ञा समझकर उसकी पालन रूप आराधना करनेके विचारसे ही करना चाहिये। ऐसे मनुष्य जनक याज्ञवल्क्य आदि की तरह गृहस्थाश्रमके सारे कार्य सम्पादन करते हुए भी प्रभुको प्राप्त होते और परमानन्द तककी प्राप्ति करते हैं।

कठोपनिषद्में लिखा है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

जो दुश्चरित्र अर्थात् बुरे आचरणोंसे विरत नहीं हैं, जो शान्त और एकाग्र चित्त नहीं तथा जिनका मन अशान्त है वे संन्यास लेकर या ज्ञान-विज्ञान आदिके द्वारा उस आनन्दनिधान परमात्मा को नहीं प्राप्त कर सकते।

मण्डूक उपनिषद्में लिखा है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैषआत्मा वृणुते तनुं स्वाम्॥

वह प्रभु परमात्मा वेदादि शास्त्रोंके बहुत पढ़नेसे या मेधा अर्थात् अर्थों को धारण करने की शक्ति किंवा बहुत उपदेश श्रवणसे भी प्राप्त नहीं हो सकता। उस प्रभुको प्राप्त करने की जिसमें उत्कट अभिलाषा है—जिसने उस प्रभुको ही वरण कर लिया है और उसकी प्राप्तिके बिना जिसको चैन नहीं है वही परमात्मा को पा सकता है। ऐसे उपासकके समीप प्रभु अपने स्वरूप को प्रकाश करते हैं, उसे दर्शन देते हैं। अर्थात् वही अनन्य उपासक आत्मदर्शी—परमात्मा का साक्षात्कार करनेवाला होता है।

इस उपनिषद् वाक्यमें वेदादि शास्त्रोंके स्वाध्याय, उपदेश श्रवण या मेधा शक्तिकी निन्दाका भाव नहीं है। उनकी अनावश्यकता इससे सिद्ध नहीं होती। वे तो नितान्त आवश्यक हैं

उनके बिना प्रभुके स्वरूपका ज्ञान नहीं हो सकता और बिना प्रभु की महिमाको भलीभांति जाने उसमें प्रीति होनी कठिन है। इसलिये वेदादिके ज्ञान एवं उपदेश श्रवण और मेधा आदिकी आवश्यकता तो है ही, ये सब प्रभुकी प्राप्तिमें साधक ही हैं, बाधक कदापि नहीं। परन्तु जो अपनी विद्या आदिको सब कुछ समझ लेते हैं, प्रभुकी भक्ति नहीं करते वे केवलमात्र विद्या आदिसे ही ईश्वरको प्राप्तकर परमानन्दकी प्राप्ति नहीं कर सकते, यह ध्रुव सत्य है। 'हमारा पुत्र दिनको बाहर गया रातमें बड़ी देर तक नहीं लौटा' हमको कितनी बेचैनी होती-उसके लिये कितनी पूछ-ताछ दौड़धूप करते हैं, जबतक नहीं मिलता खाना-पीना हमें नहीं सुहाता। उसके वियोगमें हम कितने तड़पते हैं। उसी तरहकी या उससे भी अधिक उत्कट लालसा वैसी ही तड़प जब हम प्रभुके वियोगमें अनुभव करेंगे, प्रभु तभी मिल सकते हैं। हम केवल कुछ पढ़कर, कुछ स्तुतिके मंत्र बोलकर या तोतारटन्तकी तरह कुछ शब्दोंको दुहराकरही अपनेको कृतार्थ न समझ लें। हमें प्रभुके लिये हृदयकी लगन होनी चाहिये। यही इस उपनिषद् वाक्यकी शिक्षा है।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम॥

वह प्रभु परमात्मा बलहीनोंके द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। प्रमादी अर्थात् सांसारिक विषय भोगमें फँसे हुए—स्त्री पुत्रादिकी ममतामें आसक्त—अपने कर्त्तव्यपथसे च्युत मनुष्य भी उसे

नहीं पा सकते। विना वैराग्यके ज्ञानसे भी प्रभु नहीं मिल सकता। बल, ज्ञान, वैराग्य एवं सच्ची लगनके साथ जो परमात्मा की प्राप्तिके लिये यत्नवान होता है उसीकी आत्मा ब्रह्मधाम—परमपद—को पाती है।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥

वह प्रभु नेत्रसे, वाणीसे, किंवा अन्य श्रोत स्पर्श आदि इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता। केवलमात्र कष्ट सहिष्णुता अथवा अग्निहोत्रादि कर्म भी उसकी प्राप्तिके साधन नहीं हो सकते ज्ञानकी ज्योतिसे जिसके अन्तःकरण निर्मल हो गये हैं वही समाधिस्थ होकर उस निरवयव परमपुरुषका साक्षात्कार अपनी आत्मा के द्वारा कर सकता है।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

परमात्मा सत्य, तप यथार्थ ज्ञान एवं ब्रह्मचर्यके द्वारा ही प्राप्त होता है। सभी दोषों एवं दुर्गुणोंसे रहित आत्मसंयमी पुरुष उपरिलिखित साधनोंके द्वारा उस दिव्य ज्योतिका दर्शन अपने शरीरस्थित हृदय मन्दिरमें ही कर लेते हैं।

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥

सत्यकी ही सदा विजय होती है, असत्यकी नहीं। सत्यके द्वारा ही विद्वानोंका मार्ग विस्तृत होता है। उसी सत्य मार्गसे

माया, शठता, दम्भ, अनृत आदिसे शून्य तृष्णारहित ज्ञानी पुरुष उस सत्यके निधान परमात्माको प्राप्त करते हैं।

ईश्वर प्राप्तिका एक मात्र साधन ईश्वर भक्ति है, यदि ऐसा कहूं तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। परन्तु भक्ति शब्दका अर्थ समझना चाहिये। भक्ति शब्द 'भज् सेवायाम्' इस धातुसे बना इसलिये 'भक्ति' का अर्थ है "सेवा"। मनुष्य अपने स्वामीकी आज्ञा पालन करनेसे सच्चा सेवक या भक्त कहा जा सकता है। अतएव परमात्माके आज्ञापालक ही प्रभु भक्त कहलानेके अधिकारी हैं। परमात्माकी आज्ञा क्या है यह हम कैसे जानें, यह प्रश्न होता है। तो परमात्माकी आज्ञा वेदोंमें मौजूद है। वेदोंको परमात्माकी वाणी सनातनसे कहा गया है। सारे प्राचीन आचार्य, ऋषि-मुनि, धर्मशास्त्र, पुराण आदि इसमें एक मत हैं। वेदभगवान स्वयं कहते हैं—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ यजु० अ० ३१

अर्थात् उसी यज्ञरूप परम पूजनीय परमात्मासे ऋग्वेद, साम-वेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद उत्पन्न हुए। यजुर्वेद के २६ वें अध्यायका दूसरा मन्त्र यह घोषणा कर रहा है कि—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय स्वाय चारणाय ॥

अर्थात् मैं (परमात्मा) इस कल्याणी वेदवाणी का उपदेश मनुष्य मात्र (स्त्री पुरुष सब) के लिये कर रहा हूं। ब्राह्मणों और

क्षत्रियोंके लिये, शूद्रों और वैश्योंके लिये, जङ्गली मनुष्यों आदि अपनी समस्त प्रजाके लिये। (इस मन्त्रसे यह भी सिद्ध होता है कि स्त्रियां वेद न पढ़े, शूद्रको वेदाधिकार नहीं है यह सब झगड़ा निर्मूल है। यह हो भी कैसे सकता है? जब परमात्माके बनाये सूर्य चन्द्रादि सबको प्रकाश देते, पृथ्वी सबको धारण करती, जल वायु आदि सबको प्राण देते तो प्रभु की कल्याणी वाणीसे मनुष्य का कोई वर्ग कैसे वंचित किया जा सकता है?

अतएव वेदाज्ञाका पालन प्रभुकी आज्ञाका पालन अथवा भक्ति है। इसलिये वेदोंके अभ्यासको मनु आदि महर्षियोंने परम तप बतलाया है। इसीके लिये सत्संग अतिथि सत्कार आदि की महिमा है ताकि उनके द्वारा गृहस्थोंको वेदोंके उपदेश श्रवण करनेमें सुविधा रहे। इसी लिये स्वाध्याय को इतना महत्त्व दिया गया है।

प्रभु की आज्ञा क्या है, यह हम शरीरकी बनावट भी देखकर जान सकते हैं। प्रभुने हमें ज्ञानकी इन्द्रियां दी हैं, इससे स्पष्ट है कि प्रभु की आज्ञा है कि हम ज्ञान प्राप्त करें, कूपमण्डूक न बने रहें। प्रभुने हमें हाथ, पांव, वाणी आदि कर्मेन्द्रियां दी हैं। प्रभु की आज्ञा है कि हम सत्कर्म करें, सत्य, हित और मित (नपी तोली हुई वाणी) बोलें, गृहस्थाश्रम का मर्यादा के साथ पालन करें और देश, धर्म, या संसारके प्राणिमात्र की अधिकसे अधिक सेवा करनेके लिये अपने प्रतिनिधिके रूपमें योग्य सेवक दे जायं। परमेश्वरने हमें हृदय दिया है हम प्रभुसे प्रेम करें, प्रभु की सन्तान प्राणिमात्रसे प्रेम करें, यही प्रभु की आज्ञा है।

सारांश यह है कि सत्य ज्ञान की प्राप्ति, सत्कर्मों का अनुष्ठान और विश्वप्रेम (या प्रभु प्रेम) प्रभु की आज्ञा का पालन करनेवाला ही प्रभु भक्त है।

प्रभु की आज्ञा हमारी अन्तरात्मामें प्रतिक्षण स्फुरित होती रहती है। हम जितने भी कर्म करते हैं वा करना चाहते हैं वे दो ही प्रकारके तो हैं। एक तो वे जिनके करनेका भाव मनमें आते ही आनन्द, उत्साह और निर्भयता के भाव आते हैं। ऐसे भाव परमात्मा की ओरसे ही आते हैं अतएव ऐसे कर्म करने की प्रभु की आज्ञा है, यह समझना चाहिये। निन्दनीय कर्म करनेमें लज्जा, ग्लानि और भयके भाव उदय होते हैं। वे कर्म त्याज्य हैं।

प्रभुको प्राप्त करना है, उसकी उपासना करनी (उप-समीप आसन-बैठाना) है। अब विचार करना चाहिये कि किसीके समीप जाने या बैठनेके लिये हमें क्या करना चाहिये। हम बड़े साहबसे मिलना चाहते हैं। उसके लिये हम कितनी तैयारियां करते हैं। हम हजामत कराते क्योंकि साहब को बढ़ी दाढ़ी पसन्द नहीं है, हम धुले कपड़े पहनते, जूतेमें पालिश लगाते, नाना प्रकारसे सुसज्जित होते हैं। केवल इसलिये कि साहब को हमारी आकृति, प्रकृति, वेश-भूषा किसी भी वस्तु में गन्दगी नहीं दिखायी पड़े। एक साधारण मनुष्यसे मिलने में जब इतनी सतर्कता की आवश्यकता है, पवित्रता और श्रेष्ठता की आवश्यकता है तो उस प्रभुसे मिलनेके लिये, जो प्रभु स्वरूपतः सत्यं, शिवं, सुन्दरं है, जो हमारे भीतर बाहर सब कुछ देखा करता है हमें भीतर-बाहर

के समस्त मलों को, दुर्गुणों को, निकाल फेकना होगा ही। हमें स्वतः सत्य शिव (कल्याणकारी प्राणिमात्र का हितचिन्तक) एवं सुन्दर (मन, वचन, कर्मसे पवित्र, शरीर एवं आत्माके दोषोंसे पृथक्) होना ही होगा। हम बगुला भगत बनकर ('हाथ सुमरनी बगल कतरनी' रखकर) प्रभु भक्तिका दिखावा करके प्रभु को धोखा नहीं दे सकते। इसलिये उपनिषद् पुकार कर कह रहा है कि दुश्चरितसे जो पृथक् नहीं हैं वे प्रभुको कदापि प्राप्त नहीं कर सकते। (ऊपर उपनिषद् का श्लोक लिखा गया है)। यदि हम ऐसा समझते हैं कि दुनिया भर की सारी चालाकी और चाल-बाजी चलते रहें उनको छोड़ने की आवश्यकता नहीं है, कुछ समय तक माला लेकर राम-राम जप लेंगे बस पर्याप्त है, राम भी मिले गुलछर्रे भी उड़ें, तो हम बिलकुल भूल कर रहे हैं। अपने दुष्कर्मों से हमें ग्लानि होनी चाहिये, हमें अपने अशुभ कर्मों के लिये पश्चात्ताप करना चाहिये और उन्हें छोड़कर शुद्ध हृदयसे प्रभु की शरणमें आना चाहिये। प्रभु हमें अवश्य अपनी शरणमें लेंगे, इसमें सन्देह नहीं।

गीताके १८ वें अध्यायमें भगवान् कृष्ण कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दन्ति मानवाः॥

जो प्रभु सारे विश्व ब्रह्माण्ड का निर्माण कर चराचर जगत् का धारण और पालन अपने अतुल सामर्थ्यसे कर रहा है उसकी पूजा मनुष्य अपने कर्मों द्वारा ही करके सिद्धि प्राप्त करता है।

यह श्लोक स्पष्ट रूपसे बतला रहा है कि अपने-अपने गुण और स्वभावके अनुसार जिस कम को मनुष्यने अपने लिये चुन लिया है या जो कर्त्तव्य उसके ऊपर आ पड़ा है उसको योगयुक्त होकर (अर्थात् निपुणता और सुन्दरताके साथ) कर्त्तव्य भावनासे (फल की कामना को त्यागकर) करना ही ईश्वर की पूजा है। ईश्वर पूजासे जो सिद्धि प्राप्त हो सकती है वह सिद्धि मनुष्यमात्र को अपने कर्मके अनुष्ठान द्वारा मिलती है।

वास्तवमें ईश्वर कोई राजा, महाराज या सेठ साहुकार आदि साधारण मनुष्यों जैसा तो है नहीं जो उसकी भक्तिका दम भरने वाला मनुष्य अपने कर्मों को न करके केवल प्रशंसा या चाटु-कारी ही करता रहे और ईश्वर प्रसन्न हो जाय। हम उस सेवक को क्या कहेंगे, जो हमारा कहा तो कुछ माने नहीं, जो काम उसके लिये निर्धारित किये गये हैं वह बिलकुल करे ही नहीं, या करे भी तो अधूरा या बेमन से, और मालाके दानों पर हमारे नाम गिनता रहे या शेखचिल्लीके जैसा बैठा-बैठा हमारी तारीफके पुल बांधता रहे ?

काम कोई भी छोटा या नीचा नहीं है। नीचता है हिंसा परद्रोह, असत्य, जुआ, छल, कपट पुरुपार्थहीनता आदिमें। खेती वाणिज्य व्यवसाय, सेवा, राज्य पालन आदि जो काम भी हमको करना पड़ रहा है सभी समान रूपसे ईश्वर तक पहुंचानेवाले हैं। यदि उनको हम स्वार्थ बुद्धिसे रहित होकर, उनके फल ईश्वर को अर्पण करके, ईमानदारी और खूबीसे करते हैं, उनके करनेमें

आलस्य या प्रमाद नहीं करते और हानि लाभमें न घबराते और न झलाते हैं। यदि हम पिता हैं तो पुत्र का लालन-पालन इस बुद्धिसे करें कि यह पिताका कर्त्तव्य है, इस बुद्धिसे नहीं कि पुत्र हमें कमाकर खिलायेगा। हम दूकानदार हैं तो हम पुरुषार्थसे अपने ग्राहकोंके लिये माल लाकर उन्हें दें और अपनी जीविका के लिये उस पर उचित अनुपातमें लाभ अवश्य लें। यह सर्वथा न्यायोचित धर्मानुकूल है और इससे हमें ईश्वर की प्राप्ति अवश्य होगी, यदि हम इसमें छल कपटका प्रयोग नहीं करते हैं। यह आवश्यक नहीं कि पढ़ने, लिखने, उपदेश देने, शासन करने या व्यापार करनेके कार्य ही महत्त्वपूर्ण हैं। जूते बनाकर या सड़कों पर झाड़ू लगा कर जीविका करनेवाले भी यदि सत्यवादी और सत्यकारी हैं और अपने परिश्रम की रोटी ही खाने का दृढ़ संकल्प रखता है तो वह गीताके उपदेशानुसार अवश्य सिद्धि को प्राप्त करेगा। वह तथाकथित उत्तम वर्णवालोंसे श्रेष्ठ और माननीय है जिनके सम्बन्धमें कविवर मैथिलीशरण गुप्तने कहा है—

> निश्चित नहीं दृग बन्दकर वे लीन हैं भगवानमें,
> या दक्षिणा की मंजु मुद्रा देखते हैं ध्यानमें।

जनता जनार्दनकी सेवा या यों कहिये कि प्राणिमात्रकी सेवा ही परमात्मा की सेवा या सच्ची ईश्वर भक्ति है, यह सिद्धान्त भी अकाट्य है। सर्व शक्तिमान्, सर्वव्यापक, सच्चिदानन्द, हिरण्य-

गर्भ, आप्तकाम प्रभु को क्या कमी है कि हम उसको कुछ दे सकते हैं ? ऋग्० १।१६४ में कहा है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति॥

मिले-जुले हुए (व्याप्त व्यापक होनेसे) दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही वृक्ष (प्रकृतिरूपी) पर साथ-साथ रहते हैं (प्रकृतिसे बने पृथ्वी आदिमें जीवात्मा का निवास है ही, परमात्मा सर्वव्यापक होनेके कारण वहां वर्त्तमान है। उनमें से एक (अर्थात् जीवात्मा) वृक्षके स्वादु फलका (प्राकृतिक भोगों का) उपभोग करता है। दूसरा परमात्मा। उस फलको नहीं खाता हुआ प्रकाशमान होता है।

परमात्मा हमारा पिता है, सारे प्राणिमात्र का भी पिता है। हम प्रभुके अमृत पुत्र हैं—बड़े लड़के हैं—ऐसा वेद भगवान् कहते हैं। साधारण मनुष्य भी पिता होनेकी अवस्थामें अपने खानेकी विशेष चिन्ता न कर अपनी सन्तान को ही खिलाने की चिन्ता करता है। अपनी सन्तानोंमें परस्पर मेलजोल और प्रेम देखना चाहता है। पिता की यह हार्दिक इच्छा रहती है कि हमारे पुत्र-पुत्रियां आपसमें लड़ें नहीं, सब एक दूसरे की सहायता करें, और बड़े लड़कों पर तो अपने छोटे भाई बहिनों की देखरेख सेवा सँभाल का विशेष उत्तरदायित्व देता है, और उस उत्तरदायित्वको सुन्दर रीतिसे निबाहने पर उसे बड़ी प्रसन्नता होती है। ऐसी अवस्थामें, इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि परमपिता पर-

मात्मा की प्रसन्नता—उसकी भक्ति का वरदान—हम तभी लाभ कर सकते हैं जब हम अपने छोटे भाइयों, अपनेसे कमजोर मनुष्यों एवं अन्य प्राणियों की भरपूर सेवा और मदद करें। हम किसीको अछूत, किसीको अन्य प्रकारसे घृणित अथवा उपेक्षाके योग्य समझें और उनके सुखदुःख की जरा भी परवाह न करें और परमात्मा को भोग लगाने और खिलाने-पिलानेमें बड़ी धूमधाम करें तो इससे बढ़कर उल्टी समझ क्या हो सकती है ? जनता की सेवा, दीनों और आर्तों की रक्षा और सहायता ही परमात्मा का सच्चा भोग है। यही गीताके शब्दोंमें ब्रह्मार्पण है, ब्रह्महवि है और ब्रह्मकी प्राप्तिका वास्तविक साधन है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ गीता अ० ४

क्या हम उस मनुष्य को अपना भक्त या प्रेमी समझ सकते हैं, जो हमें खोजता हुआ बड़ी दूरसे आवे, हमारे लिये बड़ी सुन्दर मिठाइयां और स्वादिष्ट फल लावे, और हमारे नन्हेंसे बच्चे को देखते ही ढकेल देवे या उसके मुँहपर तमाचे लगा दे ? अतएव यदि हम प्रभु प्रेमके प्यासे हैं तो प्रभुकी सन्तान—प्राणिमात्रसे प्रेम करना सीखें।

मनुष्यमात्र या प्राणिमात्र की सेवा करने का सबसे अधिक सुयोग गृहस्थ आश्रममें ही मनुष्य पा सकता है। इसी आश्रममें धनोपार्जन किया जा सकता है जिससे औरों का भरण-पोषण किया जा सके। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास—ये तीन

आश्रम गृहस्थके ऊपर ही निर्वाह के लिये आश्रय करते हैं। वलि-वैश्वदेव आदिके द्वारा पशुपक्षियोंके पालन करनेका भी उत्तर-दायित्व गृहस्थके ऊपर ही है। अतएव जो गृहस्थ अपने कर्त्तव्य का पूर्णरूप से पालन करता है वह जनक याज्ञवल्क्य आदि गृहस्थाश्रमियोंकी तरह जीवन्मुक्त होनेकी योग्यता प्राप्त करता है।

यज्ञ

यजुर्वेद अध्याय ३१ (पुरुष सूक्त) का निम्नलिखित प्रसिद्ध मन्त्र यह शिक्षा अनादि कालसे दे रहा है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
तेह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्व साध्याः सन्ति देवाः॥

विद्वान् ज्ञानी पुरुष उस परम पूजनीय प्रभुकी पूजा अपने सत्कर्मरूप यज्ञ द्वारा ही करते हैं। वही यज्ञरूप कर्म मनुष्यमात्र के लिये सवसे वड़ा धर्म है। इसीके द्वारा हमारे साधक और सिद्ध पूर्वज ऋषि महर्षि, पिता पितामह आदि प्राचीन कालमें परमानन्द प्राप्त करते रहे हैं। इसी यज्ञानुष्ठान परोपकारादि सत्कर्म के द्वारा हम अभी भी सारे सुख और आनन्द प्राप्त कर सकते हैं।

यज्ञ क्या है इस सम्बन्धमें इसके पूर्व इसी पुस्तकमें कई स्थलों पर संक्षेपसे लिखा जा चुका है। यहां पर हम इस सम्बन्ध में कुछ विस्तारसे विचार करेंगे।

जैसा पहले कहा जा चुका है यज्ञ शब्द यज् धातुसे 'न' प्रत्यय लगाकर वनता है। यज् धातुके तीन अर्थ होते हैं—

(१) देवपूजा, (२) सङ्गतिकरण और (३) दान। इसलिये यज्ञ के भी ये ही तीन अर्थ होंगे; यतः यज्ञ शब्द यज् धातुसे बनी हुई भाववाचक संज्ञा है। सबसे पहले हमें देव शब्दके अर्थ पर विचार करना चाहिये। वैदिक शब्दोंके प्राचीन व्याख्याता महर्षि यास्कने निरुक्तमें देव शब्दकी निरुक्ति यों की है—

देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा द्युस्थानो भवतीति वा।

अर्थात् (दान) देनेके कारण, (दीपन) प्रकाश देनेके कारण, (द्योतन) शिक्षा, उपदेश आदि देनेके कारण तथा द्युस्थान सूर्यादि प्रकाशमान लोकोंका प्रकाशक एवं द्युलोक, अन्तरिक्ष आदि समस्त विश्व ब्रह्माण्डमें व्यापक होनेके कारण ही देव नाम होता है।

अतएव जिससे किसी प्रकारका भी दान औरोंको प्राप्त होता है, जो दाता हैं दूसरों को देकर ही बचे हुए पदार्थ स्वयं भोगने-वाले हैं वे भी देव कहलानेके अधिकारी हैं। इसके विपरीत असुर या राक्षस वे हैं जो येन-केन-प्रकारेण अपने पेट पालनेकी ही चिन्तामें लगे रहते हैं दूसरे चाहे उनके चलते जो भी दुःख भोग उनकी लेशमात्र भी परवाह उनको नहीं है। शिक्षा या उपदेश देकर जो दूसरोंके अज्ञान अन्धकार को दूर करते हैं. असत् मार्ग पर चलनेवालों को जो सीधे सच्चे रास्ते पर लाने का यत्न-उपदेशादि द्वारा करते हैं वे सभी धर्मात्मा, विद्वान् संन्यासी सत्योपदेष्टा महानुभाव भी निरुक्तकारकके मतानुसार देव हैं। इसी लिये शतपथ ब्राह्मणमें कहा गया है—

'विद्वाथंसो हि देवाः'

अर्थात् विद्वान लोग ही देव हैं। विद्वान्से उन्हीं विद्वानोंको ग्रहण करना चाहिये जो परोपकारी हैं और अपनी विद्वत्ताको दूसरोंके कल्याणके लिये लगाते हैं। स्वार्थी; उदरम्भरि विद्वान् होने पर भी देव नहीं कहे जा सकते। कारण; उनसे संसारको कोई लाभ नहीं होता।

प्रकाश देनेके कारण सूर्य; चन्द्र; नक्षत्र; अग्नि; विद्युत् आदि देव या देवता हैं। यजुर्वेद अध्याय १४ में आता है—

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवतादित्या देवता मरुतो देवता विस्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता॥

सूर्यादि प्रकाशमान ज्योतिष पुञ्जों का प्रकाशक सर्वव्यापक परमात्मा तो सर्वोपरि देव; देवोंका देव; महादेव है ही।

ऊपरके लिखे निरुक्त वाक्यके अनुसार जो चार अर्थ देव शब्दके हैं वे ही देवता शब्दके भी हैं। (देव और देवता दोनों पर्यायवाची शब्द हैं क्योंकि देव शब्दमें स्वार्थ तल प्रत्यय लगाने से देवता शब्द बनता है)। इन चार अर्थोंसे यह स्पष्ट है कि देव या देवता जड़ और चेतन दोनों ही प्रकारके होते हैं।

वेदमें स्थान-स्थान पर ३३ देवों का उल्लेख है। यथा—

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे।

तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः॥ अथर्व १०।७।२७

जिसके सहारे तैंतीस देवता अपनी सत्ता लाभ करते हैं उन तंतीस देवों को केवल ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं।

यस्य त्रयस्त्रिशद् देवा अंगे सर्वे समाहिताः।

स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ अथर्व १०।७।१३

जिसके शरीरमें तैंतीस देव मिलकर रहते हैं वही सब का आधारस्तम्भ है, हे मनुष्य, ऐसा तू कह वही आनन्दमय है।

शतपथ ब्राह्मणके, जो यजुर्वेदका ब्राह्मण (अर्थात् व्याख्यान ग्रन्थ) है, काण्ड १४, ब्राह्मण ५ में तैंतीस देवताओंके नाम गिनाये हैं। वहां पर बतलाया है तैंतीस देव हैं—

आठ वसु ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र और प्रजापति ३३

ये पांचों तत्त्व हैं। आदित्य (तेज) वसु (वायु) रुद्र (जल) प्रजापति (पृथ्वी) इन्द्र (आकाश) जैसे ये ब्रह्माण्डमें हैं वैसे ही पिण्डमें हैं। जैसा कि ऊपर लिखा है।

बारह आदित्य, ग्यारह रुद्र। अर्थात्—ब्रह्माण्ड (पृथ्वी) में बारह विश्वा गर्मी तथा ग्यारह विश्वा ढ (जल) रहने से ही सृष्टि का क्रम अबाध गतिसे चलता रहता है। बारह विश्वा से कम गर्मी होने से जल जम जायगा। जिससे सृष्टि क्रममें रुकावट हो जायगी। इसी कारण पृथ्वीमें बारह विश्वा गर्मी बराबर रहती है। बारह विश्वा गर्मी रहनेसे पृथ्वीके आठों दिशाओंमें जल निरन्तर वायु (वसु) द्वारा चलायमान रहता है। आकाश सब व्यापक है। अतः शरीर में ये तैंतीस देवता नियमानुसार बराबर क्रिया करते रहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, शरीरके प्राणवायु, जीवात्मा विद्युत्, पशु, इन्द्रिय, विद्वान्, दानी, उपदेशक, शिक्षक, प्रभु परमात्मा—ये सब देवता हैं। इन सबोंकी पूजा, देव पूजा है, जो यज्ञ शब्दका पहला अर्थ है।

पूजा कहते हैं अनुकूल आचरण को। हमारी पूजा उसी कर्मसे हो सकती है जो हमें अच्छा लगे। हमें अजीर्ण हो, हमें भोजनके नामसे ही वमन हो, उस समय नाना प्रकारके सुस्वादु पकवान हमारी तुष्टि या पूजाके साधन नहीं हो सकते। चन्दन लेपन, शीतल जलसे स्नान आदि शीतोपचार जेठके दोपहरको भीषण तापके समय तो हमारी तृप्तिके साधन अवश्य होते हैं परन्तु वे ही सब माघ मासकी मध्य रात्रिमें हमारे लिये असीम कष्ट देने-वाले होते हैं। उस समय तो हमारी पूजा आगकी अंगीठी जला-कर कम्बल आदि देकर की जा सकती है। उसी प्रकार गौ की पूजा चारा, घास आदिसे होगी, मालपुआ, मोहनभोग और लड्डूसे नहीं। इसलिये कहावत है—'जैसा देवता वैसी पूजा।' हम व्यक्तिविशेषकी पूजा इसलिये करते हैं कि वह हमपर प्रसन्न हो। व्यक्तिविशेषकी प्रसन्नताकी पहचान इसीमें है कि उससे हमारा कल्याण हो। हमारे साथ यदि कोई ऐसा आचरण करता है जिससे हमारी क्षति होती है तो हम कदापि ऐसा नहीं कह सकते कि वह हमपर प्रसन्न है। प्रसन्न, मनुष्य आदि चेतन प्राणी हो सकते हैं यह तो सभी जानते हैं जड़ पदार्थोंकी भी प्रसन्नता होती

है। संस्कृतमें कहाजाता है 'प्रसन्नं नभः' अर्थात् आकाश प्रसन्न है। प्रसन्न आकाश कहनेसे अभिप्राय यह होता है कि आकाश निर्मल है, मेघसे आच्छादित नहीं है, उससे वज्रपातका भय नहीं है, उसे देखकर नेत्रोंको प्रसन्नता होती है, इत्यादि।

ऊपर लिखे सारे देवताओंकी प्रसन्नता सम्पादनके लिये उनकी पूजा करना अर्थात् उनके साथ ऐसा उपचार करना कि जिससे हमारा कल्याण हो इसीका नाम यज्ञ है। अब हम अग्नि, वायु, पृथ्वी, आकाश, जल, सूर्य, चन्द्र आदिकी पूजा अपने शरीरके प्राणवायु, आत्मा आदिकी पूजा, पशुओंकी पूजा, सर्वोंकी पूजा, उनके अनुकूलता सम्पादन द्वारा ही कर सकते हैं। वायु, जल, आकाश और चन्द्रमा सूर्यादिको हम कोई नैवेद्य उन तक सीधे नहीं पहुंचा सकते। उन तक अपनी भेंट पहुंचानेके लिये हमें किसी एक योग्य दूतकी आवश्यकता है। वह दूत कौन है? वेद इस सम्बन्धमें कहते हैं—

अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुप ब्रुवे।
देवां आसादयादिह॥

वह दूत अग्नि है वही देवताओंका भाग (अर्थात् हव्य) उन तक पहुंचाता है। वही अग्निदूत हमारा पूजोपकरण देवों तक पहुंचायेगा।

देवोंको हमें खिलाना है। कोई भी हो मुँहसे ही तो खायगा। देवोंका मुँह है अग्नि। कहा है—'अग्निमुखा व देवाः' अर्थात् देव अग्निरूप मुखवाले हैं। अग्निमें आहुति डालिये देवोंका भाग

इसलिये सारे देवोंको पहुंच जायगा। सारे देवोंकी प्रसन्नता हो जायगी। मनु महाराजने कहा है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

अग्निमें डाली हुई आहुति सूर्यको प्राप्त होती है। सूर्यसे वृष्टि होती है। वृष्टिसे अन्न और अन्नसे मनुष्योंकी उत्पत्ति और पालन होता है।

अग्निदेव ही एक ऐसा तत्त्व है जो सत्त्वगुण विशिष्ट है। इसकी गति सदा ही ऊपरकी ओर होती है, जो सत्त्वगुणका प्रधान लक्षण है। अग्निकी शिखाको जितना ही नीचे गिराया जाय उतना ही वह ऊँची उठेगी। इसी हेतु अग्निके नाम हैं ऊर्ध्वज्वलन (ऊपर जलनेवाला) तनूनपात (अपने शरीरको नीचे न गिरानेवाला)। मध्यमें रहना राजसगुण है और नीचे गिरना तमोगुणका लक्षण है, जैसा भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं :—

ऊर्द्ध्व गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

तत्त्वोंमें वायु राजस तत्त्व है, यह मध्यमें रहता है। न ऊँचे और न नीचे। वैज्ञानिक कहते हैं कि वायु पृथ्वीतलसे प्रायः चालीस मीलकी दूरी तक है। उससे ऊपर नहीं। यही कारण है कि वायुयान आदिके द्वारा बहुत ऊँचाई तक नहीं जा सकते और पृथ्वीसे जितना ही ऊँचा उठा जाय उतनी ही वायु हल्की और

विरल होती जायगी और मनुष्यको सांसके लिये वायु नहीं मिल सकेगी।

पृथ्वी और जल तमोगुणी तत्त्व हैं। उनका स्वभाव नीचे गिरने का है। मिट्टीके ढेलेको बड़े वेगसे ऊपर फेंका जाय, जब तक फेंकनेवाले व्यक्तिकी शक्ति उसमें काम करती रहेगी, वह ऊपर जायगा। बाहरी शक्ति समाप्त होते ही वह नीचे गिर जायगा। जलको बाहरी शक्ति लगाकर नलके द्वारा ऊपर चढ़ाया जाता है फिर नीचे ही चला आता है। जलका बहाव सदा नीचेकी ओर ही होता है।

अग्नि स्वयं पवित्र है और दूसरोंको पवित्र करनेकी सत्त्वगुणी प्रकृति भी उसमें सबसे अधिक है। अग्निमें कुछ भी पड़े अग्नि सबको आत्मसात् कर अपने स्वरूपमें लेशमात्र भी विकार नहीं आने देता। स्वयं पवित्र ही बना रहता है। सारे अशुद्ध पदार्थ इसमें पड़कर अपनी अशुद्धि छोड़ देते, शुद्ध हो जाते हैं। इसी कारण सुवर्ण आदि धातुओंका मल दूर करने के लिये उन्हें अग्निकी कड़ी आंचमें तपाते हैं।

जिस प्रकार तत्त्वोंमें सत्त्वगुणयुक्त अग्नि ही देवोंको भाग पहुंचा सकता है उसी प्रकार सत्त्वगुणवाले मनुष्य ही, जिनका विचार बराबर उन्नति करने, ऊंचे उठने, गिरावटकी ओर न जानेका है, यथार्थ में वे ही सबका कल्याण कर सकते हैं और दूसरोंको ऊपर उठा सकते हैं, पतनसे बचा सकते हैं। अतएव हमें कदापि नीचे गिरानेवाले गुणकर्म एवं स्वभावको अपने अन्दर

आश्रय नहीं देना चाहिये, हमें अग्निके समान ही स्वतः पवित्र और अपवित्रोंको पवित्र करनेवाले पतितपावन होना चाहिये। आज जो हमलोग इतने गिर गये हैं अथवा पीढ़ी-दर-पीढ़ी गिरते जा रहे हैं उसका स्पष्ट कारण यही है कि हमलोगोंके अन्दर तमोगुण की मात्रा बहुत बढ़ रही है। तमोगुणी कर्मोंको छोड़कर सत्त्व-गुणवाले कर्म करने, पवित्र विचार, सत्य और हितकर वाणी, सत्य व्यवहार, शुद्ध आचरण, सात्त्विक भोजन आदिके अपनानेसे ही हमारा कल्याण होगा। इस अग्निदेवमें वह अनेक शक्ति है कि देवोंके भागों (यज्ञकी आहुतियों) को छिन्न-भिन्न करके, उनको सूक्ष्मसे सूक्ष्म रूपमें परिणत करके उन्हें देवों तक पहुंचा देवे।

कुछ लोग यह शंका करते हैं कि हवि (अन्न) आदि पदार्थोंको अग्निमें जलाकर नष्ट क्यों किया जावे। परन्तु वे यह नहीं जानते कि किसी भी वस्तुका अत्यन्त अभाव कभी नहीं होता। वस्तुके रूपान्तर हुआ करते हैं। ऐसा समय नहीं आ सकता जब कि वह बिलकुल ही न रहे। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

अर्थात्—जो नहीं है उस (असत्) का कभी होना (भाव) नहीं हो सकता। जो है उस (सत्) का नहीं होना या न रहना (अभाव) कभी नहीं हो सकता। तत्त्वदर्शी विद्वानोंने इस सिद्धान्तको भलीभांति समझा है।

किसी स्थानमें एक बोरेमें लाल मिरचा रख दीजिये। उसके निकट मनुष्य आसानी से रह सकता है। परन्तु आगकी अंगीठी में दो चार ही मिरचा डाल दीजिये तो पास ही क्यों सौ पचास गजकी दूरी पर भी खड़े मनुष्यको बेचैनी हो जायगी। स्पष्ट है कि मिरचाका विनाश नहीं हुआ बल्कि वह अधिक शक्तिशाली हो गया।

हवनके अन्नादि पदार्थोंकी भी यही बात है। यज्ञकुण्ड से दूर-दूर रहनेवालोंको भी यज्ञ की सुगन्धि लगती ही है। अन्न यदि पात्रमें रहता, अग्निमें नहीं डाला जाता तो पासमें बैठे लोग भी उसको ग्रहण नहीं कर सकते। अग्नि द्वारा वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म होकर संसारके प्राणिमात्रके लिये हितकर हो जाता है। यह नहीं समझना चाहिये कि जहाँ तक सुगन्ध जा रही है वहीं तक यज्ञादि में डाला हुआ हवि पहुंचा। वह तो उससे आगे भी पहुंच गया है, सारे वायुमण्डलमें व्याप्त हो गया है। यद्यपि दूर जाकर सूक्ष्म इतना हो गया है, उसकी स्थूलता इतनी घट गयी है कि वह अब नासिकाके द्वारा ग्रहण नहीं किया जासका।

जल; वायु, पृथ्वी आदि देवों की पूजा अग्निहोत्र के द्वारा करना हमारा प्रतिदिन का आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है। उससे ही हमारा जीवन है। उसके अप्रसन्न अथवा प्रतिकूल हो जानेसे हमारा जीवन सङ्कटमय हो जायगा। हमें शुद्ध वायु न मिले तो क्या हम एक मिनट भी जीवित रह सकते हैं? पृथ्वी माता और जल देवता, सूर्य चन्द्रमा आदि समस्त देवता-

ओंका कितना असीम उपकार हम पर है। उसकी कृपा और सहायता के बिना हम एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते। परन्तु हम अपने व्यवहार और रहन-सहन से, श्वास, प्रश्वास से मल मूत्रादिसे उन्हें कितना दूषित करते हैं। क्या हमारा कर्त्तव्य और परम आवश्यक कर्त्तव्य यह नहीं हो जाता कि हम जितनी गन्दगी फैलाते हैं उसका किसी अंश तक परिशोध यज्ञ, हवन आदि द्वारा सुगन्ध का विस्तार कर करें। भगवान् कृष्णने गीता के तीसरे अध्याय में इस हमारे कर्त्तव्य को कितने सुन्दर ढङ्गसे समझाया है। भगवान् कहते हैं—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

प्रजापति परमात्मा ने सृष्टि के आदि में जब प्रजा को उत्पन्न किया तो उसके साथ ही यज्ञ को भी उत्पन्न किया (अर्थात् मनुष्यमात्र के लिये यज्ञ का विधान किया) और कहा कि हे मनुष्यों, इसी यज्ञसे तुम बढ़ो, फलो फूलो, यह यज्ञ तुम्हारे लिये सारे अभिलषित सुखों को देनेवाला कामधेनु के समान होवे।

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

इस यज्ञ के द्वारा तुम (मनुष्य) देवों को प्रसन्न करो। यज्ञ द्वारा पूजित और प्रसन्न देवगण तुम्हें सब तरह से सुखी करेंगे। इस प्रकार एक दूसरे को प्रसन्न करते हुए सारे कल्याण प्राप्त करो।

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥

यज्ञ द्वारा पूजित देव तुम्हें सारे भोग्य पदार्थ तुम्हारे इच्छानुकूल देंगे। देवताओं से जब सारे जीवनोपयोगी पदार्थ मनुष्य पाते हैं तो बदले में यज्ञ द्वारा देवों को उनका भोग जो मनुष्य नहीं देता है अर्थात् जो यज्ञ अग्निहोत्रादि नहीं करता है वह चोर ही है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

जो यज्ञ करके बचा हुआ अन्न खाते हैं वे सारे पापों से छूट जाते हैं। जो केवल अपने खाने के लिये ही पकाते हैं, उसमें पञ्चमहायज्ञ आदि नहीं करते वे केवल पाप ही खाते हैं।

ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ११७ वां का छठा मन्त्र इस सत्य को यों कह रहा है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

जो धनवान् होते हुए श्रेष्ठ मनवाले परोपकारी मनुष्य एवं अपने मित्रकी भी सेवा सहायता नहीं करता वह (केवलादी) अर्थात् केवल स्वयं ही भोग करनेवाला (केवलाघः) अर्थात् केवल पाप रूप ही बनता है। मैं सच कहता हूं कि वह दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य अन्न को व्यर्थ प्राप्त करता है। उसका वह अन्न, अन्न नहीं है बल्कि उसका नाश है। (जो उदार हृदय,

दानी, परोपकारी नहीं हैं उनका धन उनके अनर्थ का ही कारण है उससे उनकी हानि ही होती है लाभ नहीं। अतएव यज्ञ, परोपकारादिमें धन व्यय करना चाहिये और स्वयं यज्ञशेष भोजन करना चाहिये)।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

अनादि कालसे जो यह चक्र चल रहा है कि मनुष्य कृषि कर्म करे, कर्म द्वारा यज्ञ सम्पादन हो, यज्ञसे वृष्टि हो, वृष्टिसे अन्न और अन्नसे मनुष्यादि प्राणियोंकी उत्पत्ति और पालन हो, इस क्रम या सिलसिलाको जो मनुष्य जारी नहीं रखता वह पापपूर्ण आयु बितानेवाला और इन्द्रिय लम्पट है। हे अर्जुन! उसका जीना बेकार है। वह पृथ्वीका भार स्वरूप है।

पिण्ड (मनुष्य शरीर) ब्रह्माण्डका नक्शा है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' यह एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है। पिण्ड ब्रह्माण्डका परस्पर सम्बन्ध बतलाते हुए अथर्ववेद ५।६।७ में कहा है—

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथ्वी शरीरम्।
अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं निदधेद्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय

अर्थात् सूर्य मेरा नेत्र है, वायु मेरा प्राण है, अन्तरिक्ष आत्मा (हृदय) है और पृथ्वी मेरा शरीर है। मैं अपने आपको अपराजित समझकर द्युलोक और पृथिवी के बीच में सुरक्षित रखता हूं।

यह प्रत्यक्ष भी है कि बिना सूर्य के हम देख नहीं सकते, बिना वायु के सांस नहीं ले सकते और बिना भूमि के खड़े नहीं हो सकते। इस प्रकार शरीर बिल्कुल ही ब्रह्माण्ड के अधीन है। आँख सूर्यके, प्राण वायुके और पैर पृथिवीके ऊपर अवलम्बित हैं। पर जब सूर्य चला जाता है, वायु का चलना बन्द हो जाता और पृथिवी ठण्ढी या गर्म हो जाती है तो पिण्ड और ब्रह्माण्ड में विषमता उत्पन्न हो जाती है। इस विषमता को दूर करने में हमें भौतिक यज्ञकी आवश्यकता होती है। हम दीपक जलाकर सूर्य का काम लेते, पंखा चलाकर वायु को अनुकूल करते, पृथिवी ठंडी या गर्म हो जानेसे जूते पहन कर या ऊँचे मञ्चपर खड़े होकर पृथिवी की सर्दी गर्मी को अनुकूल कर लेते हैं। यह अनुकूल ही यज्ञ का सङ्गतिकरण, पूजा और दान है। अर्थात् विषमता उपस्थित होने पर पृथिवीस्थ पदार्थोंको लेकर वैज्ञानिक सिद्धान्त से पिण्ड-ब्रह्माण्ड में सामञ्जस्य उत्पन्न कर देना यज्ञ का प्रधान कार्य है।

यदि पिण्ड और ब्रह्माण्डमें अनुकूलता न रहे यदि उनकी विषमता दूर न की जाय तो मानव जीवन खतरेमें पड़ जाय। यही कारण है कि ऋतु परिवर्तन आदिके समय ; यथा—चैत्र या आश्विन आदि मासोंमें भयङ्कर रूपसे नाना प्रकारके रोग फैल जानेकी आशङ्का रहती है, क्योंकि उस समय शरीरस्थ वायु, जलादिमें और ब्रह्माण्डके वायु, जलादिमें भीषण विषमता उत्पन्न हो जाती है। इसलिये यज्ञोंका काम रोग निवारण भी है। भैषज्य यज्ञकी तो बड़ी प्रधानता वैदिक साहित्यमें दी गयी है।

भैषज्य यज्ञ आयुर्वेदसे सम्बन्ध रखता है। इसमें देशकाल और पदार्थोंके गुणोंका ज्ञान होना आवश्यक होता है। शतपथ ब्राह्मणमें भैषज्य यज्ञके सम्बन्धमें लिखा है—

भैषज्य यज्ञा वा एते। ऋतुसन्धिषु व्याधिर्जायते तस्मादृतु-सन्धिषु प्रयुज्यन्ते।

अर्थात् ये भैषज्य यज्ञ ऋतुकी सन्धियों पर किये जाते हैं। कारण यह कि ऋतुओंकी सन्धियों पर रोग होते हैं। छान्दोग्य उपनिषत् ४।१७।१८ में लिखा है कि भैषज्य यज्ञोंमें आयुर्वेदके विद्वान् ही होता होवें। जिस प्रकार व्यक्तिगत स्वास्थ्य या अन्य प्रकारके कल्याणके लिये दैनिक अग्निहोत्रकी आवश्यकता है उसी प्रकार सार्वजनिक स्वास्थ्यके लिये सार्वजनिक उपचारकी आवश्यकता है। इसी लिये शास्त्रों में सार्वजनिक भैषज्य यज्ञ करने की भी आवश्यकता बतलाई गई है। सड़क, अस्पताल, रोशनी, सफाई आदि म्युनिसिपैलिटी के काम जैसे सार्वजनिक हैं उसी प्रकार प्राचीन काल में सार्वजनिक यज्ञ भी होते थे। शत-पथ ब्राह्मण में कहा है—यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै भवति' यज्ञ जनता या मनुष्यमात्र के कल्याण के लिये होता है। होली ऐसी ही सार्वजनिक भैषज्य यज्ञ है जो सम्वत्सर के अन्त में की जाती है। यह यज्ञ बड़े विस्तृत सार्वजनिक रूप से करने का विधान है क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थ में लिखा है—'मुखं वा एतत् सम्वत्सरस्य यत्फाल्गुणी पूर्णमासी।' अर्थात् फाल्गुन की पूर्णिमा सम्वत्सर (वर्ष) का मुख है।

अभी भी जब-जब कोई रोग आदि व्यापक भाव से फैलने की आशङ्का होती है तो कारपोरेशन या म्युनिसिपैलिटी आदि की ओर से नलके जलमें औषधियां डाली जाती हैं। सम्भव है, कोई नल का जल न पीवे तब वह तो उस औषधिक लाभ से वञ्चित रह जायगा। वायु के द्वारा भी रोग के कीटाणु मनुष्य के शरीरमें पहुंचते ही रहते हैं अतएव ऋषियों ने अद्भुत ज्ञान से यज्ञ का अविष्कार किया था कि वायु को ही उसके द्वारा शुद्ध, पवित्र और रोगरहित कर दिया जावे जिस वायु के बिना मनुष्य का काम एक क्षण के लिये भी नहीं चल सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दैनिक हवन से लेकर बड़े से बड़े अश्वमेध, राजसूय आदि यज्ञ (जो राजा महाराजा आदि के करने के हैं) करने की प्रेरणा शास्त्रोंने दी है।

यही यज्ञ की देव पूजा है। यज्ञों में बड़े-बड़े विद्वानोंका मान्य आदर सत्कार, बन्धुवर्ग और इष्टमित्रोंका समागम और सत्कार यह सङ्गतिकरण है जो यज्ञ शब्द का दूसरा अर्थ है। यज्ञ के द्वारा प्राणिमात्र का कल्याण दुर्बलों और दुःखों को अन्नादि दान यह यज्ञ शब्द के तीसरे अर्थ दान को सार्थक बनाता है।

इस समय में यह स्मरण रखने की बात है—जो दैनिक यज्ञ नित्यकर्म के रूप में गृहस्थ स्वयं करता है उसको छोड़कर ऋत्विजों या पुरोहितों विद्वानों के सहयोग से जो यज्ञ किये जाते हैं वे यज्ञ दक्षिणावाले ही होने चाहिये। क्योंकि बिना दक्षिणावाले यज्ञ को भगवान् ने गीता अध्याय १७ में तामस यज्ञ कहा है—

विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥

अर्थात् शास्त्रविधिके अनुकूल नहीं किया गया अन्न से रहित यज्ञ-साकल्य में अन्न न डाला गया हो (अथवा जिसमें अन्नदान भोजन प्रदान आदि न किया गया हो), वेद मन्त्रों द्वारा आहुतियां नहीं दी गयी हों, जो श्रद्धापूर्वक न किया हो एवं ऋत्विजों को दक्षिणा नहीं दी गयी हो, ऐसा यज्ञ तामस यज्ञ है।

रामचन्द्रजी को युवराज पद पर अभिषेक करनेकी इच्छा प्रकट करते हुए राजा दशरथने स्वयं अपने सम्बन्ध में कहा था—

राम वृद्धोऽस्मि दीर्घायुर्भुक्ता भोगा यथेप्सिताः।
अन्नवद्भिः क्रतुशतैर्यथेष्टं भूरिदक्षिणैः॥ अ० (वाल्मीकि) ४।१२

हे राम, मैं बूढ़ा हूं, बड़ी उम्र मैंने पायी है, मनमाने भोग मैंने भोगे हैं, बहुत अन्नवाले और प्रचुर दक्षिणावाले सैकड़ों यज्ञ मैंने किये हैं।

यथार्थमें षट्कर्म निरत ब्राह्मण, जिन्होंने मानव समाजके कल्याणार्थ अपना जीवन अर्पण कर दिया है, मनुष्यमात्रमें ज्ञान-विस्तार, सांसारिक एवं पारलौकिक उद्धार के लिये जो सतत प्रयत्नशील हैं उनको पेटकी चिन्तासे, परिवारपालनके भारसे मुक्त कर गृहस्थाश्रमी क्षत्रियों और वैश्योंका आवश्यक कर्त्तव्य है। क्योंकि परोपकारी विद्वान् जिस समाजमें जितने अधिक सुखी और निश्चिन्त रहेंगे उतना ही अधिक वह समाज सुख-शान्ति से भरपूर होगा।

—

दक्षिणा लेनेका अधिकारी कौन है इस सम्बन्धमें यजुर्वेद अध्याय १९ का ३० वां मन्त्र कहता है—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

मनुष्य व्रतसे अर्थात् विद्याभ्यास, ब्रह्मचर्य्य, पुरुषार्थ आदि सत्कर्म करनेके दृढ़ सङ्कल्प से दीक्षा को प्राप्त करता है अर्थात उसका आचरण उसके व्रत या शुभ सङ्कल्प के अनुकूल हो जाता है। उससे दक्षिणाकी प्राप्ति होती है। दक्षिणा प्राप्त करनेसे उसको सत्कर्म करनेके लिये श्रद्धा हो जाती है और श्रद्धा द्वारा मनुष्य सत्यको प्राप्त कर लेता है।

इस वेदमन्त्रमें हम देखते हैं कि मनुष्य दक्षिणा पाकर श्रद्धाको प्राप्त करता है अर्थात् जब सत्कर्म करने लग गया और उसके सत्कर्मोंके लिये उसे पुरस्कार और प्रोत्साहन (दक्षिणा) मिला तो सत्कर्मोंके लिये उसके हृदयमें दृढ़ आस्था (श्रद्धा) हो गयी, और उसने श्रद्धासे सत्कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए सत्यको पा लिया। यह भी इस मन्त्रसे स्पष्ट होता है कि जिन्होंने व्रत लिया है—अपनी आत्मिक उन्नतिके लिये दृढ़ सङ्कल्प किया है और उस सङ्कल्प पर चलते हुये शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करने लग गये हैं वे ही दक्षिणा पानेके अधिकारी हैं। वेद भगवान्की यह पावन शिक्षा विशेष मनन करने योग्य है।

अबतक द्रव्यमय यज्ञका वर्णन किया गया है। वास्तवमें किसी प्रकारके भी कर्म, जो स्वार्थ भावनासे रहित होकर, अपनेको कर्त्ता

न मानकर (अहङ्कारसे शून्य होकर) किये जाते हैं, सब ही यज्ञ हैं। गीता अध्याय ४ श्लोक २३ में कहा है—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

कर्मसङ्गरहित, इच्छा द्वेष शून्य, ज्ञाननिष्ठ पुरुषके शरीर-यात्रार्थ किये हुए यज्ञ रूप कर्म समस्त विलीन हो जाते हैं अर्थात् ऐसे कर्मोंका फल कर्त्ताको जन्म-मरण रूप चक्रमें नहीं फँसाते हैं।

श्लोक २६ में कहा है—

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥

कोई संयमरूप अग्निमें श्रोत्रादि इन्द्रियों का यज्ञ करते हैं कोई इन्द्रिय रूप अग्निमें विषयोंका हवन करते हैं।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥२७॥

कोई आत्मसंयम रूप अग्निमें उसे ज्ञानसे प्रज्वलित करके सब इन्द्रियों और प्राणोंके व्यापारोंको हवन करते हैं।

ऊपर के दो श्लोकों का यही भाव है कि मनुष्य सारे इन्द्रियों के कार्य करता हुआ भी योगी है और यज्ञ कर रहा है यदि वह विषयोंमें आसक्त नहीं है और इन्द्रियों का दास नहीं बल्कि इन्द्रियों को अपना दास बनाकर प्रभुकी आज्ञा पालन करनेके लिये इन्द्रियोंका उपयोग करता है।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८

प्रसंशित व्रतवाले कोई द्रव्य यज्ञ, कोई तपरूपी यज्ञ, कोई योग यज्ञ, कोई स्वाध्याय यज्ञ और कोई ज्ञान यज्ञका अनुष्ठान करते हैं।

श्लोक २९ वें में प्राण और अपानकी गतिको रोककर रेचक, पूरक और कुम्भक रूप प्राणायाम करनेवाले को यज्ञका अनुष्ठान करनेवाला बतलाया गया है। श्लोक ३० में मिताहारी होकर प्राणोंमें हवन करना कहा गया है और यह बतलाया गया है कि 'सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः'। ऊपर लिखे ये सारे के सारे ही यज्ञके रहस्यको जाननेवाले एवं याज्ञिक हैं और उनके उन सारे द्रव्ययज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ एवं ज्ञानयज्ञके अनुष्ठानसे सारे पाप नष्ट हो जाते हैं।

श्लोक ३२ में कहा है—

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्म जान् विद्धितान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥

प्रजापतिने ऐसे और बहुतसे यज्ञों का विधान किया है परन्तु कोई भी यज्ञ बिना कर्मके नहीं हो सकता। अतएव ईश्वरका रूप कर्म करते रहना और ईश्वरमें भक्ति और आस्था रखकर हरि का नाम भजते रहना ही मनुष्य का परम उद्देश्य होना चाहिये

नामस्मरण

नामस्मरणसे भक्त समुदाय ईश्वरका नाम स्मरण ही समझता है और इस नामस्मरणकी अनादिकालसे बड़ी महिमा गायी गयी है। यजुर्वेदके ३२ वें अध्याय का तीसरा मन्त्र बड़ा ही प्रसिद्ध और वह यह है—

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।
हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिंसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः॥

उस महिमामहान् सच्चिदानन्द परमात्मा की कोई प्रतिमा नहीं है (उसका सादृश्य उपमान या नापना कुछ भी नहीं है)। उसका नाम बड़ा यशवाला है। उसकी महिमा का वर्णन 'हिरण्यगर्भ' आदि मंत्रों द्वारा, 'मामा हिंसीत्' इस मंत्रसे और 'यस्मान्नजातः' इत्यादि मंत्रोंसे वेदोंमें किया गया है।

ऊपरके मंत्रमें तीन मंत्रोंके जो प्रतीक दिये गये हैं वे एक के बाद एक अर्थ सहित नीचे लिखे जाते हैं—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

ऋ० १०।१२१।१

जिसके गर्भमें अनेक तेजस्वी हैं अर्थात् जो सुवर्ण आदि धातुओं एवं सूर्य चन्द्रादि ज्योतिष्मान् लोकोंका उत्पन्न करने वाला है वह सृष्टिके पूर्व भी वर्तमान था। वह सब बने हुये संसार का एक ही स्वामी प्रसिद्ध है। उसने पृथिवी को धारण किया है

और इस द्युलोकको भी धारण किया है। उस आनन्दस्वरूप एक देवकी ही हम सब उपासना करें।

मा मा हिंसीज्जनिता यः पृथिव्याः यो वा दिवꣳसत्यधर्मा व्यानट्।
यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

यजु० १२।१०२

हे प्रभो, आपने इस पृथिवी और द्युलोकको बनाया है। आपने ही जल और चन्द्रमाको उत्पन्न किया है। आप हमारी सब प्रकारसे रक्षा करें और सारे दुःख और नाना प्रकार की पीड़ाओंसे हमें बचावें। हम सब आपकी ही उपासना और प्रार्थना करें, आपको अपना एकमात्र शरण और अवलम्ब मान कर आपकी पूजा और आराधना करें।

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वहा।
प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणिज्योतीꣳषिसचते स षोडशी ॥

यजु० ८।३६

जिस प्रभु से बढ़कर कोई दूसरा नहीं है, जो विश्वस्रष्टा इन सारे लोकलोकान्तरों में प्रविष्ट और व्यापक है, वह परमपिता परमात्मा अपनी प्रजा के साथ रमण करता हुआ अर्थात् सारे प्राणियों का पालन करता हुआ उनका सुखसम्पादन कर रहा है। वही प्रभु सूर्य चन्द्र एवं अग्निरूप तीन ज्योतियों एवं सोलह कलाओंवाले विश्व ब्रह्माण्डका धर्त्ता-कर्त्ता और विधाता है।

ये मन्त्र बतला रहे हैं कि उस प्रभु की महिमा का पारावार नहीं है। उसके समान 'न भूतो न भविष्यति' न तो कोई हुआ

और न होगा। उस प्रभु के नाम के महात्म्यको शब्दों से पूरा पूरा वणन कर सकना गागर में सागर भरने के समान असम्भव कार्य है। इसी कारण तो महिमा के सम्बन्ध में कहते-कहते ऋषि मुनि नेति-नेति कहकर मूक हो जाते हैं।

प्रभु के नाम असंख्य हैं। क्योंकि प्रभु का कोई नाम निरर्थक नहीं है साधारण मनुष्यों के नाम तो निरर्थक हो भी सकते हैं परन्तु परमेश्वरके सारे नाम उसके गुण-कर्म स्वभावके अनुसार ही दिये गये हैं। चूंकि परमात्माके गुण, कर्म और स्वभावके अनुसार ही दिये गये हैं। चूंकि परमात्मा के गुण, कर्म और स्वभाव का अन्त नहीं वैसे ही उसके नाम भी अनन्त हैं। सर्वव्यापक होने के कारण उसका नाम विष्णु, सब से बड़ा होने के कारण उसका नाम ब्रह्मा, सृष्टि की रचना द्वारा उसका विस्तार करने के कारण उसका नाम ब्रह्म, प्रलय और मृत्युके द्वारा किंवा दुष्टोंको दंडादि देने के कारण रुलानेवाला होने से उसका नाम रुद्र, कल्याण करनेवाला होने से उसका नाम शिव वा शङ्कर, स्वयं कल्याण स्वरूप होने से उसका नाम शम्भु आदि हैं। वह स्वयं प्रकाश स्वरूप एवं दूसरों का प्रकाशक परम पूजनीय एवं अग्रणी होने से अग्नि नामवाला है। वह प्रजा को पालन करनेवाला है अतएव उसको प्रजापति कहा गया है। योगीजन उसमें रमण करते हैं, इसलिये उसका नाम 'राम' है। देवों का भी देव होनेसे वह महादेव कहलाता है। इसी प्रकार और नामों के भी अथ हैं।

ऋग्वेद १।१६४ में कहा है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

अर्थ—विप्र (वेदवित् विद्वान लोग) एक ही सत् (सत्ता) को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण, यम, मातरिश्वा आदि नामों से पुकारते हैं।

यही बात यजुर्वेद अध्याय ३२ के प्रथम मन्त्र में कही गयी है वह मन्त्र है।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तद् चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥

वही प्रभु अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः और प्रजापति नामोंसे सम्बोधित किया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदादि शास्त्रोंमें परमात्माके अनेक नाम कहे गये हैं। परन्तु वे सब नाम अन्य मनुष्यों वा पदार्थोंके भी हो सकते हैं। अतएव परमात्मा का निज नाम ओ३म् योगदर्शन एवं उपनिषद्में कहा गया है। योगदर्शन कहता है—

तस्य वाचकः प्रणवः।

प्रणव अर्थात् ओ३म् उस प्रभुका नाम है।

योगदर्शन आगे चलकर कहता है 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' उस ओ३म् नामका जप उसके अर्थ चिन्तनपूर्वक करना ही यथार्थ में नाम जप है।

ओ३म् अक्षर, जो परमात्माका सबसे श्रेष्ठ नाम है और उसी का जप आदि करना चाहिये, इसके सम्बन्ध में छान्दोग्य उपनिषद् प्रथम अध्याय का प्रथम वाक्य और उसपर स्वामी शङ्कराचार्यका भाष्य विशेष ध्यान देने योग्य है। उपनिषद् कहती है—

ओ३मित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत।

इसपर शाङ्करभाष्य निम्नलिखित है—

ओ३ममित्येतदक्षरं परमात्मनोऽभिधानं नेदिष्ठं तस्मिन् हि प्रयुज्यमाने स प्रसीदति। प्रियनामग्रहण इव लोकः। एवं नामत्वेन प्रतीकत्वेन च परमात्मोपासनसाधनं श्रेष्ठमिति सर्ववेदान्तेष्ववगतम्। जपकर्मस्वाध्यायाद्यन्तेषु च बहुशः प्रयोगात्प्रसिद्धमस्य श्रैष्ठ्यम्। अतस्तदेतदक्षरं वर्णात्मकमुद्गीथं भक्त्यवयवत्वादुद्गीथशब्दवाच्यमुपासीत।

अर्थात् ओ३म् अक्षर परमात्माका निकटतम (नेदिष्ट) नाम है। (नेदिष्ट या निकटतम इसलिये कहा गया है कि प्रभु की अनन्त महत्ता या इयत्ता वाणी द्वारा निःशेष रूप से बतायी तो जा नहीं सकती उसके स्वरूप या सामर्थ्य का दिग्दर्शनमात्र ही कराया जा सकता है)। इस ओ३म् नाम के लेने से प्रभु वैसे ही प्रसन्न होते हैं जैसे मनुष्य उसके प्रिय नाम लेने से प्रसन्न होता है। (इसका भाव यह है कि ओ३म् नाम स्मरण से ही मनुष्य का सबसे बड़ा कल्याण होता है। वास्तव में जैसा अन्यत्र कहा जा चुका है प्रभु की अपनी प्रसन्नता अप्रसन्नता का तो कोई प्रश्न ही

नहीं उठता क्योंकि वह कोई साधारण मनुष्यों जैसा तो है नहीं)
इसी ओ३म् नाम या प्रतीकसे परमात्मा की उपासना करना सबसे
श्रेष्ठ है यह वेदान्त अर्थात् वेदके अन्तिम लक्ष्य ब्रह्मप्राप्ति परक
मन्त्रभागों किंवा अन्यान्य सारे ब्रह्मविद्याविधायक ग्रन्थोंका
निश्चित मत है। जप, कर्मकांड (यज्ञादि) एवं ग्रन्थों के अध्यायों के
आदि एवं अन्त में ओ३म् नाम का ही प्रयोग सर्वत्र देखे जानेसे
इसकी श्रेष्ठता सिद्ध होती है। भक्ति का सबसे बड़ा साधन होनेके
कारण भक्त इस नाम का गान करते हैं इसलिये इस ओ३म् अक्षर
का दूसरा नाम उद्गीथ है। इसी ओ३म् अर्थात् उद्गीथ की
उपासना करनी चाहिये।

यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय जो उपनिषदोंमें सबसे अधिक
प्राचीन ईशोपनिषद् के नाम से भी प्रसिद्ध है उसका सत्रहवां मंत्र
कहता है—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरम्।
ओ३म् क्रतोस्मर क्लिबे स्मरकृतꣳ स्मर॥

मृत्युके उपरान्त शरीर पिण्ड में स्थित प्राणवायु ब्रह्मांडस्थ
वायुमें मिल जायगी। इस रूपमें यह सदा नहीं रहनेवाला है, परन्तु
जीवात्मा अमृत है, अमर है, जरामरण से रहित है। अतएव
मनुष्य को जो कर्मशील है, ओ३म्का स्मरण और जप करना
चाहिये। अपने किये हुए कर्मों को स्मरण करना चाहिये अर्थात्
उनपर विचारात्मक दृष्टि डालनी चाहिये, भौतिक शरीर चिन्ताकी

अग्निमें जलकर भस्म हो जायगा। जैसा कि मनु आदि स्मृतिकारों ने कहा है।

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किन्नु मे पशुभिस्तुल्यं किन्नु सत्पुरुषैरुत॥

अर्थात् मनुष्य को यह प्रतिदिन देखते रहना चाहिये कि हमारे कर्म कैसे हो रहे हैं, कौन से हमारे कर्म विवेक हीन पशुओं के जैसे और कौन से कर्म मननशील मनुष्यों के जैसे हुए वा हो रहे हैं। (इस प्रकार के आत्मनिरीक्षण से हमें अपने किये हुए अशुभकर्मों के लिये ग्लानि होकर हमारे आगे होनेवाले कर्म शुभ होंगे)। इस ओ३म्के जपसे और अपने कृत कर्मों के पर्यवेक्षणसे मनुष्यको बलकी प्राप्ति होगी कठिनसे कठिन कार्य उसके लिये सुकर होंगे और सब प्रकारसे उद्धार होगा। इस मन्त्रमें मनुष्य को कर्मशील (क्रतु) इस कारणसे कहा गया है कि चौराशी लाख योनियोंमेंसे केवलमात्र मनुष्य योनि ही कर्मयोनि है अर्थात् मनुष्यको ही कर्म करनेकी स्वतन्त्रता प्रभुकी ओरसे प्राप्त है। और बाकी योनियां भोगके लिये हैं। उन योनियोंमें—पशु, कीट, पतङ्ग, वृक्षादि की योनियोंमें—उत्पन्न जीवोंको कर्म करनेकी स्वतंत्रता नहीं है, वे योनियां केवल फल भोगनेके लिये ही मिली हुई हैं। इस मंत्रमें ओ३म् जपका ही विधान है।

जैसा ऊपर कहा गया है जप अर्थ पर मनन करते हुये ही होना चाहिये और पूरी तन्मयता से। उस समय अन्य विषयों पर मनको नहीं जाने देना चाहिये। ओ३म्के अर्थों का कोई

अन्त नहीं है। माण्डूक्य उपनिषद् एवं छान्दोग्य उपनिषद्में इसका विस्तारसे वर्णन है। संक्षेपमें इसके अवयव अ, उ, और म् ये तीन अक्षर यह बोध करा रहे हैं कि प्रभु अ अक्षरके जैसा जगत् का आदि कारण है, वह स्वर अर्थात् स्वयं प्रकाशस्वरूप एवं अन्योंको प्रकाशित करनेवाला है, सारे व्यञ्जन वर्णों में जिस प्रकार 'अ' अक्षर विद्यमान है परन्तु उसे केवल विद्वान् ही देख सकते हैं उसी प्रकार प्रभु चराचर जगत्में व्यापक होते हुए भी उसकी दिव्य ज्योतिका दर्शन, उसकी सत्ताका भान विद्वान योगि-जनों को ही होता है। 'उ' अक्षर से प्रभुके जगत् पालन स्वरूपका बोध होता है। ओ३म् अक्षरके 'म्' के उच्चारणके साथ ही मुखका कपाट बंद हो जाता है। इससे यह प्रकट होता है कि प्रभु इस सृष्टिकी उत्पत्ति और धारणके साथ ही इसका प्रलय करनेवाला भी है। प्रभु परमात्मा का प्रलयकर्त्ता होना भी उसकी दयालुता का ही द्योतक है क्योंकि मृत्यु के नियम में भी भक्त एवं योगिजन प्रभुकी महिमा और कृपा ही देखते हैं।

सबसे सरल अर्थ 'ओ३म्' का 'रक्षक' है। क्योंकि व्युत्पत्ति 'अव रक्षणे' धातुसे भी होती है।

साधक जप करते हुए प्रभुकी अपार महिमा का चिन्तन और मनमें यह दृढ़ धारण रखे कि प्रभु हमारा रक्षक है, तो वह सारे दुखोंसे छूट जायगा।

भक्तोंने 'राम' जपकी भी बड़ी महिमा गायी है। भक्त

वर गोस्वामी तुलसीदासजीने रामनामकी महिमाकी पराकाष्ठा दिखला दी जब उन्होंने रामायणमें कह दिया—

'राम न सकहिं नाम गुण गाई'

सचमें जब प्रभुकी महिमाका अन्त ही नहीं है तो प्रभु स्वयं भी उसका अन्त कैसे जान सकते हैं। परमात्माका ज्ञान सत्य है। तो सांत का सांत और अनन्त को अनन्त जानना ही तो सत्य ज्ञान है।

'शिव' नामका जप भी कुछ भक्त करते हैं। प्रभुके अन्य नामोंका भी जप अपनी रुचिके अनुकूल किया जा सकता है। क्योंकि 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' मनुष्योंकी रुचि भिन्न-भिन्न हुआ करती है। परन्तु शुद्ध हृदयसे जप्य नामके अर्थों पर विचार करते हुए प्रभुको सब स्थानोंमें वर्तमान, सबके कर्मोंको देखनेवाला सबकी रक्षा करनेवाला समझकर और अपनेको सारे दोषोंसे पृथक् रखकर प्रभुकी आज्ञापर चलनेका दृढ़ संकल्प मन में करते हुए श्रद्धा एवं भक्ति के साथ नामस्मरण या जप करने से ही प्रभुकी कृपा प्राप्त होती है। कबीरदासजीने बड़ा ही सुन्दर कहा है—

'बिनु पहिचाने बिनु गहि पकड़े राम कहे का होई।'

जप जोरसे बोलकर, बिना शब्द किये केवल ओष्ठ-जिह्वा आदि वर्णोंके उच्चारण स्थानोंका प्रयोग कर तथा बिल्कुल मन ही मन, जिसमें ओष्ठ आदि भी न हिलें, तीन प्रकार से किये जा

सकते हैं। परन्तु इन तीनों मेंसे अन्तिम प्रकारका जप ही शास्त्रों में श्रेष्ठ माना गया है। इस प्रकारके जपमें मनकी एकाग्रता एवं निर्विषयता की अत्यन्त आवश्यकता है। प्रारम्भमें पहले या दूसरे प्रकारका भी जप किया जा सकता है।

जप करनेमें माला की अनिवार्य आवश्यकता तो नहीं है क्योंकि प्रभुके साथ कोई मोलतोल तो करना है नहीं। परन्तु नियम-निष्ठाके पालन में माला बड़ी सहायक हो सकती है। हम यदि निश्चय करलें कि एक सौ आठ वार या एक हजार बार जप किये विना भोजन नहीं करेंगे तो हम आवश्यकरूप से जप करने लगेंगे और एक नियम बन्ध जायगा। उस अवस्था में गिनती करनेके लिये माला की आवश्यकता हो सकती है। परन्तु माला इत्यादि के पीछे बहुत चिंतित होना और उसको बहुत अधिक महत्व देना आवश्यक नहीं, किसी भी माले पर गिनती कर सकते हैं, अंगुलियों पर भी गिनती हो सकती है।

नियमित रूप से स्नान सन्ध्या आदि के बाद निश्चित संख्यामें जप तो मालाओं पर कर सकते हैं परन्तु जब कभी भी अवकाश मिले, कोई काम न रहे, जैसे गाड़ी, सवारी में बैठे हुए, राह चलते हुए, अथवा रातमें बिछावन पर पड़े-पड़े (नीन्द न आने तक) नामस्मरण (जप) करते रहना चाहिये। वैसे समयों में नाम जप रूप पवित्र कार्य में मन को लगाने से मनमें अन्य अपवित्र विचार नहीं उठ सकते।

भजन-कीर्त्तन

प्रभुके गुणगानके पद उच्च स्वरसे अकेले गाने अथवा पाठ करनेसे भी बड़ा लाभ होता है। इसी प्रकारके पदोंको जब कई व्यक्ति जोर-जोरसे बार-बार साथ मिलकर बोलते हैं तो उसी को हरिकीर्त्तन या संकीर्त्तन कहा जाता है। यह भी बड़ा उपयोगी और लाभप्रद है। इससे व्यक्तिगत कल्याण के साथ ही साथ दूसरों का भी कल्याण होता है। बोलनेवालों का मन और वाणी तो पवित्र होती ही है सुननेवाले भी, पवित्र वाणी के श्रवण करनेसे पवित्र हो जाते हैं, पवित्रता का वातावरण तैयार हो जाता है यह तो प्रतिदिन का अनुभव है कि अच्छे वक्ता जब कोई करुण कहानी सुनाने लगते हैं तो कभी-कभी उनके नेत्रों में भी आंसू आ जाते हैं। वही जब वीर रस की बातें करते तो वीरतासे उनकी भुजाएं फड़क उठतीं, एक विचित्र जोश उमड़ आता है। जो बातें वक्ता को स्वयं होती है वे ही उनके श्रोताओं को भी हो जाती हैं। चतुर सेनापति अपने जोशीले भाषणों से सेना में जोश उभाड़ कर उसे युद्ध आदि के लिये सन्नद्ध कर देते हैं। प्रभावशाली वक्ता मार्मिक व्याख्यानों से निष्ठुर श्रोताओं में भी किसी के प्रति दया का स्रोत बहा सकते हैं, पत्थर को मोम बना सकते हैं। भद्दे फिल्मी गाने आदि सुनने का यही तो प्रभाव है कि आज ब्रह्मचर्यकी रक्षा इतनी कठिन हो रही है। ऐसी अवस्था में भक्ति, सद्गुण, सच्चरित्रता के गान अथवा पदपाठ

वक्ता और श्रोता दोनों का कितना अमित कल्याण करेंगे इसमें सन्देह का लेशमात्र भी अवकाश नहीं है। इसी कारण भजन-कीर्त्तन का इतना महत्व है। हां, भजन कीर्त्तन के लिये सुन्दर सात्त्विक भावों से युक्त पद्य ही चुने जाने चाहिये। प्रतिदिन कुछ समय तक चुने हुए वेद मन्त्रों, उपनिषदों के ब्रह्मस्तोत्रों अथवा गीता आदि धर्म ग्रन्थों अथवा मातृभाषाके भजन, स्तुति आदि का उच्च स्वर से पाठ करना हृदय को उच्च भावों से भर देता है। इससे कण्ठस्वर स्पष्ट होता, शब्दोंके शुद्ध उच्चारण करनेकी शक्ति आती और हृदय एवं शरीरमें बलका सञ्चार होता है। निर्जन स्थानोंमें, जहां भय प्राप्त हो सकता है वहां पर जोर-जोरसे स्तुति पाठ आदि करनेसे निर्भयता प्राप्त होती है यह तो बहुत लोगोंका अनुभव है।

भक्तकी प्रार्थना

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥

अथर्व० १०।८।४४

हे प्रभो, आप कामनाओंसे रहित, धीर, बुद्धिके प्रेरक एवं अमर हैं, स्वयम्भू अर्थात् अपनी सत्तामें आप ही वर्तमान हैं किसीसे उत्पन्न होकर अपनी सत्ता लाभ नहीं करते, आप आनन्दसे तृप्त हैं तथा किसीसे भी न्यून नहीं हैं। उस धीर-

जरा रहित, युवा आत्मा आप प्रभुको जानने वाला ही मृत्यु से नहीं डरता।

भद्राहं नो मध्यन्दिने भद्राहं सायमस्तु नः।
भद्राहं नो अह्नां प्राता रात्री भद्राहमस्तु नः॥

अथर्व० ६।१२८।२

हमारे मध्याह्नकालमें सुखद दिन हो, हमारे लिये सूर्यके अस्तकालमें भी पवित्र दिन हो, दिनोंके प्रातःकाल में भी हमारे लिये पवित्र दिन हो तथा सब रात्रि हमारे लिये शुभ समयवाली हो। हम सब कालमें सुखी हों और आपको सदा स्मरण करते तथा आपकी वैदिक आज्ञाका पालन करते हुए पवित्रात्मा बनें, कभी आपको भूलकर आपकी आज्ञा से विरुद्ध चलनेवाले न बनें और अपने समय को व्यर्थ न खोवे। ऐसी प्रार्थना को आप स्वीकार करें।

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्वन्तय ओषधीर्वीरुध आ विवेश।
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये॥

अथर्व० ७।८७।१

जो दुष्टोंको रुदन करानेवाला न्यायकारी भगवान् अग्निमें, जलमें, अनेक प्रकारसे उत्पन्न होनेवाली औषधियोंमें प्रविष्ट हो रहा है, जो प्रभु इन दृश्यमान सर्व भूतोंके उत्पन्न करनेमें समर्थ है, उस सब जगत् में प्रविष्ट ज्ञानस्वरूप रुद्रको हमारा बार-बार नमस्कार है।

यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति।
तदेव मन्येहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किंचन ॥
अथर्व० १०।८।१६

जिस परमात्माकी प्रेरणासे सूर्य उदय होता है, जिसमें अस्त होता है उसको ही मैं सबसे बड़ा मानता हूं, उससे कोई भी ऊपर नहीं है।

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीयति ॥
अथर्व० १०।८।३२

ईश्वर पास रहनेवाले उपासक को नहीं छोड़ता, पास रहनेवाले भगवान् को जीव नहीं देखता। परमात्मा के वेदरूप काव्य को देखो, जो न मरता और न बूढ़ा होता है। (ज्ञानी-लोगों को चाहिये कि वे परमात्मा की उपासना करें और उसके अनादिनिधन काव्य वेद को, जो सनातन और सार्वभौम सत्यका प्रतिपादन करता है, सदा विचार करें। जिससे लोक परलोक सुधर सकें)।

यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा तावदापः सिष्यदुः।
यावदग्निः ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांतस्मै
ते काम नम इत् कृणोमि ॥ अथर्व० ९।२।२०

जितने कुछ सूर्य और भूलोक अपने फैलावसे फले हुए हैं, जहाँ तक जल धाराएं बहती हैं और जितना कुछ अग्नि वा विद्युत है उससे आप अधिक बड़े, सब प्रकार से महान् पूजनीय हैं,

उन आपको ही हे कामना करने योग्य परमेश्वर, मैं नमस्कार करता हूं।

ज्यायाने निमिषतोऽसि तिष्ठतो
ज्यायान्समुद्रादसि काम मन्यो।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महाँ
तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि॥

हे कामनायोग्य पूजनीय प्रभो, पलके मारनेवाले मनुष्य, पशु पक्षी आदि से और स्थावर वृक्ष पर्वत आदिसे, आकाश और समुद्र से आप अधिक बड़े हैं। सब प्रकार से आप अधिक पूजनीय हैं, उन आपको ही मैं नमस्कार करता हूं।

न वै वातश्चन काममाप्नोति नाग्निः सूर्यो नोत चन्द्रमाः।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महाँस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि॥
अथर्व० ६।२।२३

नतो कोई वायु उस कामना योग्य परमेश्वर को प्राप्त होता है, न अग्नि, न सूर्य एवं न चन्द्रमा प्राप्त हो सकता है। उन सबसे आप बड़े और पूजनीय हैं। उन आपको ही मैं बार-बार प्रणाम करता हूं।

नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः॥ अथर्व० ११।२।१६

सायंकाल में उस प्रभु को नमस्कार है, प्रातःकाल नमस्कार है, दिन और रात में नमस्कार है, सुख देनेवाले और दुःख के नाश करनेवाले उस प्रभु को बार-बार नमस्कार है।

प्रभु कहते हैं—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥
अथर्व० ४।३०।१

मैं ज्ञानदाता दुःखनाशक एवं निवास देनेवाले पुरुषों के साथ रहताहूं। मैं आदित्य ब्रह्मचारियों, प्राण और उदान वायु के समान सबके हितकारियों, पवन और अग्नि के समान तेजस्वियों, तथा अध्यापकों एवं उपदेशकोंका पालन करता हूं।

मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणति यईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुतश्रद्धेयं ते वदामि ॥
अथर्व० ४।३०

मेरे द्वारा वह अन्न खाता है (अर्थात् सारे भोग्य पदार्थों को प्राप्त करता) जो भले प्रकार देखता है (सोच-विचार कर अच्छे-बुरेका विवेक करके कार्य करता है), जिसमें प्राण हैं (बल, और साहस है) जो कहा हुआ सुनता है (वेदादि शास्त्रोंका श्रवण करता एवं विद्वानों, ज्ञानियों और अनुभवी वृद्धोंके उपदेश सुनता है और तदनुकूल कार्य करता है)। मुझे किंवा मेरी आज्ञा नहीं माननेवाले मनुष्य दीनहीन होकर नष्ट हो जाते हैं। हे सुननेमें समर्थ जीव, तू सुन, तुझसे मैं श्रद्धाके योग्य वचन कहता हूं।

अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा ऊ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥

अथर्व० ४।३०।५

मैं ज्ञानदाता व दुःखके नाशक मनुष्यके हितके लिये और ब्रह्मज्ञानी, वेदपाठी विद्वानोंके द्वेषी हिंसकके मारनेके लिये ही धनुष तानता हूं (अर्थात् सत्पुरुषोंकी रक्षा और दुष्ट-दुरात्माओंका नाश करता हूं)। मैं भक्तजनके लिये पृथिवीको आनन्दसे पूर्ण करता हूं। मैं सूर्य्य और पृथिवी लोकमें सब ओरसे प्रविष्ट हूं।

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि संजयामि शाश्वतः।
मां हवन्ते पितरो न जन्तवो अहं दाशुषे विभजामि भोजनम् ॥

मैं ही सारे धनरत्नोंका स्वामी हूं। मेरा ही उनपर सदासे पूरा अधिकार है। जीवगण मुझे पिता कहकर पुकारते और मुझसे सहायताकी याचना करते हैं। परन्तु मैं भोग्य पदार्थ उन्हींको देता हूं जो दूसरोंको देते हैं (जो दानी और परोपकारी हैं।

ऊपरके चार मन्त्रोंमें प्रभु कहते हैं कि मैं प्रार्थना उन्हीं मनुष्योंकी सुनता हूं जो इन मन्त्रोंमें लिखे ईश्वराज्ञाके अनुकूल अपने गुणकर्म स्वभावको बनाते हैं। निठल्ले बैठे शेखचिल्ली लोगोंकी प्रार्थना प्रभु नहीं सुनते।

द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने।

यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः ॥

अथर्व० २।२८।४

परमेश्वर मनुष्यको आशीर्वाद देते हैं कि हे मनुष्य, जैसे पुरुष अपनी मातासे उत्पन्न होकर उस माताकी गोदमें स्थित रहता है और अपने पितासे पालन-पोषणको प्राप्त करता है, वैसे ही पृथिवी रूपी मातासे उत्पन्न होकर उस पृथिवीकी गोदमें रहता हुआ तू मनुष्य द्युलोक और पृथिवी तेरे अनुकूल होकर सौ वर्ष पर्यन्त जीनेमें सहायता करें। तू सारी आयुमें अच्छे-अच्छे कर्म करता हुआ, ब्रह्मज्ञान द्वारा मोक्ष सुख प्राप्त करे।

तावद् भवति मे दुःखं मृत्युसंसारसागरे।

यावत् कमलपत्राक्षं न स्मरामि जनार्दनम् ॥

आदर्श दिनचर्या

निद्रात्याग—प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में अर्थात् सूर्योदय से चार घड़ी (करीब डेढ़ घण्टा) पूर्व उठे। उठकर ईश्वर का चिन्तन करे और हो सके तो "अश्ववती गोमती नो उपासो वीरवती सद् युञ्जन्तु भद्राः" यह मन्त्र पढ़े। यह काल अमृत वेला है। इस समय शरीर इन्द्रिय, बुद्धि आदि स्वच्छ एवं विमल रहती हैं। इस समय उठने से स्वप्नदोष भी नहीं होता। निद्रात्याग के वाद जल से कुल्ला करे,आँखों को और मुंह को अच्छी तरह धोवे। इस समय थोड़ा जल भी पीना अत्यन्त लाभदायक है। इस समय के जलपान को उपःपान कहते हैं। इस जलपान से कफ-जनित रोग एवं अनपच जाता रहता है।

शौच-निद्रात्यागके वाद मल त्याग कर देना अति आवश्यक है। मल त्याग करते समय वातचीत और जल्द वाजी नहीं करनी चाहिये। हाँ, जोर लगाकर मल को निकालने का यत्न करना भी वर्जित है। मलमूत्र की शंका को किसी समय भी नहीं रोकना चाहिये। वादमें हाथ-पाँव अच्छी तरह धोना चाहिये। कुल्ला भी करना चाहिये।

दन्तधावन—शौचादि के वाद दाँतों की सफाई अत्यन्त आवश्यक है। दाँतों की सफाई के लिये दतवन का उपयोग करना चाहिये। नीम की दतवन सवसे उत्तम होती है। साथ ही सधा नमक और सरसों के तेल से भी दाँतों को मलना चाहिये।

दांतों के लिये देशी मञ्जन भी काम में लाये जा सकते हैं। दांतों को साफ करने के बाद शुद्ध जल से कुल्ला करना चाहिये। दिन-रात में जब-जब भी जल स्पर्श करे गहरा कुल्ला अवश्य करे। आंखों को भी ठंडा जल से धोवे। दांतों का सम्बन्ध मस्तिष्क तथा पेटसे है। इसलिये दांत तथा मुख की सफाई पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिये। जीभ पर मैला जमा न रहना चाहिये सोने के पहिले भी मुंह और दांत भली-भांति साफ कर लेना चाहिये। भूल कर भी जूठे मुंह नहीं सोना चाहिये। इससे बड़ी हानि होती है।

कुछ दांतों में सोने की खोली होनी भी आवश्यक हैं। मुखमें सोना रहने से गन्दगी के कीटाणु रहने नहीं पाते। सोने के स्पर्श से मुख में बना हुआ रस पेट के भीतर जाकर पुष्टि और आरोग्य बढ़ाता है।

स्नान—शौच और मुख की सफाई के बाद स्नान करना चाहिये। स्नान से अग्नि दीप्त होती है, बल और तेज की वृद्धि होती है। शरीर विमल और स्फुर्तियुक्त हो जाता है। स्नान प्रातःकाल सूर्योदयके पूर्व ही हो जाना चाहिये। शीतल जलसे ही स्नान करना उत्तम है, परन्तु यदि शीत अथवा अन्य किसी कारणसे कभी गरम जलसे स्नान करना हो तो सर पर गर्म जल न डाले। कारण, गर्म जल मस्तिष्क एवं नेत्रोंके लिये हानिकारक है। मोटे गमछे या तौलियेसे रगड़-रगड़कर स्नान करना उचित है। घटिया साबुन कदापि न लगावे। गङ्गाजी की मिट्टी लगाके

स्नान करे। नदीमें स्नान उत्तम् है। नदी समीप न हो तो अन्यत्र भी पर्याप्त जलसे स्नान करे।

स्नान करनेके पहले शरीरमें तेल मालिश करना स्वास्थ्यके लिये लाभदायक है। तेलकी मालिशसे वातादि दोष दूर होते हैं, बुढ़ापा नहीं आता, थकावट मिटती है, बल बढ़ता है एवं नींद अच्छी आती है। इससे चर्म रोग भी नहीं होते। सिरमें तेल मलनेसे मस्तिष्क और दृष्टिकी शक्ति बढ़ती है। कानमें तेल डालनेसे कर्णरोग दूर होते हैं। पैरके तलवोंमें तेल मलनेसे भी दृष्टि शक्ति को लाभ पहुंचता है। इसलिये तेलकी मालिश अवश्य करनी चाहिये।

सन्ध्योपासन—स्नानके बाद संध्योपासन एवं ईश्वर चिन्तनमें रत हो जाना चाहिये। उपासनाका अर्थ है समीप बैठना। ईश्वरकी उपासना का अर्थ हुआ ईश्वरके समीप बैठना। ईश्वर सर्वव्यापक (सब जगह वर्तमान) एवं अन्तर्यामी (सबके भीतर प्रविष्ट है)। अतएव परमात्मा को अपने समीप अनुभव कर उससे अपनी आत्मा को उच्च, पवित्र और सर्वगुण सम्पन्न बनाना ही उपासनाका रहस्य है। जिससे सम्पूर्ण चराचर जगत् उत्पन्न हुआ, जो इस ब्रह्माण्ड को धारण और पालन कर रहा है, जो प्रभु सारे सुख के साधनों का देनेवाला है उसकी स्तुति के द्वारा स्मरण करना मनुष्यमात्र का परम कर्त्तव्य है। परमात्मा की, जो मनुष्यमात्र के लिये पुरुपार्थ की आज्ञा है, उसपर चलकर सदैव कर्मशील रहनेवाले उपासकके परम प्रभु सदैव सहायक होते

हैं। संध्योपासन एकान्त तथा स्वच्छ और पवित्र स्थान में करना चाहिये।

सन्ध्या करते समय प्राणायाम का भी अभ्यास बढ़ाना चाहिये। जिस प्रकार स्थूल शरीरके लिये व्यायाम की आवश्यकता है। प्राणायाम के अभ्यास से दिन प्रतिदिन शान्ति एवं आयु बढ़ती है, दोषोंका क्षय होता है, मनकी एकाग्रता होती है एवं ज्ञानका प्रकाश बढ़ता है। अग्निहोत्र, बलिवैश्वदेव, पितृ-तर्पण एवं अतिथि सत्कार भी नित्यप्रति करना चाहिये।

सन्ध्याके समय दोनों शाम होम करना चाहिये। धूप भी देना चाहिये। धूपका धूम घरके प्रत्येक भागमें फैलाना चाहिये। इससे वायुकी गन्दगी जाती रहती है। स्थानका वायुमण्डल शुद्ध हो जाता है।

व्यायाम—प्रतिदिन अपनी शक्तिके अनुसार व्यायाम करना भी अति आवश्यक है। पुरुषार्थ करने से ही पुरुषार्थ बढ़ता है। व्यायामसे स्फूर्ति, क्रियाशक्ति तथा जठराग्निकी वृद्धि होती है। शरीर स्वस्थ, सबल, सुडौल और नीरोग रहता है। व्यायाम खुली हवामें करना उचित है।

भोजन—करनेसे पूर्व हाथ-पांव अच्छी तरह धो लेना चाहिये, तीन आचमन भी करना चाहिये। प्रथम भोजन ६ बजे से १२ बजे तक कर लेना चाहिये। सायंकाल का भोजन ८ बजे से पूर्व ही करना चाहिये। जैसा लिखा है—सायं प्रातर्द्विजातीना-मशनं श्रुतिचोदितम्। हित, मित और यथा परिमाणका ही भोजन

बलवर्द्धक है। बीचमें आवश्यक हो तो फल आदि ले सकते हैं। भोजन शुद्ध, सात्विक एवं निरामिष होना चाहिये। ईश्वरका ध्यान कर भोजन में ही मन लगाकर स्वच्छ स्थानमें शान्त चित्तसे भोजन करना चाहिये। प्रत्येक ग्रासको खूब चबा चबाकर खाना चाहिये। भोजनके अन्तमें जल पीना हानिकारक है। भोजनके पश्चात् सौ कदम धीरे-धीरे टहलना चाहिये। पीछे कुछ समय विश्राम करे। पश्चात् प्राणिमात्र की हितकी भावना रखते हुए अपने-अपने कर्मोंमें लग जाना चाहिये। दिनमें सोना हानिकारक है।

दिनान्त कर्म—सायंकाल शौचादि से निवृत्त होकर संध्योपासना करना चाहिये। भोजनोपरान्त ईश्वरके भजन-कीर्तन एवं ज्ञानकी चर्चा मित्रों एवं बाल-बच्चोंके सहित करनी चाहिये।

कीर्त्तन मनुष्य मात्रको प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये। भोजनोपरान्त एक घण्टा या जितना भी समय मिले उसमें तन्मय होकर कीर्त्तन करना चाहिये। किसी कारण, चिन्ता या झंझटोंसे दिनमें यदि मनमें किसी तरहकी कमजोरी आ गयी होगी तो कीर्त्तनसे वह सब दूर हो जायगी। भावना पवित्र होगी। कीर्त्तन की गूंजसे स्थानका वातावरण पवित्र हो जायगा। शब्दोच्चारणसे फेफड़ेका व्यायाम होगा और इससे भोजन अच्छी तरह पच जायगा। नींद खूब आयगी और दुःस्वप्न नहीं होंगे। कीर्त्तन कल्याण एवं शक्तिका दाता है। कीर्त्तन हाथोंपर ताल देकर और कठतालके सहारे करना चाहिये।

निद्रा—दिन भरके परिश्रम को थकावट निद्रा से ही दूर होती है और फिर से नवीन शक्ति एवं स्फूर्ति की प्राप्ति होती है। इसलिये रात्रि जागरण कदापि नहीं करना चाहिये। रातमें छः सात घंटे तक सोना अत्यन्त आवश्यक है। ६॥ बजे रात तक अवश्य सो जाना चाहिये। सोते समय शान्त और प्रसन्नचित्त रहना चाहिये।—शुभ सङ्कल्पके भाव मनमें होने चाहिये। इस हेतु सोनेके पहिले परमात्माका चिन्तन करना अति आवश्यक है। शिव सङ्कल्पके छः वेदमन्त्र अर्थ चिन्तन पूर्वक पाठ करते हुए सो जाना बड़ा लाभप्रद हो सकता है। पूर्व अथवा दक्षिण सिर करके ही सोना लाभदायक है।

स्त्रीप्रसङ्ग विषय सुखके लिये नहीं होना चाहिये। शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार ऋतुकालमें सन्तानकी इच्छासे ही इसमें प्रवृत्त हो जाना चाहिये। यह काम मध्य रात्रिके पूर्व ही होना चाहिये कारण, इससे जो थकावट होती है उसकी निवृत्ति पर्याप्त निद्रासे ही हो सकती है।

सबकी दिनचर्या समान नहीं होती। इसलिये दिन रातके २४ घण्टोंका विभाजन देश, काल और अवस्थाके अनुसार करके एक कार्यक्रम तैयार कर लेना चाहिये और उसके अनुसार ही अपने भोजन, शयन, व्यवहार, उद्योग, नीति आदिका सञ्चालन करना चाहिये। कार्यक्रम निश्चित कर लेनेसे सब काम, यदि नियम पालनमें कड़ाई रखी जाय, तो ठीक समय पर होते रहेंगे।

मर्यादाको सुदृढ़ बनाना चाहिये :—

कृत्रिमता को अपनाने से हमारे में संकुचित मनोवृत्ति घर कर गई है। हम हमारे महापुरुषों के भावोंको गलत दृष्टिकोण से देखते आरहे हैं। उनके असली सिद्धान्तोंको नहीं समझ पाते। परिस्थितियोंके अनुसार स्वार्थ साधन के लिये उनके मनमाने अर्थ लगाते रहे, जिससे ज्ञानका ह्रास व मर्यादा भङ्ग हो गई है। अतः हमारे में संकीर्ण विचारधारा उत्पन्न हो गई, इसलिये कृत्रिम विचारोंका आवरण हटाकर हमें ईश्वरीय नियमोंका महत्त्व समझना चाहिये और उसीके अनुसार कार्य करना चाहिये।

ज्ञान, पुरुषार्थ एवं सत्यनिष्ठा द्वारा हमें ऊपर उठना चाहिये। अपने भावुक, कोमल हृदयवाले, ज्ञानी महापुरुषोंके विचारोंको समझकर प्रेरणा लेनी चाहिये और अपना जीवन भी वैसा ही बनाना चाहिये। धर्म और मर्यादा पर जो पर्दा इस समय पड़ा हुआ है उसे उठानेकी जरूरत है, इसीसे हमारी सब प्रकारकी बुराइयाँ दूर होंगी, और हम अपने निर्दिष्ट उद्देश्यको प्राप्त कर सकेंगे। हमारा कर्त्तव्य है कि हम हमारे महापुरुषोंके विचारोंका अनुशीलन कर, उनकी सच्ची बातोंको समझें। उनके द्वारा बनाये हुए वेदादि धर्मशास्त्रोंका अर्थ प्राकृतिक, व्याकरण से संगत, प्रसंगानुसार, प्राणिमात्रके हितके परिणाम को समझकर अपनी भूलोंका सुधार करें, तभी हमारी मर्यादा सुदृढ़ होगी और हमें सुखकी प्राप्ति होगी।

संसार के प्रत्येक प्राणि तिनके से लेकर मनुष्य तक, जड़ चेतन, छोटे बड़े सब, सत्य और धर्म की मर्यादा में बँधे हुए हैं। इसी बातको हमारे वेदादि आर्ष ग्रन्थों ने बार-बार उपदेश दिया है। संसार के प्रत्येक धर्म, प्रत्येक राष्ट्र, सत्य की महत्ता को स्वीकार करते हैं। सत्य ही परमात्मा का साक्षात् स्वरूप है। सत्य की महिमा से सूर्य, चन्द्रादि तत्त्व अपने कार्य सम्पादन करने में संलग्न हैं। यहाँ तक कि सृष्टि के तमाम व्यवहार सत्य पर ही स्थित हैं।

धर्म और सत्य में कोई भी भेद नहीं है। इनका चोली दामन का सा सम्बन्ध है। धर्म के द्वारा ही हमारा अभ्युत्थान होता है। धर्म के द्वारा ही इहलौकिक एवं पारलौकिक कल्याण सम्भव है। ऋषि प्रतिपादित धर्म ही हमारे लिये कल्याणकर हो सकता है। हम अपने धर्म पर गर्व करते हैं और धर्म के विषय में भगवान श्रीकृष्णने हमें यहाँ तक उपदेश दिया है कि "स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर धर्मो भयावहः" अतः हमारा कर्तव्य स्पष्ट है। बिना धर्म के कल्याण सम्भव नहीं।

सत्य धर्म की मर्यादा से ही सृष्टि के प्रत्येक कार्य सम्पन्न होते हैं। जैसे कुल की मर्यादा, जाति की मर्यादा, देशकी मर्यादा, अवस्था की मर्यादा, राज्य की मर्यादा, कार्य की मर्यादा, स्त्रीपुरुषकी मर्यादा, कृषि उत्पादन की मर्यादा, आहार की मर्यादा, सत्य की मर्यादा, धर्म की मर्यादा आदि किसी भी मर्यादा का उल्लंघन न करे। मर्यादा के अन्तर्गत ही सब कुछ बँधा हुआ है।

ईश्वरीय प्राकृतिक नियम भी मर्यादा पर ही आश्रित हैं। महाद्वीप भारत के चारों तरफ मेखलायमान समुद्र मानव जातिको मर्यादा की शिक्षा देनेके लिये अहर्निश चेतावनी दे रहा है। समुद्र में जलतरंगों से और ज्वारभाटों से बराबर उथल-पुथल होता रहता है। परन्तु इन बड़ी-बड़ी हलचलों के सहन करने पर भी समुद्र अपनी मर्यादा की आनको तनिक भी नहीं छोड़ता। अरबों वर्षों से अपनी मर्यादा का पालन करता हुआ केवल सत्य पर स्थिर रहकर समग्र संसार की रचना में सहायता प्रदान करता है। मानव भी मर्यादा के आधार पर ही संसार में सफलता प्राप्त कर सकता है। कारण समुद्र जैसे महान्—जिसकी परमायु का कोई अन्त ही नहीं है वह भी अपनी मर्यादा को अक्षुण्ण बनाये रखकर ही महान् कहलाता है। मानव मात्र शतायु है फिर वह भी ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन आश्रमों की मर्यादा को पालन करके ही मानव यथार्थ मानव हो सकता है। अन्यथा वह मानव की श्रेणी से पतित हो जाता है। जब समुद्र अरबों वर्षोंसे अपनी आनपर टिका हुआ है तो मानव मात्र १०० वर्ष की अवधि में ही अपनी मर्यादा को भंगकर रहा है और उसीका कारण हमारी अल्पायु है।

जितने प्राणी संसार में हैं उनमें बुद्धिवादी प्राणी केवल मनुष्य ही है। बुद्धिजीवी होनेके नाते ही सर्वाधिक उत्तरदायित्व मानव पर आता है। सृष्टि की प्रायः सभी वस्तुएँ मानव के लिये ही निर्मित की गई हैं वही उनका कारण है। जैसे—

"विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्"

अर्थात्—ज्ञान ही ब्रह्म का साक्षात् रूप है। जैसे—कुम्हार मिट्टी के वर्तन बनाता है वह अपनी इच्छा से भिन्न-भिन्न प्रकार के आवश्यकतानुसार वर्तन निर्माण करता है। उन वर्तनोंमें से किसी वर्तन का नुकसान होता है तो वह उसके कर्त्ता (कुम्हार) का नुकसान होगा ठीक इसी प्रकार मनुष्य इस संसारका प्रजापति (कुम्हार) है और वर्तनादि संसार के पदार्थ उसके काम में आनेवाली चीजें हैं। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" ज्ञानवान ही मनुष्य है। जैसे—"ज्ञानवान मानवः प्रोक्त, ज्ञान हीनः पशुस्मृतः" इसलिये तात्पर्य यह हुआ कि कारणभूत मनुष्य ही है। ज्ञानवान के ही कर्म लागू हैं। अज्ञानी किसी के भी कर्म लागू नहीं है। मनुष्य ज्ञान-सम्पन्नता से सबका कर्त्ता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण देखिये—सृष्टि का आरम्भ मनु एवं सतरूपा से होता है। फिर धीरे-धीरे जैसे-जैसे मनुष्य की आवश्यकताएं बढ़ती गई उसी के अनुसार ज्ञान द्वारा तत्त्वों से सृष्टि की वृद्धि होती गई। यह जो सृष्टिकी रचना है वह अरवों वर्षोंसे चली आरही है। यह कोई एक दिन की रचना नहीं है। हमारे पूर्वज ऋषिमहर्षियों ने ज्ञान, पुरुषार्थ एवं सत्य द्वारा सृष्टि की वृद्धि की। यह जो सृष्टि की रचना है वह किसी व्यक्तिविशेष की नहीं है। यह वृद्धि तो निरन्तर ज्ञानीजनों द्वारा होती ही रहती है। जैसे—कभी पशु, कभी पक्षी, कभी कीटपतंग, कभी जलचर नभचर, कभी विषधर जन्तु, कभी अन्न, कभी फल, कभी मेवा, कभी तेलहन आदि पदार्थ

आवश्यकतानुसार ज्ञान द्वारा निर्मित होते रहते हैं। सत्य एवं ज्ञान द्वारा ही एक समय था जब हमने अमरत्व, सशरीर ब्रह्मलोक की प्राप्ति, मन इच्छा मृत्यु, साठ हजार हाथियों का बल प्राप्त किया था। सत्य एवं मर्यादा के कारण ही इतने उच्च शिखर पर पहुंचे। सत्य तथा मर्यादा की आनसे जरा भी विचलित नहीं होते थे। फिर महाभारत के समय में ही कलियुग का प्रादुर्भाव हुआ। छलकपट एवं असत्य से महारथी, भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, कर्ण, शल्यादि का वध हुआ। अर्थात् ज्ञानका नाश हुआ।

छलकपट एवं असत्य का बोलवाला हुआ चारों तरफ वेदादि शास्त्रों पर कुठाराघात होने लगे। बिना परिणाम सोचे आर्ष ग्रन्थों का मनमाना अर्थ लगाने लग गये। जिसका परिणाम आपके सामने है। जैसे—

धर्मः संकुचितः तपो विचलितं, सत्यं च दूरं गतम्।
क्षौणिर्मंदफला नृपाश्चकुटिलाः शास्त्रेतरा ब्राह्मणाः॥
लोकास्त्रिवशगाः स्त्रियोतिचपलाऽलोकानुरक्ताजनाः।
साधुसीदति दुर्जनः प्रभवति प्रायः प्रवृत्ते कलौ॥

अर्थात्—छलकपट रूपी कलियुग के आगमन से धर्म संकुचित हो गया, तपमार्ग से लोग हट गये, सत्य का अभाव हो गया। पृथ्वी मन्दफल देनेवाली हो गई, राजा लोग कुटिल हो गये, ब्राह्मण लोग शास्त्र मार्ग से भ्रष्ट हो गये। संसार के प्राणिमात्र स्त्रियोंमें लोलुप हो गये, स्त्रियाँ स्वच्छन्द विचरणवाली हो गई। तमाम प्राणी मर्यादा से गिर गये, साधु (सज्जन) दुख पाने लग

गये, दुष्ट मनुष्य आनन्द करने लगे यह सब प्रायः सत्य के अभाव होनेसे एवं मर्यादा की आनको तोड़नेसे प्राप्त हुआ।

आज हमारी अवनति का भी यही कारण है कि हमलोग कृत्रिमता में फंस गये। जिससे पुरुषार्थ से हीन हो गये। आज के युगमें हमलोग बिना भविष्य सोचे कि इन कृत्रिम साधनों से हमारी आगे जाकर क्या हालत होगी अपने जीवनको मशीनोंपर अवलम्बित कर दिया तथा उन्हीं में अपना समग्र सुख समझने लगे। जिसका परिणाम यह हुआ कि हमारे में स्वयं काम करने की क्षमता नहीं रही जिसके कारण हम परमुखापेक्षी बन गये। मनुष्यरूपी मशीन पङ्गु बन गई अप्राकृतिक भोजन हो गया। मर्यादा का ह्रास हो गया। हम अल्पायु हो गये।

अगर मनुष्य मर्यादा का उलंघन करता है तो वह अपने लिये ही कोई बुरा कर रहा हो ऐसी बात नहीं है, वह तो सृष्टि के महान् नियम में बाधा उपस्थित करता है। बुद्धिजीवी जब किसी मर्यादा का उलंघन करेगा तो अन्यान्य प्राणी भी उसका अनुसरण करेंगे। मनुष्य के मर्यादा भंग करने पर प्राणीमात्र की शृङ्खला छिन्न-भिन्न हो जाती है। इस प्रकार सृष्टि के नियम में गड़बड़ी पैदा करनेके कारण वह सर्वाधिक दोषी ठहरता है। अतएव प्राचीन मुनि प्रणीत एवं प्रकृति निर्दिष्ट मर्यादा पर आरूढ़ रहने से ही मानवका कल्याण हो सकता है और साम्प्रतिक संसारव्यापी महान् विनाश-कारी अशान्तिका नाश हो सकता है। मानव जाति के साथ संसार के प्रत्येक प्राणी मात्रका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

अल्प समय के लिये भी संकुचित मनोवृत्ति में नहीं फँसना चाहिये। हमेशा ही मनुष्य को उदार विचार रखना चाहिये। ईश्वर के अस्तित्व, सत्यधर्म के माननेवाले ही उदार होते हैं। "उदारा सर्व एवैते" भगवान् पर निष्ठा रखनेवाले को ही उदार कहते हैं।

यथा—"उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्" अर्थात् उदार वही है जिनका संसारमात्र कुटुम्ब है। इसी पावन भावना को रखते हुए प्राणिमात्र को अपना सहयोगी समझते हुए (न कि भक्ष्य समझते हुए जैसा कि इस समय हो रहा है) निःसंकोच भावसे समत्वका भाव रखते हुए वर्ताव करना चाहिये।

मर्यादा के उल्लंघन से ही आज चारों तरफ अशान्ति, विग्रह आदि का साम्राज्य हो रहा है। संसार के समस्त प्राणी सुखकी इच्छा करते हैं। परन्तु सुख हो कैसे ? हम जब तक मर्यादा का पालन नहीं करगे तब तक सुख नहीं होगा।

इसलिये ईश्वर से यही प्रार्थना है कि हे प्रभो! हमें भूलों के सुधारने की शक्ति दो तथा हम जो अधःपतन की ओर अग्रसर हो रहे हैं उससे मुक्त होनेका मार्ग दिखाओ। जिससे हम विघ्न-बाधाओं से निर्मुक्त होकर शान्तिमय जीवन-यापन करते हुए पूर्वजों के पथ का अनुकरण कर आत्मोन्नति पूर्वक पुरुषार्थ द्वारा उच्च शिखर पर फिर पहुंचे।

शान्ति-पाठ

ॐ पृथ्वी शान्तिरन्तरिक्ष ७ शान्तिर्द्यौः शान्तिरापः शान्ति रोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिः सर्वे मे देवाः शान्तिः शान्तिः शान्तिभिः। ताभिः शान्तिभिः सर्व शान्तिभिः समया मोहं यदिह घोरं यदिह क्रूरं यदिह पापं तच्छान्तं तच्छिवं सर्वमेव शमस्तु नः॥ अथ० १९।९।१४।

हमारे लिये पृथिवीलोक शान्तिप्रद हो, अन्तरिक्ष लोक शान्तिप्रद हो, द्यौलोकमें शान्ति होवे, जल शान्तिकारक हो, औषधियाँ एवं वनस्पति सुख शान्तिदायक होवें, सम्पूर्ण देव, वसु आदि तथा दिव्यगुण शान्तिकारक होवें। हमें विद्वान लोग शान्ति देवें, यह शान्ति भी उपद्रव रहित हो। इन सब शान्तियोंसे परम शान्तिका लाभ हो। उन शान्तियों तथा पूर्ण सुखोंकि द्वारा हे प्रभो हमारे अज्ञान को शान्त कीजिये। जो इस संसारमें भयंकर है वह सब शान्त हो, इस जगत् में जो कठोरता है वह कल्याणकारक हो जाय, इस संसार में जो भी पाप है, वह सभी नष्ट हो जाय।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

सन्ध्याविधिः

नीचे लिखा हुआ मन्त्र पढ़कर शरीर-शुद्धि के लिये जल छिड़के—

ओं अपवित्रः पवित्रो वा सर्व्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स वाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

दाहिने हाथमें जल लेकर सन्ध्याके लिये संकल्प करे—

ओं तत्सदद्यैतस्य ब्रह्मणो द्वितीयप्रहरार्धे श्रीश्वेतवाराह-कल्पे जम्बूद्वीपे भारतखण्डे आर्यावर्तैकदेशान्तर्गते पुण्यक्षेत्रे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथम-चरणे अमुकसंवत्सरे अमुकमासे अमुकपक्षे अमुकतिथौ अमुकवासरे अमुकगोत्रोत्पन्नोऽमुकनामाहं प्रातः सन्ध्योपा-सानकर्म करिष्ये।

निम्न विनियोग पढ़कर भूमि शुद्धिके लिये जल छोड़े—

पृथ्वीति मन्त्रस्य मेरुपृष्ठ ऋषिः सुतलं छन्दः कूर्मो देवता आसने विनियोगः।

नीचे के मन्त्रों को पढ़कर आसनपर जलके छींटे शुद्धिके लिये देवे—

ओं पृथिवीत्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुना धृता।
त्वञ्च धारय मां देवि पवित्रं कुरु चासनम्॥

शिखाबन्धन—गायत्री मन्त्रको पढ़कर शिखाबन्धन करना तथा ३ बार आचमन भी करना। नीचेके मन्त्रको पढ़कर आचमन करे—

ओं ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः। समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी। सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवञ्च पृथ्वीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः॥

आत्मरक्षा—हाथमें जल लेकर गायत्री मन्त्र पढ़े तथा अपने चारों ओर रक्षार्थ उसे छिड़क देवें। प्राणायाम के निम्न चारों विनियोगोंके लिये चार बार जल पृथ्वीपर छोड़े।

ओंकारस्य ब्रह्मा ऋषिर्गायत्री छन्दोऽग्निर्देवता शुक्लो वर्णः सर्वकर्मारम्भे विनियोगः। सप्तव्याहृतीनां विश्वामित्रजमदग्नि-भरद्वाज-गौतमात्रि-वशिष्ठ-कश्यपा ऋषयो गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपंक्तित्रिष्टुब्जगत्यश्छन्दांस्यग्निवाय्वादित्यबृहस्पतिवरुणेन्द्रविश्वेदेवा देवता अनादिष्टप्रायश्चित्ते प्राणायामे विनियोगः। गायत्र्या विश्वामित्र ऋषिर्गायत्री छन्दः सविता देवताग्निर्मुखमुपनयने प्राणायामे विनियोगः।

शिरसः प्रजापतिर्ऋषिस्त्रिपदा गायत्री छन्दो ब्रह्माग्निवायु-सूर्या देवता यजुःप्राणायामे विनियोगः ।

नीचे लिखे हुए मन्त्र से प्राणायाम करे। पद्मासन वा सिद्धासन से बैठकर पहिले एक दो वार श्वास खींचकर धीरे-धीरे छोड़ देवे। पुनः अङ्गुष्ठ से नासिका के दक्षिण छिद्रको वन्दकर वाम छिद्रसे धीरे-धीरे श्वास लेता जावे तथा प्राणायाम मन्त्रको तीन वार पढ़े और विष्णु का ध्यान नाभिमें करे। इसके वाद नासिकाके दोनों छिद्रोंको वन्दकर तीन वार मन्त्र पढ़े तथा ब्रह्मका ध्यान हृदयमें करे। पुनः दक्षिण छिद्रसे धीरे-धीरे श्वास का परित्याग करे तथा मन्त्रोंको पढ़ते समय भगवान शङ्करका ध्यान ललाटमें करे। इस क्रमसे प्राणायामको पूरक, कुम्भक तथा रेचक कहते हैं। इसको सफलतापूर्वक करने से समस्त सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

ओं भूः ओं भुवः ओं स्वः ओं महः ओं जनः ओं तपः ओं सत्यम् ओ तत्सवितुर्व्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्। ओं आपोज्योतिरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्।

प्रातःकाल आचमन का विनियोग पढ़कर पृथ्वीपर जल छोड़ देवे।

सूर्यश्चमेति ब्रह्मा ऋषिः प्रकृतिश्छन्दः सूर्यो देवता अपामुपस्पर्शने विनियोगः ।

रात्रिकृत सब ज्ञाताज्ञात पापोंके क्षयार्थ निम्न मन्त्रको पढ़कर आचमन करे।

ओं सूर्यश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्चमन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्तां यद्रात्र्या पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्या- मुदरेण शिश्ना रात्रिस्तदवलुम्पतु यत्किञ्चिद् दुरितं मयि इदमहमापोऽमृतयोनौ सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा ॥

निम्नलिखित विनियोग पढ़कर पृथ्वीपर जल छोड़ देवे।

आपो हिष्ठेत्यादित्र्यृचस्य सिन्धुद्वीप ऋषिर्गायत्री छन्द आपो देवता मार्जने विनियोगः।

शरीर शुद्धि के लिये नीचे लिखे मन्त्रों द्वारा सात वाक्य से शरीर पर जल छोड़े, आठवें से भूमिपर और नवें से पुनः मार्जन करे।

(१) ओं आपो हिष्ठा मयोभुवः। (२) ओं तान ऊर्जे दधातन। (३) ओं महे रणाय चक्षसे। (४) ओं यो वः शिवतमो रसः। (५) ओं तस्य भाजयतेह नः। (६) ओं उशतीरिव मातरः। (७) ओं तस्माऽअरंग मामवः (८) ओं यस्य क्षयाय जिन्वथ। (९) ओं आपो जनयथा च नः।

नीचे लिखा हुआ विनियोग पढ़कर पृथ्वीपर जल छोड़ देवे।

द्रुपदादिवेत्यस्य कोकिलो राजपुत्र ऋषिरनुष्टुप्छन्दः आपो देवता सौत्रामण्यवभृथे विनियोगः।

हाथमें जल लेकर मन्त्रको तीन वार पढ़े, फिर उस जलको शिरपर छिड़क देवे।

ओं द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव। पूतं पवित्रेणवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनसः॥

विनियोग पढ़कर पृथ्वीपर जल छोड़ दे।

अघमर्षणसूक्तस्याघमर्षण ऋषिरनुष्टुप्छन्दो भाववृत्तो देवता अश्वमेधावभृथे विनियोगः।

दाहिने हाथमें जल लेकर उसको नासिकासे लगाकर मन्त्रको पढ़े तथा जल बाईं ओर फेंक कर उसको न देखे।

ओं ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥ समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी। सूर्याचन्द्रमसो धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः॥

निम्न विनियोग पढ़कर पृथ्वीपर जल छोड़ देवे।

अन्तश्चरसीति तिरश्चीन ऋषिरनुष्टुप्छन्दः आपो

देवता अपामुपस्पर्शने विनियोगः ।

निम्न मन्त्रको पढ़कर आचमन करे ।

ओं अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वतोमुखः । त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कार आपो ज्योती रसोऽमृतम् ॥

सूर्यार्घ—सूर्य भगवानको पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख हो गायत्री मन्त्र पढ़कर तीन वार अर्घ देवे ।

सूर्योपस्थान—क्रमशः एक-एक विनियोग पढ़कर जल छोड़े तथा उसके साथके मन्त्रको पढ़ते समय प्रातः तथा सायं सन्ध्याके लिये दोनों हाथ जोड़कर उपस्थान करे और मध्याह्न सन्ध्याके लिये हाथ ऊपर उठाकर ।

प्रथम विनियोग तथा मन्त्र—

उद्वयमित्यस्य प्रस्कण्व ऋषिरनुष्टुप्छन्दः सूर्यो देवता सूर्योपस्थाने विनियोगः ॥१॥ मन्त्र—ओं उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥

द्वितीय विनियोग तथा मन्त्र—

उदुत्यमिति प्रस्कण्व ऋषिर्गायत्रीछन्दः सूर्यो देवता सूर्योपस्थाने विनियोगः ॥ २ ॥ मन्त्रः—ओं उदुत्यं जात वेदसं देवं वहन्ति केतवः दृशे विश्वाय सूर्य्यम् स्वाहा ॥

तृतीय विनियोग तथा मन्त्र—

चित्रमित्यस्य कौत्स ऋषिस्त्रिष्टुप्छन्दः सूर्यो देवता सूर्योपस्थाने विनियोगः ॥३॥ मन्त्रः—ओं चित्रं देवाना-मुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्ष ὑ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥

चतुर्थ विनियोग तथा मन्त्र—

तच्चक्षुरिति दध्यंगाथर्वण ऋषिरक्षरातीतपुर उष्णिक् छन्दः सूर्यो देवता सूर्योपस्थाने विनियोगः ॥४॥ ओं तच्चक्षु-र्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शत ὑ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शत-मदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ।

अङ्गन्यास तीन बार करना चाहिये। एक-एक मन्त्रको पढ़ता जावे तथा शरीरके निम्नोक्त अङ्गोंका स्पर्श दाहिने हाथसे करता जावे। छठे मन्त्रको पढ़ते समय ताली देकर शिरकी चारों ओर चुटकी बजावे।

ओं हृदयाय नमः १ ओं भूः शिरसे स्वाहा २ ओं भुवः शिखायै वषट् ३ ओं स्वः कवचाय हुम् ४ ओं भूर्भुवः नेत्राभ्यां वौषट् ५ भूर्भुवः स्वः अस्त्राय फट् ६ ।

गायत्री जपका विनियोग पढ़कर तीन बार जल छोड़ दे।

ओंकारस्य ब्रह्मा ऋषिर्गायत्रीछन्दोऽग्निर्देवता शुक्लो-वर्णो जपे विनियोगः। त्रिव्याहृतीनां प्रजापतिऋषिर्गा-यत्र्युष्णिगनुष्टुप्छन्दांस्यग्निर्वाय्वादित्या देवता जपे विनि-योगः। गायत्र्या विश्वामित्र ऋषिर्गायत्री छन्दः सविता देवता जपे विनियोगः।

निम्नलिखित मंत्र पढ़कर गायत्री देवीके स्वरूपका ध्यान करे।

ओं श्वेतवर्णा समुद्दिष्टा कौशेयावसना तथा।
श्वेतैर्विलेपनैः पुष्पैरलंकारैश्च भूपिता॥
आदित्यमण्डलस्था च ब्रह्मलोकगतायवा।
अक्षसूत्रधरा देवी पद्मासनगता शुभा॥

गायत्री आवाहन—विनियोग पढ़कर पृथ्वीपर जल छोड़ देवे

तेजोऽसीति देवा ऋषयो गायत्री छन्दः शुक्रं दैवतं गायत्र्यावाहने विनियोगः।

नीचेके दो मन्त्रों द्वारा गायत्री देवीका आवाहन करे।

ओं तेजोसि शुक्रमस्यमृतमसि धामनामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि॥

ओं गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि नहि पद्यसे नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसे-ऽसावदोम्॥

यथाशक्ति गायत्री जप करे।

गायत्री मन्त्र—ओं भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।

मन्त्रको पढ़ते हुए प्रदक्षिणा करे अथवा हाथमें जल लेकर अपने शिरकी चारों ओर फेरकर छोड़ देवे।

यानि कानि च पापानि जन्मान्तरकृतानि च।
तानि तानि प्रणश्यन्ति प्रदक्षिणपदे पदे॥

गायत्री का विसर्जन निम्न मन्त्र से करे—

उत्तमे शिखरे देवि भूम्यां पर्वतमूर्धनि।
ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञाता गच्छ देवि यथासुखम्॥
भगवती देवि स्वस्थाने गच्छ।

मध्याह्नकाल की सन्ध्या के लिये विनियोग तथा आचमन मन्त्र—

"आपः पुनन्त्विति विष्णुऋषिरनुष्टुप्छन्द आपो देवता अपामुपस्पर्शने विनियोगः। मन्त्र—ओं आपः पुनन्तु पृथिवीं पृथिवी पूता पुनातु माम्। पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्म पूता पुनातु माम्॥ यदुच्छिष्टमभोज्यं च यद्वा दुश्चरितं मम। सर्वं पुनन्तु मामापोऽसतां च प्रतिग्रहꣳ स्वाहा॥

सायंकाल की सन्ध्या के लिये विनियोग तथा मन्त्र—

अग्निश्चमेति रुद्र ऋषिः प्रकृतिश्छन्दोऽग्निर्देवता अपामुपस्पर्शने विनियोगः। मन्त्र—ओम् अग्निश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्तां यदह्ना पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना अहस्तदवलुम्पतु यत्किञ्चिद् दुरितं मयि इदमहमापोऽमृतयोनौ सत्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा ॥

इति सन्ध्याविधिः समाप्तः।

सन्ध्या मन्त्रोंकी व्याख्या

ॐ अपवित्रः पवित्रो वा........

पवित्र, अपवित्र जिस किसी अवस्थामें भी मनुष्य हो परमात्मा के ध्यान से उसके भीतर बाहर सभी ओर शुद्ध और पवित्र हो जाता है।

इस श्लोक को पढ़कर शरीर शुद्धि के लिये जल छिड़के यह विधि है। इससे यह अभिप्राय कदापि नहीं लेना चाहिये कि

सन्ध्या समय के छिड़के हुए जल की दो-चार बून्दें ही पवित्रता के लिये पर्याप्त हैं। यह भी समझना उचित नहीं है कि जल की बून्दें छिड़कने से ही अथवा यह श्लोक पढ़ने से ही आभ्यन्तरिक शुद्धि भी हो जायगी। जल की बून्दें एक निदर्शन मात्र हैं और यह स्मरण करने के लिये छिड़की जाती हैं कि शरीर की शुद्धि के लिये जल की आवश्यकता है और हम स्नान हस्तपादादिप्रक्षालन कुल्ले आदि के द्वारा यथा समय पर्याप्त जल से शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्ग की सफाई नियमित रूप से करते रहें। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जल से केवल भौतिक शरीर की ही शुद्धि हो सकती है। मन, बुद्धि और आत्मा की शुद्धि के लिये और कुछ करना होगा, जैसा मनु जी ने कहा है—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

जल से शरीरावयवों की शुद्धि, सत्य से मन, ज्ञान से बुद्धि एवं विद्या और तप से आत्मा की शुद्धि होती है।

परमात्मा का भक्त ईश्वरीय नियमों पर चलेगा उसमें किसी प्रकार के असद् आचरण न रहेंगे अतएव प्रभु के स्मरण से सारी अशुद्धियोंका क्षय होगा, ऐसा इस श्लोक में कहा गया है।

संकल्प वाक्य

अथ, ओ३म् (सर्वरक्षक) तत् (प्रसिद्ध) सत् (नित्य, निरञ्जन अविकारी) परमात्मा का नाम ग्रहणपूर्वक मैं संकल्प (दृढ़

निश्चय) करता हूं कि मैं, अमुक गोत्र में उत्पन्न अमुक नामा व्यक्ति आज इस ब्रह्मा दिन के दूसरे पहर श्री श्वेतवाराह कल्पके वैवस्वत नामक मन्वन्तरके अठाइसवें कलियुग के प्रथम चरणमें जम्बू द्वीप (एशिया महादेश) के भारतवर्ष नामक देश में अवस्थित आर्यावर्त्त नामक भूभाग में (जिसकी सीमा मनुजी ने उत्तर-दक्षिण हिमालय एवं विन्ध्य पर्वत तथा पूर्व पश्चिम दोनों ओर के समुद्र बताई है। अवस्थित एक स्थान विशेष में अमुक सम्वत्, मास, पक्ष, तिथि एवं दिन में प्रातः (वा सायं) सन्ध्या करूंगा।

व्याख्याः-आज भी हम न्यायालयों में देखते हैं कि अभियोग के आवेदन पत्र आदि में अथवा दानपत्र, क्रयपत्र आदि में लिखने के स्थान और समय आदि का उल्लेख रहता है। संध्या पूजापाठ यज्ञ आदि के अवसरों पर भी प्रारम्भ में संकल्प वाक्य द्वारा स्थान और समय का उल्लेख करना ऋषियों की परिपाटी थी, जो अबतक चली आ रही है और इस प्रकार हम बिना कलेण्डर आदि के भी सृष्टि को उत्पन्न हुए कितने दिन हुए इसको जानते आ रहे हैं। स्थान का उल्लेख जो संकल्प मन्त्र में है वह स्पष्ट है। काल गणना के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण की आवश्यकता यहाँ अनुभव होती है।

अघमर्षण मन्त्रमें हम देखते हैं कि सृष्टि प्रवाह रूपसे अनादि है। महाप्रलय के बाद जो यह वर्तमान सृष्टि है उसी प्रकर की सृष्टि महाप्रलय के पूर्व थी। मन्त्र में स्पष्ट है कि सूर्य चन्द्रमा पृथिवी, अन्तरिक्ष नक्षत्रादि कोई नये नहीं बने हैं। इस सृष्टि में

वैसे ही बनाये गये हैं जैसे पहलेकी सृष्टियोमें बने हुए थे। 'यथा पूर्वमकल्पयत्)। इस प्रकार इस सृष्टिके पूर्व प्रलय था इस सृष्टि का संहार होकर फिर भी प्रलय होगा। इस क्रमका अर्थात् सृष्टिका होना, फिर प्रलय का होना, फिर सृष्टि का होना...... इसका तो न कहीं आदि है और न कभी अन्त होगा। कारण, जब परमात्मा ही अनादिनिधन नित्य सनातन है तो उसके व्यापार सृष्टि प्रलयादि कैसे आदि वा अन्तवाले हो सकते हैं। वर्तमान सृष्टि कितने समय से है इसकी गणना ज्योतिषशास्त्रके अनुकूल इस संकल्प वाक्य में दी गयी है।

यह तो सभी जानते हैं कि ६० विपल का १ पल, ६० पल की १ घड़ी, ६० घड़ी (दण्ड) का १ दिन (दिन रात), ३० दिनका १ मास, १२ मास का १ वर्ष होता है। अब, चार लाख बत्तीस हजार ४३२००० वर्ष का एक कलियुग होता है। दो कलियुगकाल अर्थात् आठ लाख चौंसठ हजार (८६४०००) वर्ष का द्वापर, कलियुग का तीन गुणाकाल अर्थात् बारह लाख छियानवे हजार (१२९६०००) वर्ष त्रेता की अवधि है। कलियुग का चार गुणा समय अर्थात् सत्तरह लाख अट्ठाइस हजार (१७२८०००) वर्ष एक सत्ययुग का प्रमाण है। इन चार युगोंको चतुर्युगी कहते हैं और वह तैंतालिस लाख बीस हजार वर्षों का होता है। ऐसी ७१ चतुर्युगियों का एक मन्वन्तर होता है और ऐसे १४ मन्वन्तर एक सृष्टिकालमें होते हैं। प्रत्येक मन्वन्तर के आदि में एवं चौदहवें (अन्तिम) मन्वन्तर के अन्त में सत्ययुग की अवधि का

(अर्थात् सत्तरह लाख अट्ठाइस हजार वर्ष का) एक संधिकाल होता है। इस प्रकार एक सृष्टिकाल में एक हजार चतुर्युगियों अथवा चार अरब बत्तीस करोड़ ४३२००००००० वर्ष होते हैं। अथर्ववेद के एक मन्त्र में भी परमात्मा ने सृष्टि की आयु इतनी ही कही है। वह मन्त्र खण्ड है—"शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः" २, ३ और ४ को उल्टा लिखने से जैसा कि संस्कृत भाषा में नियम है (अङ्कस्य वामतो गतिः) ४३२ होते हैं, उसपर सात शून्य बढाने से ४३२००००००० होगा, उतने वर्ष सृष्टि के होते हैं, यह इस मन्त्रका अर्थ है।

एक सृष्टिकाल को (जब तक कि सूर्य चन्द्रादि वर्तमान रहते हैं अर्थात् चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष तक) 'ब्राह्म दिन' और 'कल्प' भी कहते हैं। प्रलय को 'रात्रि' 'ब्रह्मरात्रि' और 'विकल्प' भी कहते हैं। प्रलय की अवधि भी सृष्टि या दिन की अवधि के बराबर अर्थात् ४३२००००००० वर्ष ही होती है। इस सृष्टि या कल्प का नाम श्वेत वाराह कल्प है।

७१ चतुर्युगियोंवाले जो चौदह मन्वन्तर होते हैं उनमें यह सातवां मन्वन्तर है और इसका नाम वैवस्वत मन्वन्तर है जो विवस्वान् के पुत्र मनु के नाम पर प्रचलित है। वैवस्वत मन्वन्तर के समाप्त होने पर ब्रह्मदिन का दूसरा पहर समाप्त हो जायगा और सृष्टि का अर्धांश पूरा होगा। इस मन्वन्तर की ७१ चतुर्युगियोंमें अभी अट्ठाइसवीं चतुर्युगी ही चल रही है और उसमें कलिके प्रथम चरण (चतुर्थांश अर्थात् १०८००० वर्षों में ५०५०

वर्ष ही बीते हैं। अभी इस वैवस्वत मन्वन्तर की समाप्तिमें इस कलिके अवशिष्ट प्रायः चार लाख २७ हजार वर्ष एवं बाकी ४३ चतुर्युगियोंका काल शेष है। इसके पश्चात् भी ७ मन्वन्तर इस सृष्टिके और बीतने हैं।

ओं पृथ्वी त्वया धृता·········

अर्थ—पृथ्वी प्राणियोंका धारण और पालन कर रही है। यह पृथ्वी परमात्माके सहारे कायम है। इस पृथ्वीकी पवित्रता से हमारा आसन पवित्र हो अर्थात् संध्या जिस स्थानमें की जावे वह शुद्ध और पवित्र होवे। भूमिको धोकर वा लीपकर पवित्र कर लेना चाहिये। पीछे उसपर शुद्ध आसन बिछाकर सन्ध्या के लिये बैठना चाहिये। स्थानकी पवित्रता नहीं होनेसे सन्ध्यामें ध्यान नहीं जम सकेगा, अतएव स्वच्छ शुद्ध और पवित्र स्थान और आसनकी सन्ध्याके लिये बड़ी आवश्यकता है।

अघमर्षण सूक्त·········

अर्थ—उस परमात्माके अतुल सामर्थ्य और ज्ञानमय विधान से ऋत अर्थात् त्रिकालाबाधित नित्य सत्य वेद ज्ञानरूप एवं व्यावहारिक सत्य प्रकट होते हैं। वही प्रभु सृष्टिके उपरान्त महारात्रि अर्थात् महाप्रलय करनेवाला है। प्रलयके अनन्तर सृष्टिकी रचना भी वही करता है। उसीसे क्षोभयुक्त अर्थात् हलचल से भरा आकाश प्रकट होता है। (प्रलयावस्थामें क्षोभ रहित शान्त प्रकृति में जब सृष्टि की इच्छासे परमात्मा प्रथम गति देता है तो

प्रकृतिके परमाणुओं में विकम्पन पैदा होता है। एक हलचल सी पैदा होती है। अनन्त आकाश, जो प्रलयावस्थामें प्रकृतिके बिखरे हुए सूक्ष्म परिमाणुओंसे भरा होता है, सृष्टि क्रिया आरम्भ होनेके कारण परमाणुओंके सिमटने से अवकाश युक्त हो जाता है इसीको आकाश का प्रकट होना कहा गया है)। तदुपरान्त संवत्सर अर्थात् सन्धिकाल होता है (सृष्टि क्रियाके आरम्भके बादसे सूर्य चन्द्रकी उत्पत्ति एवं दिन-रातके विधान होने तकका काल सन्धिकाल है और इसीका नाम यहां पर सम्वत्सर है। स्वभावसे विश्वको वशमें रखनेकी सर्वशक्तिमत्ता से युक्त वह प्रभु फिर दिन एवं रात्रिका विधान करता है। सूर्य और चन्द्रमाको, द्युलोक, पृथ्वीलोक, अन्तरिक्ष एवं प्रकाशमान नक्षत्रपुञ्जोंको उस प्रभुने पूर्व सृष्टिमें जैसा बनाया था वैसा ही इस सृष्टिमें भी बनाया है।

व्याख्या—ये मन्त्र अघमर्षण मन्त्र कहलाते हैं। अघमर्षण का अर्थ है पापका दूरीकरण। किया हुआ पाप विना फल भोगके नष्ट नहीं हो सकता क्योंकि 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' अर्थात् शुभ वा अशुभ किसी प्रकारके भी कर्मका फल भोग करना अनिवार्य है, यह शास्त्रोंकी स्पष्ट आज्ञा है। अतएव अघमर्षण मंत्रोंके जपका विधान इसी कारण है कि पाप कर्मके करनेसे जो और पाप करनेकी वासना मनमें उत्पन्न होती है वह पाप वासना मनसे मिट जावे और उपासक आगे आने वाले पापरूप दुःखसे वच जावे।

आवश्यक है कि मनुष्य जिन कारणोंसे असत् आचरण करता है उन कारणोंको ही उत्पन्न न होने देवे। मनुष्य भयसे अथवा अभिमानसे—इन दो कारणोंसे ही पाप किया करता है। भयके कारण ही हम असत्य बोलते हैं, भयके कारण हम किसी का अनिष्ट करना चाहते, असूया आदि करते हैं। अभिमानसे अपनेको बहुत बड़ा समझकर हम अत्याचार, उत्पीड़न, कटुभाषण आदि करते हैं। ऊपरके मन्त्रोंमें बताया गया है कि वह, प्रभु जिसकी हम सन्तान हैं, प्रेमभाजन हैं, भक्त और उपासक हैं, इस विश्व ब्रह्माण्ड का रचयिता है, उसका धारक और पालक है, वह इतने विशाल प्रकाशपुञ्ज सूर्यादि का बनानेवाला और बार-बार प्रत्येक कल्प में बनाने और धारण करनेवाला है। वह समग्र संसार को वशमें रखनेवाला है ऐसा करना उसका स्वभाव ही है, इसमें उसे किंचिन्मात्र भी श्रम या आयास नहीं होता तो हमारी रक्षा करने में उसे क्या देर लगेगी, हम क्यों भय करें? यदि हम अपने को सबसे बड़ा, बहुत प्रतापशाली एवं पराक्रमी समझ अभिमान के मद में भर जाते हैं तो ये मन्त्र हमें बतायेंगे कि जो प्रभु इन प्रकाण्ड एवं अगणित लोक-लोकान्तरों का संहार कर देता है, जो पल में प्रलय कर सकता है, सहस्रबाहु एवं दशवदन आदि दुर्मद नरपति-गण जिसकी संहार-लीलासे बच न सके, उसकी विशाल सृष्टि में हम एक क्षुद्र कीट से बढ़कर हैं ही क्या? ऐसे विचार मनमें आते ही हम पाप कर्मों के करने से विरत हो जायंगे।

सूर्यश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च······

अर्थ—समस्त चराचर जगत् की आत्मा (प्राणाधार) मन्यु स्वरूप (दुष्टोंपर क्रोध करनेवाला) परमात्मा, मन्युपति अर्थात् लोक कल्याणार्थ दुष्टोंपर क्रोध करनेवाले महात्मागण) हमें मन्युके पापों से बचावें। रातमें हमने मन, वचन, हाथ, पांव, उदर एवं जननेन्द्रिय से जो कुछ पाप किये हैं, हम से जो भूलें हुई हैं रात उन्हें समाप्त कर देवे (वैसी गलती अब हम दिन में न करें।) मुझमें जो कुछ भी खोटी आदतें हों, बुरे करने की प्रवृत्ति हो उसे हम प्रातःकाल अमृत परमात्मासे उत्पन्न सूर्य की प्रचण्ड रश्मि में हवन कर देवें, स्वाहा कर देवें। (संध्यावन्दन के लिये बैठा हुआ उपासक सच्चे हृदयसे अपने गत रात्रि के किये हुए अनुचित कर्मों के लिये पश्चात्ताप करता है एवं सर्वद्रष्टा प्रभु को साक्षी करके व्रत लेता है, शुभ संकल्प करता है कि वह दिन में फिर ऐसी गलती नहीं करेगा।)

वेद में परमात्मा को 'मन्यु' कहा है और उससे मन्यु की याचना भी की गयी है। मन्यु का मोटा अर्थ तो क्रोध हो सकता है परन्तु 'मन्यु' और क्रोध में पृथ्वी और आकाश का अन्तर है। क्रोध एक पाप है और दश लक्षण जो धर्म के बताये गये हैं उनमें एक अक्रोध (क्रोध त्याग) भी है। परन्तु मन्यु परमात्माका स्वरूप है एक वरणीय वस्तु है। क्रोध मानसिक, शारीरिक किंवा आत्मिक दुर्बलता के कारण उत्पन्न होता है। इससे मनुष्य आपे

में नहीं रहता, सत् असत् के विवेक से रहित हो जाता है, निरपराधों का हनन एवं आत्महत्या तक कर सकता है। मन्यु शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक शक्ति से— नितान्त निर्भयता से प्रादुर्भूत होता है। यह लोक हित की पवित्र भावना से, संसार से बुराइयों का उच्छेदन कर देने की शुभ प्रेरणासे अन्यायियों एवं आततायियों से साधु, सज्जन, धर्मात्मा पुरुषों की रक्षा करनेके पावन उद्देश्यसे राम, कृष्ण आदि जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम उत्पन्न होते हैं जिनसे रावण, कंसादि लोककंटकों का संहार होता है, संसार का त्राण होता है। प्रत्येक मनुष्य में मन्यु का होना वाञ्छनीय है। हमें अन्याय, अत्याचार, उत्पीड़न, जहाँ कहीं भी हो, दूर करने का, उनको उन्मूलन करने का, सदा प्रयत्न करना चाहिये। हम अपनी दुर्बलता के कारण कदापि अत्याचारियों को प्रोत्साहन न देवें क्योंकि अत्याचार का सहन करनेवाला अत्याचारी से कम दोषी नहीं है। मन्यु वह शक्ति है जिससे गृहस्थाश्रमकी व्यवस्था ठीक रह सकती है, संतान आज्ञाकारी एवं सन्मार्गगामी होती है, शिष्य अपने कर्त्तव्य-पथपर चलता है, पड़ोसी-पड़ोसी के साथ सद्भावापन्न होते हैं, राज्य की शासन व्यवस्था ठीक चलती है, वर्णाश्रम की मर्यादा बनी रह सकती है। भक्त उसी मन्युके प्रयोगमें कहीं पर भूल हो जाने (जो सम्भव नहीं है) और उसके क्रोध का रूप धारण कर लेने की गलती से बचने का सङ्कल्प यहाँ पर करता है। इसमें परमात्मा के मन्यु रूप का चिन्तन, मन्युपति (मन्यु करने-

वाले महात्माओं) के सङ्ग और उपदेश बड़े सहायक हो सकते हैं।

मनवचनके शुभ-अशुभ कर्मों का उल्लेख इस पुस्तक के प्रथम खण्ड पृष्ठ ८१-८२ पर विस्तृत रूप से हुआ है। हाथके पाप हैं असत् वस्तु का ग्रहण, अनुचित दण्डनिपात (दूसरे को मारना)। पांव का पाप है अगन्तव्य स्थानों में जाना। अति भोजन, अभक्ष्य भक्षण आदि उदर के पाप हैं। केवल इन्द्रिय लोलुपता से बिना ऋतुकाल आदि विचार किये हुए विषय-सेवन, दाम्पत्य-प्रसङ्ग जननेन्द्रिय के पाप हैं। पूर्व रात्रि में किये हुए इनमें से किसी भी दोष के लिये ग्लानि प्रकट करते हुए प्रतिदिन प्रातःकाल यदि मनुष्य परमात्मा से सच्चे हृदय से प्रार्थना करता है और उन दुर्गुणों को छोड़ने के लिये कृत संकल्प होता है तो आगे दिन निश्चय है, वह ऐसे पापों से बच जायगा।

टि०—आवश्यक सुधार के साथ यही अर्थ मध्याह्नकाल और सायं सन्ध्या के समय पठनीय पाप क्षयार्थ मंत्र के भी जानने चाहिये।

आपो हिष्ठा मयोभुवः······

मार्जनके ये मंत्र यजुर्वेद अध्याय ३६ के तीन मंत्रों (१४, १५ एवं १६) के प्रतीक हैं। यथा—

आपो हिष्ठा मयोभुवस्तान ऊर्जे दधातन।
महे रणाय चक्षसे॥

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः।
उशतीरिव मातरः॥
तस्मा अरङ्ग मामवः यस्य क्षयाय जिन्वथ।
आपो जनयथा च नः॥

अर्थ—जल सुख, शान्ति और आनन्दका देनेवाला है। वह हमें बल देवे जिससे हम प्रसिद्ध रण (जीवन संग्राम) के लिये समर्थ हो सकें।

जलका जो सबसे अधिक कल्याणकर रस (अन्न) है वह परमात्मा की कृपा से जल हमें प्राप्त करावे। जल हमारे लिए स्वसन्तानके लिये उत्कण्ठित माताके समान कल्याणकारी होवे।

जलजिस (अन्न) के क्षय अर्थात् निवासके लिये औषधियों को पुष्ट करता है वह अन्न हमें परमात्मा की कृपासे पुष्कल परिमाणमें प्राप्त होवे। जल हमें सन्तति उत्पन्न करनेकी शक्ति देवे।

ऊपरके मन्त्रोंमें जल की अद्भुत शक्ति और उससे शरीरका मार्जन करने अर्थात् माजने, धोने, शुद्ध पवित्र करनेकी आवश्यकता सुन्दर ढंगसे वर्णन की गयी है। जलके संस्कृत में सकड़ों नाम हैं जो उसके चमत्कारिक गुणोंका निदर्शन करते हैं। उनमें एक नाम 'जीवन' भी है दूसरा नाम 'अमृत' भी। यजुर्वेदमें जहांपर ये मन्त्र हैं वहीं इन मन्त्रों के बादवाले ही मंत्रमें जलको 'शिव' शिवतम 'शान्त' 'शान्ततम' और 'भेषज' (औषध) कहा गया है। 'शिवतम' और 'शान्ततम' शब्द ही

बतला रहे हैं कि संसारमें जलसे बढ़कर शान्तिदायक, इससे अधिक कल्याणकर और दूसरी वस्तु नहीं है। अन्तिम समयमें जलकी कुछ बूंदें ही तो कंठ से नीचे उतारने का यत्न किया जाता है। मूर्छामें जल के छींटे ही चेतना लाने के लिये आवश्यक समझे जाते हैं।

प्रथम मंत्र में संग्राम का उल्लेख है और उस संग्राम के लिये वाञ्छित शक्ति की प्रार्थना की गयी है।

अब हमारी लड़ाई कौनसी है इसपर कुछ शब्दोंमें प्रकाश डालना उचित है। जानकार लोगों का कहना है कि जीवन एक संग्राम है और हम लड़कर ही जीवित रह सकते हैं। (शक्तिमान् और सतर्क रहकर) एक क्षण भी हम प्रमाद (गफलत) करें तो, हमारी ऐहिक लीला समाप्त हो जाय। संसार की सारी प्राकृतिक शक्तियां, सारे जड़जङ्गम हमारी सेवा के लिये हैं, ऐसा हमको अभिमान होता है। सचमुच कुछ अंशों में यह है भी ठीक। हमने दुर्गम समुद्रों के उत्ताल तरंगोंपर अपनी नौकाएं चलाईं; हमने घने जङ्गलों को काटकर बस्तियां बसाईं। दुर्दान्त सिंहों और हाथियों को अंगुलियों के इशारे पर नचाया; हमने बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित किये; बड़े-बड़े आखाड़े मल्लोंको पछाड़ा। पर क्या जिन-जिन पर हमारी विजय हुई वा होती है उन सबों ने स्वयं ही हमारे सामने आत्म-समर्पण कर दिया वा करते हैं वहां; हमको उनसे लड़ना पड़ता है; उनसे हमारा तुमुल युद्ध होता है। सबके सब यों ही हमारा अस्तित्व मिटाने पर तुले बैठे हैं;

पर जब हम लड़ाई में अपने पुरुषार्थ द्वारा उनपर विजय प्राप्त करते हैं तब वे हमारे दास हो जाते हैं, अन्यथा नहीं। कमजोर को तो सब मार ही डालना चाहते हैं।

यह पृथिवी जिसपर हम चलते हैं वा खड़े होते हैं वह भी जैसा कि हमें वैज्ञानिक बतलाते हैं आकर्षण शक्ति से युक्त हैं और वह प्रत्येक क्षण प्रत्येक पदार्थ को बड़े बलसे अपनी ओर खींच रही है। हम पृथिवी पर खड़े तभी तक रह सकते हैं जब तक हम सजग हैं, चौकस हैं, पृथिवी के आकर्षण का सामना करने में समर्थ हैं। जरासा ऊंघ जांय, पृथिवी हमको गिराकर अपने ऊपर सुला देगी, कदापि खड़ा रहने या चलने नहीं देगी। सोया मनुष्य या मूर्छित मनुष्य कदापि खड़ा नहीं रह सकता। जल, वायु, अग्नि सब हमें प्राणशक्ति देते हैं परन्तु ये तभी तक हमें शक्ति देंगे जबतक हममें शक्ति है और अपनी शक्ति के द्वारा हम इनसे उपयोग ले सकते हैं। न्यूमोनिया का रोगी जल में स्नान कर या खुली वायु में सोकर जीवित न रहेगा। हम कहते हैं कि हम हाथी को, सिंह को, वश कर लेते हैं पर हम में क्या ऐसे व्यक्ति भी नहीं है जो प्रति दिन इन पशुओं के शिकार बनते हैं। सिंह व्याघ्रका तो कहना ही क्या, हम जरा सा निश्चेष्ट होकर पड़जांय तो गीदड़ हमें खा जायं, कौए हमारी आंखें निकाल लें। निकम्मे, आलसी होनेपर तो हमें मच्छड़ तक मार डालने के लिये पर्याप्त हैं। मलेरिया कितना भयंकर रोग है, कितने मनुष्य इससे प्रतिवर्ष कालकवलित हो जाते हैं ? इसके दूत मच्छड़ ही तो हैं ?

'अन्न' के अर्थ इस पुस्तक में अन्यत्र कहीं लिखे गये हैं। इसके दो अर्थ हैं—(१) जिसको प्राणी खाते हैं (२) जो प्राणियों को खा जाता है। वास्तव में परिश्रमी, पुरुषार्थी, नीरोग, बलवान् मनुष्य ही अन्न को खा जाता है। निकम्मे, आलसी, रोगी, दुर्बल मनुष्य को अन्न ही खा जायगा। मेवों में भी बड़ी ताकत है ठीक है, पर जिसको नारंगी खाने पर भी खट्टी डकारें आती हैं वह मेवे खाकर जीवित न रहेगा। तो यह सिद्ध है कि अन्न हमारे पेट में जाकर हमसे लड़ते हैं। उनसे लड़कर यदि हम उनका अस्तित्व मिटा देवें अर्थात् अन्न को पचाकर उनका रस, रक्त, मांस, मज्जा आदि सप्त धातुओं के रूपमें परिवर्तन कर देवें तब तो हम अन्नसे यथार्थ लाभ उठा सकेंगे हमारा अस्तित्व बना रह सकेगा और यदि अन्न पेट में जाकर हमारे पाकयन्त्रमें ज्यों के त्यों बने रहें हम उन्हें परास्त न कर सकें तो वे हमारे लिये सब प्रकार से दुःखदायी ही होंगे।

शारीरिक शक्ति के लिये, शरीर के बने रहने के लिये, अन्नके परिपाक के लिये (अर्थात् अन्न से लड़कर उनपर विजय प्राप्ति द्वारा उन्हें शरीर के लिये लाभदायक बनाने हेतु) जल की नितान्त आवश्यकता है।

इन मन्त्रोंमें जलसे अन्नकी उत्पत्ति होती है और उससे प्रजा की उत्पत्ति होती है यह बात भी बतलाई गई है। अन्न उत्पन्न करना और प्राप्त करना तथा गृहस्थाश्रम में योग्य सन्तान उत्पन्न करना इसकी अवस्था की ओर भी संकेत है।

द्रुपदादिव.........

अर्थः—जल हमें पापों से सर्वथा पृथक् रखे। जिस प्रकार वृक्ष से फल टूटकर उससे सदा के लिये अलग हो जाता है उसी प्रकार पाप हमारे पास फिर न आवे। जिस प्रकार पसीनेसे जो शरीरपर मैल जम गया है वह मैल स्नान करनेसे दूर हो जाता है उसी प्रकार पाप हमसे दूर हो जावे और हम शुद्ध और पवित्र हो जावें। जिस प्रकार वस्त्रसे छाना हुआ जल कीटाणुओंसे रहित हो जाता है वैसे ही जलके द्वारा हम शरीर और मनको पवित्र, निर्मल और निष्पाप कर लेवें।

जल शरीर को पवित्र करता है यह तो हम जानते ही हैं। मन आदि की पवित्रता भी इससे हो सकती है क्योंकि निर्मल शरीर में ही निर्मल मनका वास हो सकता है। यों भी जब कभी आलस्य, निद्रा, तन्द्रा आदि के कारण हम पुरुषार्थहीन हो रहे हों जल से मुंह-हाथ धो लेने से या जल के छींटे मारने से भी हमारी निद्रा, तन्द्रा दूर हो जाती है, हमारा आलस्य भाग जाता है, हम सचेष्ट और स्फूर्तियुक्त हो जाते हैं। काम और क्रोध के वेग भी जल पीने, स्नान करने, जल स्पर्श करने आदि से शान्त होते हैं, यह भी अनुभव-सिद्ध बात हैं। इसलिये जलकी इतनी उपयोगिता यहां पर कही गयी है।

हां, यह भी नहीं भूलना चाहिये कि हम केवल स्नान ही करते रहें और मनको सत्य संयम, कुवासनात्याग आदिके द्वारा पवित्र

करनेका यत्न न करें तो हमारे पाप स्नानमात्रसे न धूलेंगे चाहे हम गङ्गोत्तरी में स्नान करें, चाहे गङ्गासागर में। अतः समयानुकूल उपयोग करना चाहिये। क्योंकि प्रत्येक वस्तुकी एक सीमा होती है और प्रत्येक कार्यका सीमित फल। इस सीमाको समझनेमें ही बुद्धिमानी है।

अन्तश्चरसि भूतेषु……..

अर्थ—जल सारे शरीरधारियोंके शरीरके अन्दर है, हृदयाकाशमें है, सब ओर है। देवों और पितरोंके संस्कारमें प्रयुक्त होता है यह ज्योति रस और अमृत है। इन्हीं विशेषणोंसे युक्त परमात्माकी स्तुति भी इस मन्त्रमें अभिप्रेत है।

उपस्थान मन्त्र

१—उद्वयं तमसस्परि…

अर्थ—हम अन्धकारसे परे, प्रकाशरूप वा आनन्दरूप, सब कुछ देखनेवाले, सृष्टिके बाद (प्रलयकालमें) भी वर्तमान रहने वाले प्रकाशस्वरूप, देवोंके रक्षक, सर्वश्रेष्ठ, ज्योतिस्वरूप, सूर्य (भगवान्) को प्राप्त करें।

२—उदुत्यं जातवेदसं…

अर्थ—उस प्रसिद्ध, वेदज्ञानके प्रकाशक, चराचर जगत्की आत्मा देवको दिखानेके लिये उसकी विचित्र रचना रूप पताकायें भलीभांति प्रकट करती हैं। (अर्थात् इस जगतकी विचित्र चमत्कार युक्त रचना आदि पताकाओंके रूपमें प्रभुकी

महिमा विश्व संसारके समस्त मनुष्योंको दिखा रही हैं, भक्त प्रभु की सृष्टिचातुरी और उसकी अपरम्पार लीलाका दर्शन करके ही प्रभुकी सत्ताकी अनुभूति कर लेते हैं।)

३—चित्रं देवानामुदगाद्...

अर्थ—वह ईश्वर उपासकोंका विचित्र बल, वायु जल और अग्निका प्रकाशक, सूर्य और पृथ्वी आदि लोकों तथा अन्तरिक्षका धारक, प्रकाशस्वरूप, जङ्गम और स्थावरकी आत्मा है।

४—तच्चक्षुर्देव...

अर्थ—वह प्रसिद्ध प्रभु सर्वद्रष्टा उपासकोंका हितकारी, पवित्र, सृष्टि के पूर्व से वर्तमान है। उसकी कृपासे हम सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक जीवें, सौ वर्ष तक सुनें, सौ वर्ष तक बोलें, सौ वर्ष तक स्वतन्त्र रहें और सौ वर्ष से अधिक भी ऐसे ही रहें।

व्याख्या—इन मन्त्रोंका नाम उपस्थान मन्त्र है। उपस्थान शब्दका अर्थ है (उप-समीप स्थान अवस्थित होना) समीप जाना पहुंचना। समीप होनेके लिये, निकट पहुंचनेके लिये, आवश्यक है कि जिसके समीप जाया जाय उसके अनुकूल अपना गुण कर्म स्वभाव बनाया जाय।

गायत्री

ओ३म् भूः (प्राण स्वरूप) भुवः (दुःखहर्त्ता) स्वः (आनन्द स्वरूप) सवितुः (सकल जगत्के उत्पत्तिकर्त्ता) देवस्य (दिव्यगुणयुक्त, स्वतः प्रकाशमान देवके) तत् (उस प्रसिद्ध) वरेण्यं

(वरण करने योग्य श्रेष्ठ) भर्गः (तेज, सामर्थ्य किंवा महिमाको) धीमहि (हम ध्यान करें धारण करें अपनावें) यः (जो प्रभु) नः (हमारी) धियः (बुद्धियोंको) प्रचोदयात् (प्रेरित करे, अशुभ मार्गसे हटाकर शुभ मार्गमें लगावें)।

व्याख्या—विश्वब्रह्माण्डमें मनुष्यको ही वेदने परमात्माका अमृतपुत्र कहा है। The lord of the creation, अशरफ उल्मखलूकात इत्यादि शब्दसमूहों द्वारा अन्य मतावलम्बी लोगों ने भी मनुष्यको सृष्टिका सर्वश्रेष्ठ प्राणी कहा है। अब देखना यह है कि मनुष्यकी श्रेष्ठता और प्राणियोंकी तुलनामें है किस बातमें ? और प्राणियों पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो हम देखते हैं कि बहुतसे प्राणी ऐसे हैं जो मनुष्यकी अपेक्षा शारीरिक बदलेमें, श्रवण, घ्राण एवं दृष्टि शक्ति आदिमें कहीं बढ़े हुए हैं। मनुष्यको न तो हाथीके जैसा शारीरिक बल है, न गरुड़की जैसी दृष्टि, न सर्पकी जैसी श्रवणशक्ति, न कुत्ते आदिकी जैसी घ्राण शक्ति ही है। हम न तो पक्षियोंके जैसे उड़नेके साधनों से युक्त हैं, न मछलियों की तरह हममें तैरने की ही शक्ति है। परन्तु एक वस्तु हममें है जो औरों को नहीं दी गई है। वह है हमारी बुद्धि। हमारी बुद्धि ऐसी है कि हम उसका मनमाने ढङ्गसे विकास कर सकते हैं। बुद्धिके विकाससे हम उन सारी कमियोंको पूरी कर सकते हैं जो और प्राणियोंकी तुलनामें हममें हैं। हम उससे कहीं आगे भी जा सकते हैं। हमें पंख नहीं हैं पर हम वायुयान के आविष्कारसे उड़ सकते हैं, नौका जहाज

आदि बना कर बड़े-बड़े समुद्रोंको पार कर सकते हैं। अपनेसे कहीं अधिक शारीरिक शक्ति रखनेवाले प्राणियोंको अपनी अंगुली के इशारे नचा सकते हैं, बड़े-बड़े दुर्दान्तोंके मद चूर कर सकते हैं, सारे विश्व पर राज्य कर सकते हैं, बड़े-बड़े आश्चर्य-कर कार्य कर सकते हैं। पर सारा चमत्कार मानवी बुद्धिका ही तो है आवश्यकता है कि इस बुद्धिका समुचित विकास हो। यह परमात्मप्रेरित और शुभमार्गगामिनी हो। प्रभुभक्त आस्तिककी परमात्मप्रेरित बुद्धिसे जहाँ विश्वके अधिकसे अधिक प्राणियोंका कल्याण हो सकता है वहाँ विपरीतगामी दूसरे प्रकारके लोगोंकी विपरीत बुद्धिसे विश्वमें अशांतिकी सृष्टि होगी। इसलिए गायत्री मंत्र (गायत्रीका अर्थ है गायन्तं त्रायते अर्थात् जो जपनेवालेका त्राण करे) जो वेद माता गुरु मंत्र, सावित्री मन्त्र इत्यादि नामोंसे वेदके सर्वश्रेष्ट मंत्रके रूपमें परिगणित है हमें प्रभुसे और कुछ न मांगकर धारणावती प्रभुप्रेरित कल्याणकारिणी बुद्धिकी मांग करना ही बतलाना है। सचमुच संसारकी सारी विभूतियाँ पवित्र बुद्धि के अभावमें बेकार है।

गायत्री हमें और एक बड़ी महत्वपूर्ण शिक्षा देती है कि हम उस परमप्रभुकी महिमाको उसके दिव्य गुणोंको यथाशक्ति अपने अन्दर धारण करें। प्रभुके श्रेष्ट और पवित्र गुण कर्म स्वभावको यथा सम्भव अपनावें। अपने जीवनको शुद्ध पवित्र और उच्च बनावें। यदि हम ऐसा नहीं करते और मशीन की तरह केवल गायत्री के शब्दों को दुहराकर अथवा बार-बार बोलकर अपने को

कृतार्थ समझते हैं तो हम भूल करते हैं क्योंकि शास्त्र स्पष्ट कहते हैं—"आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः" एक गायत्री मन्त्र क्या समस्त वेद भी उसको पवित्र नहीं कर सकते जो तदनुकूल आचार (आचरण) नहीं रखता। मनुमहाराज तो हमें यहां तक बताते हैं कि—

वेदास्त्यागाश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥

वेद, त्याग, यज्ञ, नियम तप ये कुछ भी आचार हीन दुष्ट भावोंसे युक्त मनुष्यके सिद्ध नहीं हो सकते।

उस प्रभुको तद्गत होकर अपनानेकी अनिवार्य आवश्यकता है। ऋग्वेद कहता है—'यतस्तं न वेद किमृचा करिष्यति' जो उस प्रभुको न जानता (न मानता) वेदकी ऋचाएं उसका कुछ नहीं कर सकती हैं, उसका उद्धार नहीं कर सकती हैं।

गायत्री ध्यान और आवाहन मंत्रोंमें गायत्री मंत्रको देवता कहा गया है। दिव्य अर्थोंके प्रकाशक होनेसे मंत्रको देवता कहा जाता है। गायत्री मन्त्रकी बड़ी महिमा ऋषियोंने गाई है। इस सम्बन्धमें गायत्री मन्त्रकी व्याख्या करते समय विशेष प्रकाश डाला गया है वहीं देखना चाहिये।

उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका।
अधमा सूर्य सहिता प्रातः सन्ध्या त्रिधामता॥

ॐ शान्तिः! ॐ शान्तिः!! ॐ शान्तिः!!!

तर्पणविधिः

पूर्वाभिमुख होकर बायें कन्धेपर गमछा रखकर दोनों हाथोंकी अनामिका अंगुलीकी जड़में पवित्री तथा दाहिनी कटिमें मोटक धारण करे और हाथमें मोटक एवं जल लेकर संकल्प वाक्यके अन्त "देवर्षिपितृ-तर्पणमहं करिष्ये" कहकर संकल्प जल छोड़ देवे।

आवाहन

ब्रह्मादयः सुराः सर्वे ऋषयः सनकादयः।
आगच्छन्तु महाभागा ब्रह्माण्डोदरवर्त्तिनः॥

देवतीर्थ अर्थात् हाथोंके अग्रभागसे चावल सहित प्रत्येकको एक-एक अञ्जलि जल देवे।

ओं ब्रह्मा तृप्यताम् ओं विष्णुस्तृ० ओं रुद्रस्तृ० ओं प्रजापतिस्तृ० ओं देवास्तृप्यन्ताम् ओं छन्दांसितृ० ओं वेदास्तृप्यन्ताम् ओं ऋषयस्तृ० ओं पुराणाचार्यास्तृ० ओं गन्धर्वास्तृ० ओं इतराचार्यास्तृ० ओं संवत्सरःसावयवस्तृ० ओं देव्यस्तृप्यन्ताम् ओं अप्सरसस्तृ० ओं देवानुगास्तृ० ओं नागास्तृ० ओं सागरास्तृ० ओं पर्वतास्तृ० ओं सरितस्तृ० ओं मनुष्यास्तृ० ओं यक्षास्तृ० ओं रक्षांसितृ० ओं पिशाचास्तृ० ओं सुपर्णास्तृ० ओं भूतानितृ०

ओं पशवस्तृप्यताम् ओं वनस्पतयस्तृ० ओं ओंपधयस्तृ० ओं भूतग्रामश्चतुर्विधस्तृप्यताम् ॥

ऋपियोंको चावल सहित एक-एक अञ्जलि देवतीर्थ से देवें।

ओं मरीचिस्तृप्यताम् ओं अत्रिस्तृ० ओं अङ्गिरास्तृ० ओं पुलस्त्यस्तृ० ओं पुलहस्तस्तृप्यताम् ओं क्रतुस्तृ० ओं प्रचेतास्तृ० ओं वशिष्ठस्तृ० ओं भृगुस्तृ० नारदस्तृ० ॥ ततः उत्तराभिमुखः कंठीकृत्वा।

उत्तराभिमुख होकर जनेऊ तथा अंगोछेको कण्ठी करके प्रजापति तीर्थसे अर्थात् दोनों हाथोंके पहुंचोंके बीचमें से यव सहित मोटक के मध्यभाग से प्रत्येक को दो-दो अञ्जलि देवें।

ओं सनकस्तृप्यताम् २ ओं सनन्दनस्तृप्यताम् २ ओं सनातनस्तृ० २ ओं कपिलस्तृ० २ ओं आसुरिस्तृ० २ ओं वोढ़ुस्तृ० २ ओं पञ्चशिखस्तृ० २ ॥ ततोऽपसव्यं दक्षिणाभिमुखो पातितवामजानुः।

दक्षिणाभिमुख होकर अपसव्य अर्थात् जनेऊ और अंगोछे को दाहिने कन्धेपर करके वायें घुटने को मोड़कर मोटक का मूलभाग आगे करके पितृतीर्थ अर्थात् अंगूठे और तर्जनी के मध्य से तिल सहित प्रत्येक को तीन-तीन अञ्जलि देवे।

ओं कव्यवाट् तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्मै स्वधा नमः ३ ओं नलस्तृप्यतामिदं तिलो० ३ ओं सोमस्तृप्यतामिदं तिलो० ३ ओं यमस्तृप्यतामिदं तिलो० ३ ओं अर्यमा तृप्यतामिदं तिलो० ओं अग्निष्वात्तास्तृप्यन्तामिदं तिलोदकं तेभ्यः स्वधा ३ ओं सोमपास्तृप्यन्तामिदं तिलो० ३ ओं बर्हिषदस्तृप्यन्तामिदं तिलो० ३ ॥

१४ यमों को तीन-तीन अञ्जलि देवे।

ओं यमाय नमः ३ ओं धर्मराजाय नमः ३ ओं मृत्यवे नमः ३ ओं अन्तकाय नमः ३ ओं वैवस्वताय नमः ३ ओं कालाय नमः ३ ओं सर्वभूतक्षयाय नमः ३ ओं औदुम्बराय नमः ३ ओं दध्नाय नमः ३ ओं नीलाय नमः ३ ओं परमेष्ठिने नमः ३ ओं वृकोदराय नमः ३ ओं चित्राय नमः ३ ओं चित्रगुप्ताय नमः ३ ॥

पितृलोक से आते हुए पितरों का ध्यान करते हुए आवाहन करे।

आगच्छन्तु मे पितर इमं गृह्णन्त्वपोऽञ्जलिम् ॥

नीचे लिखे वैदिक मन्त्रोंसे पिता, पितामह और प्रपितामहको अञ्जलि देवे। यदि वैदिक मन्त्र उच्चारण न कर सके तो केवल

"ॐ अद्यामुक गोत्रोऽस्मत्" लिखा है वहाँ से बोलकर तीन-तीन अञ्जलि देवे।

ओं उदीरतामवरऽउत्परासऽउन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः। असुंयऽईयुरवृकाऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ ओं अद्यामुकगोत्रोऽस्मत्पिता*वसुस्वरूपस्तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्मै स्वधा ॥ (पहली अञ्जलि देवे) ॥

ओं अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वाऽअथर्वाणो भृगवः सोम्यासः। तेषां वयऽसुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ओं अद्यामुकगोत्रोऽस्मत्पिता* वसुस्वरूपस्तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्मै स्वधा ॥ (दूसरी अञ्जलिदेवे) ॥

ओं आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः। अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्। ओं अद्यामुक गोत्रोऽस्मत्पिता * वसुस्वरूपस्तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्मै स्वधा ॥ (तीसरी अंजलिदेवे ॥

ओं ऊर्ज्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्। स्वधास्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥ ओं अद्यामुकऽगोत्रोस्मत्-

पितामहः रुद्रस्वरूपस्तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्मै स्वधा ॥ (पहली अञ्जलि देवे) ॥

ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । अक्षन्नपितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृप्यन्त पितरः पितरः शुन्धध्वम् ॥ ओं अद्यामुकगोत्रोऽस्मत्पितामहः रुद्रस्वरूपस्तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्मै स्वधा ॥ (दूसरी अञ्जलि देवे) ॥

ओं ये चेह पितरो ये च नेह याँश्च विद्म याँ२ उ च न प्रविद्म । त्वं वेत्थ यदि ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञंसुकृतं जुषस्व ॥ ओं अद्यामुकगोत्रोऽस्मत्पितामहः रुद्रस्वरूपस्तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्मै स्वधा ॥ (तीसरी अञ्जलि देवे) ॥

ओं मधुवाताऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥ ओं अद्यामुकगोत्रोऽस्मत्प्रपितामह * आदित्यस्वरूपस्तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्मै स्वधा ॥ (पहली अञ्जलि देवे) ॥

ओं मधुनक्तमुतोपसो मधुमत्पार्थिव ँ रजः मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥ ओं अद्यामुकगोत्रोऽस्मत्प्रपितामह * आदित्यस्वरूपस्तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्मै स्वधा ॥ (दूसरी अञ्जलि देवे) ॥

ओं मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमांऽअस्तु सूर्यः माध्वी-र्गावो भवन्तु नः ॥ ओं अद्यामुकगोत्रोस्मत्प्रपितामह * आदित्यस्वरूपस्तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्मै स्वधा ॥ (तीसरी अञ्जलि देवे) ॥

नीचे लिखा प्रत्येक वार वोलकर एक-एक अञ्जलि देवे ।

ओं तृप्यध्वम् । ओं तृप्यध्वम् । ओं तृप्यध्वम् ।

माता, दादी और परदादी को तीन-तीन अञ्जलि देवे ।

ओं अद्यामुकगोत्रास्मन्माता अमुकी * देवी गायत्री-स्वरूपिणी तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्यै स्वधा ॥ ३ ॥ (माता) ॥

ओं अद्यामुकगोत्रास्मत्पितामही अमुकी * देवी सावित्रीस्वरूपिणी तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्यै स्वधा ॥३॥ (दादी) ॥

ओं अद्यामुकगोत्रास्मत्प्रपितामही अमुकी * देवी सरस्वतीस्वरूपिणी तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्यै स्वधा ॥३॥ (बूढ़ी दादी) ॥

नाना, परनाना और वृद्धपरनाना को नीचे लिखे मन्त्रको प्रत्येक बार बोलकर तीन-तीन अञ्जलि देवे। यदि वैदिक मन्त्र उच्चारण नहीं कर सके तो केवल "ॐ अद्यामुक गोत्र" से बोलकर तीन-तीन अञ्जलि देवे।

ओं नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरः शोषाय नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो मन्यवे नमो वः पितरः पितरो नमो वो गृहान्नः पितरो दत्तसतो वः पितरो देष्मैतद्वः पितरो वास आधत्त ॥ ओं अद्यामुकगोत्रोऽस्मन्मातामहो * वसुस्वरूपस्तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्मै स्वधा ॥ ३ ॥ (नाना) ओं अद्यामुकगोत्रोऽस्मत्प्रमातामहो * रुद्रस्वरुपस्तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्मै स्वधा ॥ ३ ॥ (परनाना) ॥ ओं-अद्यामुकगोत्रोऽस्मद्वृद्धप्रमातामह * आदित्यस्वरूपस्तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्मै स्वधा ॥ ३ ॥ (वृद्ध परनाना) ओं अद्यामुकगोत्रास्मन्मातामही * देवी गायत्री-

स्वरूपिणी तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्यै स्वधा ॥ ३ ॥ (नानी) ओं अद्यामुकगोत्राऽस्मत् प्रमातामही * देवी सावित्रीस्वरूपिणी तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्यै स्वधा (परनानी) ओं अद्यामुकगोत्रास्मद्वृद्धप्रमातामही * देवी सरस्वतीस्वरूपिणी तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्यै स्वधा ॥ ३ ॥ (वृद्ध परनानी)

गुरु, वृद्धदादा, दादी, ताऊ, चाचा, भ्राता, पुत्र, श्वशुर, शाला, मामा आदि और उन लोगोंकी पत्नियों, अपनी पत्नी, भूवा (फूआ) वहिन तथा पुत्री आदि का गोत्र और नाम लेकर प्रत्येक को तीन-तीन अञ्जलि देवे।

सव्य तथा पूर्वाभिमुख होकर नीचे लिखे मन्त्रको बोलते हुए मोटक के अग्रभाग से चावल सहित जल छोड़ता जावे।

ओं देवाः सुरास्तथा नागाः यक्षा गंधर्वराक्षसाः। पिशाचा गुह्यकाः सिद्धाः कूष्माण्डास्तरवः खगाः। जले-चरा भूनिलया वाय्वाधाराश्च जन्तवः। तृप्तिमेते प्रया-न्त्वाशु मद्दत्तेनाम्बुनाखिलाः।

अपसव्य और दक्षिणाभिमुख होकर नीचे लिखे मन्त्र बोलता हुआ मोटक के मूलभाग से तिल सहित जल छोड़ता जावे।

ओं नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिताः ।
तेषामाप्यायनायैतद्दीयते सलिलं मया ॥

ओं ये बान्धवाऽबान्धवाश्च येऽन्यजन्मनि बान्धवाः । ते तृप्तिमखिला यान्तु यश्चास्मत्तोऽभिवाञ्छति ॥ ये मे कुले लुप्तपिण्डाः पुत्रदारविवर्जिताः । तेषां हि दत्तमक्षय्यमिद-मस्तु तिलोदकम् ॥ आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं देवर्षिपितृ-मानवाः । तृप्यन्तु पितरः सर्वे मातृमातामहादयः । ओं अतीतकुलकोटीनां सप्तद्वीपनिवासिनाम् । आब्रह्मभुवना-ल्लोकादिदमस्तु तिलोदकम् ॥

नीचे लिखे मन्त्र से भीष्मपितामह को तीन अञ्जलि देवे ।

वैयाघ्रपदगोत्राय शांकृत्प्रवराय च ।
अपुत्राय ददाम्येतज्जलं भीष्माय वर्मणे ॥

नीचे लिखा मन्त्र बोलकर अंगोछे को चार सतह भिगोकर जल के बाहर बाई ओर निचोड़े ।

ये के चास्मत्कुले जाता अपुत्रा गोत्रिणो मृताः ।
ते गृह्णन्तु मया दत्तं वस्त्रनिष्पीडनोदकम् ॥

सव्य तथा पूर्वाभिमुख होकर भीष्मपितामहको अञ्जलि देवे ।

भीष्मः शान्तनवो वीरः सत्यवादी जितेन्द्रियः ।
अद्भिरद्भिरवाप्नोतु पुत्रपौत्रोचितां क्रियाम् ॥

अर्घ्य विधिसे अर्घ्य देकर नीचे लिखी प्रार्थना करे ।

ओं नमो विवस्वते ब्रह्मन् भास्वते विष्णुतेजसे । जगत्पवित्रे शुचये नमस्ते कर्म्मदायिने ॥ श्री सूर्याय नमः ॥

प्रदक्षिणा करके नीचे लिखे मन्त्र से विसर्जन करे । उस जलको नेत्रोंमें लगावे ।

ओं देवा गातु विदो गातुं वित्वा गातुमित । मनसस्पत इमं देवयज्ञ थं स्वाहा वातेधाः ॥ कृतेनानेन तर्पणेन पितृरूपी-जनार्दनः प्रीयताम् ।

पिता वर्तमान हों तो स्वपित्रादि तर्पण और वस्त्र निष्पीड़न न करे ।

इति तर्पणविधिः ।

॥ श्रीः ॥

मृत्युञ्जय जप

ॐ हौं जूं सः ॐ भूर्भुवः स्वः

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धि पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥

भूर्भुवः स्वरों जूं सः हौं ॐ

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धि पतिवेदनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः ॥

व्याख्या—अग्निं त्रिः परियन्ति पितृवत्सव्योरुनाघ्नाना त्र्यम्बक मिति देववच्चैतेनैव दक्षिणा नाघ्नाना इति । यथा पितृमेधे पुत्रादयः पुरुषाः स्वकीयान् वामोरुंस्ताडयन्त स्त्रिवारमप्रदक्षिणं परियन्ति । यथा च देवतासेवायां दक्षिणोरुं स्ताडयन्त स्त्रिः प्रदक्षिणं परियन्ति । एव मत्र पुरुषाः प्रथमेनैव त्र्यम्बक मन्त्रेणाग्नि मप्रदक्षिणत्रयेण प्रदक्षिणत्रयेण च परियन्तीति सूत्रार्थः ॥ मन्त्रार्थस्तु ॥ सुगन्धि दिव्यगन्धोपेतं मर्त्यधर्महीनं पुष्टिवर्धनं धनधान्यादि पुष्टेर्वर्धयितारं त्र्यम्बकं नेत्रत्रयोपेतं रुद्रं यजामहे-पूजयामः । ततो रुद्र प्रसादान्मृत्योर्मुक्षीय अपमृत्योः संसार मृत्योश्च मुक्तो भूयासं अमृतान्मामुक्षीय स्वर्गरूपान्मुक्ति रूपाच्चामृतान्मा मुक्षीय मुक्तो मा भूयासं । एक वचनं वह्वर्थं । मुक्तामा

भूयास्मेत्यर्थः। अभ्युदय निः श्रेयस रूपात् फलद्वयान्मम भ्रंशो माभूदित्यर्थः। मृत्योर्मोचने दृष्टान्तः।—उर्वारुकमिव बन्धनात्— यथोर्वारुकं कर्कन्ध्वादेः फलमत्यन्तपक्वं सद्बन्धनात् स्वस्य वृन्तात् प्रमुच्यते तद्वत्। यजमान सम्बन्धिन्यः कुमार्योऽपि पूर्वोक्त पुरुषवदुत्तरेण त्र्यम्बकमन्त्रेणाग्निं त्रिः परियन्ति। त्र्यम्बकं यजामहे कीदृशं पतिवेदनं पतिं वेदयतीति तं भर्त्तुर्लम्भयितारं विद्ल लाभे। अन्यत् पूर्ववत्। इतो मुक्षीय इतो मातृपितृभ्रातृवर्गान्मुक्षीय मुक्ता भूयासममुतो मा मुक्षीय विवाहादूर्ध्वंभविष्यतः पत्युर्मुक्ता मा भूयासं जनकस्य गोत्रं गृहञ्चपरित्यज्य पत्युर्गोत्रे गृहेच सर्वदा त्र्यम्बक प्रसादाद् वसामीत्यर्थः॥

ज्ञान स्वरूप त्रिनेत्र महादेवजी की हम प्रार्थना करते हैं वे कैसे हैं? दिव्य गन्धयुक्त तथा मृत्युरहित और धनधान्यादिकों को बढ़ानेवाले वें हमें अपमृत्युरूपी बन्धनसे मुक्त करें जैसे ककड़ी पकनेपर अपनी बेलसे पृथक् हो जाती है वैसे ही हम भी सम्पूर्ण पापोंसे रहित होवें, हमें मुक्तिरूपी अमृतसे मुक्त न करें अर्थात् हमारी इहलौकिक तथा पारलौकिक उन्नति करें। दूसरे मन्त्रमें कन्याओंने प्रार्थना की है—भावी पति प्राप्त करानेवाले दिव्य गन्धयुक्त त्रिनेत्र शङ्कर से हमारी प्रार्थना है कि जैसे ककड़ी पकनेपर अपनी बेलसे पृथक् हो जाती है वैसे ही हम अपने माता-पिताके कुलसे पृथक् होकर विवाहके पश्चात् भावी पतिके कुलसे विमुक्त न होवें।

मृत्युञ्जय स्तोत्रम्

ॐ रुद्रं पशुपतिं स्थाणुं नीलकण्ठ मुमापतिम् ।
नमामि शिरसा देवं किन्नो मृत्युः करिष्यसि ॥१॥
ॐ देवदेवं महादेवं देवेशं वृषभध्वजम् ।
नमामि शिरसा देवं किन्नो मृत्युः करिष्यसि ॥२॥
ॐ शितिकण्ठं विरूपाक्षं निर्मलं निरुपद्रवम् ।
नमामि शिरसा देवं किन्नो मृत्युः करिष्यसि ॥३॥
ॐ त्रिनेत्रं पञ्चवक्त्रं च जटामुकुट मण्डितम् ।
नमामि शिरसा देवं किन्नो मृत्युः करिष्यसि ॥४॥
ॐ कालकण्ठं कलामूर्तिं कालाग्नि कालनाशनम् ।
नमामि शिरसा देवं किन्नो मृत्युः करिष्यसि ॥५॥
ॐ गङ्गाधरं शशिधरं शङ्करं शूलपाणिनम् ।
नमामि शिरसा देवं किन्नो मृत्युः करिष्यसि ॥६॥
ॐ प्रलयस्थिति कर्त्तारं सृष्टि कर्त्तारमीश्वरम् ।
नमामि शिरसा देवं किन्नो मृत्युः करिष्यसि ॥७॥
ॐ भस्मोद्धूलित सर्वाङ्गं नानारत्नविभूषितं ।
नमामि शिरसा देवं किन्नो मृत्युः करिष्यसि ॥८॥
ॐ मृत्युञ्जयाय रुद्राय नीलकण्ठाय वेधसे ।
अमृतेशायशर्वाय महादेवाय ते नमः ॥९॥
मृत्युञ्जय कृतस्तोत्रं यः पठेच्छिव सन्निधौ ।
तस्य मृत्युभयं नास्ति अल्प मृत्युभयंनहि ॥१०॥

ॐ नमः शिवाय ।

नवग्रहाणां वेदोक्ताः मन्त्राः

सूर्यमन्त्रः—आकृष्णेनेति मन्त्रस्य हिरण्य स्तूपाङ्गिराऋषिः सूर्योदेवता त्रिष्टुपृछन्दः सूर्यप्रीतये सूर्यमन्त्र जपेविनियोगः।

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रौं सः ॐ भूर्भुवः स्वः

ॐ आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवे शयन्न मृतं मर्त्यं च। हिर ण्यये न सविता रथे ना देवो याति भुवनानि पश्यन्। ॐ भूर्भुवः स्वः ॐ सः ह्रौं ह्रीं ह्रां ॐ सूर्याय नमः।

सोममन्त्रः—इमं देवा इति मन्त्रस्य वरुण ऋषिः अग्निर्देवता सोमप्रीतये सोममन्त्रजपे विनियोगः।

ॐ श्रां श्रीं श्रौं सः ॐ भूर्भुवः स्वः

ॐ इमं देवा असपत्न ᳪ सु वध्वं मह ते क्षत्राय मह ते ज्यैष्ठ्याय मह ते जान राज्यायेन्द्रस्येन्द्रि याय। इम ममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विशएष वोऽमी राजा सोसोऽस्माकं ब्राह्मणाना ᳪ राजा। ॐ भूर्भुवः स्वः ॐ सः श्रौं श्रीं श्रां ॐ।

भौममन्त्रः—अग्निर्मूर्द्धा इति मन्त्रस्यविरूपाङ्गिरसऋषिः अग्निर्देवता गायत्री छन्दः भौमप्रीतये भौममन्त्रजपे विनियोगः।

ॐ क्रां क्रीं क्रौं सः ॐ भूर्भुवः स्वः

ॐ अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत् पतिः पृथिव्या अ यम्। अपा ᳪ रेता ᳪ सि जिन्वति॥ ॐ भूर्भुवः स्वः ॐ सः क्रौं क्रीं क्रां ॐ।

बुधमन्त्रः—उद्बुध्य इति मन्त्रस्य परमेष्ठी ऋषिः बुधोदेवता त्रिष्टुपछन्दः बुधप्रीतये बुधमन्त्र जपे विनियोगः।

ॐ ब्रां ब्रीं ब्रौं सः ॐ भूर्भुवः स्वः

ॐ उद्बुद्ध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते स ᳇ सृ जेथा-मयश्च। अस्मिन् सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॐ भूर्भुवः स्वः ॐ सः ब्रौं ब्रीं ब्रां ॐ।

बृहस्पतिमन्त्रः—बृहस्पत इति मन्त्रस्य गृत्समद ऋषिः ब्रह्मा-देवता त्रिष्टुपछन्दः बृहस्पतिप्रीतये बार्हस्पत्यमन्त्र जपे विनियोगः।

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रौं सः ॐ भूर्भुवः स्वः

ॐ बृहस्पतेअतियदर्योअर्हाद्द्युमद्विभाति क्रतुमज्जनेषु। यद्दी-दयच्छवसऽऋतप्रजात तदस्मासुद्रविणन्धेहिचित्रम्॥ ॐ भूर्भुवः स्वः ॐ सः ह्रौं ह्रीं ह्रां ॐ।

शुक्रमन्त्रः—अन्नात्परिश्रुत इति मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिः अश्वि सरस्वतीन्द्रा देवताः जगती छन्दः शुक्रप्रीतये शुक्रमन्त्र जपे विनियोगः।

ॐ द्रां द्रीं द्रौं सः ॐ भूर्भुवः स्वः

ॐ अन्नात्परिश्रुतो रसं ब्रह्मणा व्यपिवत् क्षत्रं पयः सोमं प्रजापतिः। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपान ᳇ शुक्र मन्धसऽइन्द्र-स्येन्द्रियमिदम्पयोमृतम्मधुः॥ ॐ भूर्भुवः स्वः ॐ सः द्रौं द्रीं द्रां ॐ।

शनिमन्त्रः—शन्नो देवीरितिमन्त्रस्य दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः आपो देवता गायत्री छन्दः शनिप्रीतये शनिमन्त्र जपे विनियोगः।

ॐ खां खीं खौं सः ॐ भूर्भुवः स्वः

ॐ शन्नो देवी रभिष्टयऽआपो भवन्तु पीतये शं य्यो रभिस्रवन्तु नः। ॐ भूर्भुवः स्वः ॐ सः खौं खीं खां ॐ।

राहुमन्त्रः—कयानश्चित्र इति मन्त्रस्य वामदेव ऋषिः राहुर्देवता गायत्री छन्दः राहुप्रीतये राहुमन्त्र जपे विनियोगः।

ॐ भ्रां भ्रीं भ्रौं सः ॐ भूर्भुवः स्वः

ॐ कयानश्चित्र आभुवदूती सदावृधः सखा कया शचिष्ठया वृता। ॐ भूर्भुवः स्वः ॐ सः भ्रौं भ्रीं भ्रां ॐ।

केतुमन्त्रः—केतुंकृण्वन्निति मन्त्रस्य मधुच्छन्दा ऋषिः केतुर्देवता गायत्री छन्दः केतुप्रीतये केतुमन्त्र जपे विनियोगः।

ॐ प्रां प्रीं प्रौं सः ॐ भूर्भुवः स्वः

ॐ केतुंकृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे समुषद्भि रजायथाः। ॐ भूर्भुवः स्वः ॐ सः प्रां प्रीं प्रौं ॐ।

श्रीगणेशाय नमः ।

अथ नवग्रह स्तोत्राणि

अथ नवग्रहस्तोत्र प्रारम्भः

जपाकुसुम संकाशं काश्यपेयं महाद्युतिं ।
तमोरिं सर्वपापघ्नं प्रणतोऽस्मि दिवाकरं ॥१॥
दधिशंखतुषाराभं क्षीरार्णवसमुद्भवम् ।
नमामि शशिनं भक्त्या शंभोर्मुकुटभूषणम् ॥२॥
धरणीगर्भसंभूतं विद्युत्कान्तिसमप्रभं ।
कुमारं शक्तिहस्तं तं मंगलं प्रणमाम्यहम् ॥३॥
प्रियङ्गुकलिकाश्यामं रूपेणाप्रतिमं बुधम् ।
सौम्यं सौम्यगुणोपेतं तं बुधं प्रणमाम्यहम् ॥४॥
देवानां च ऋषीणां च गुरुं काञ्चनसन्निभम् ।
बुद्धिभूतं त्रिलोकेशं तं नमामि बृहस्पतिम् ॥५॥
हिमकुन्दमृणालाभं दैत्यानां परमं गुरुं ।
सर्वशास्त्रप्रवक्तारं भार्गवं प्रणमाम्यहम् ॥६॥
नीलाञ्जन समाभासं रविपुत्रं यमाग्रजम् ।
छायामार्तण्डसंभूतं तं नमामि शनैश्चरं ॥७॥
अर्धकायं महावीर्यं चन्द्रादित्यविमर्दनम् ।
सिंहिकागर्भसंभूतं तं राहुं प्रणमाम्यहम् ॥८॥
पलाशपुष्पसंकाशं तारकाग्रह मस्तकम् ।
रौद्रं रौद्रात्मकं घोरं तं केतुं प्रणमाम्यहम् ॥९॥

इति व्यास मुखोद्गीतं यः पठेत्सुसमाहितः ।
दिवा वा यदि वा रात्रौ विघ्न शान्तिर्भविष्यति ॥१०॥
नरनारीनृपाणां च भवेद्दुःस्वप्न नाशनम् ।
ऐश्वर्यमतुलं तेषामारोग्यं पुष्टिवर्धनम् ॥११॥
ग्रहनक्षत्रजाः पीडास्तस्कराग्नि समुद्भवाः ।
ताः सर्वाः प्रशमं यान्ति व्यासो ब्रूतेनसंशयः ॥१२॥
श्रीव्यास विरचितं नवग्रहस्तोत्रं संपूर्णम् ।

आकृष्णेन—सबका प्रेरक सविता देवता सुवर्णमय रथमें आरूढ़ होकर कृष्णवर्ण रात्रिलक्षणवाले अन्तरिक्ष पथमें पुनरावर्तन क्रमसे भ्रमण करते हुए देवादिकों तथा मनुष्यादिकोंको अपने २ व्यापारमें स्थापन करते हुए सम्पूर्ण भुवनोंको देखते हुए आगमन करते हैं अर्थात् सम्पूर्ण भुवनोंको प्रकाश देकर पुण्यकी वृद्धि करते हैं। तथा भय पापोंको नष्ट करते हैं ।

इमंदेवा—हुहेदेवगण आप अमुक महाशयके पुत्र और अमुक देवीके पुत्र इस यजमानको महत्क्षत्र धर्म अथवा पदवीके निमित्त महत्ज्येष्टताके निमित्त महज्जनोंके अधिपत्यमें आत्माके ज्ञानमें सामर्थ्यके निमित्त शत्रु शून्य करके प्रेरणा करो। अपने प्रसादसे इस यजमानको अमुक जातिका राजा करो हे अमुकजाति प्रजागण तुम्हारा यह अमुक नाम राजा हो और हम ब्राह्मणोंका राजा चन्द्रमा हो ।

विशेष—इस स्थलमें यजमानका नाम ले १—इस स्थानमें राजाको जिस देशके आधिपत्यमें अभिषिक्त किया हो उस देशका

और व्यक्तिका तथा जो जो जाति उसमें हों उसका नाम ले।
२—इससे विदित है कि तपके प्रभावसे ब्राह्मणोंका अधिपति राजा नहीं होता था, उनका अधिपति ज्ञान ही था, ज्ञानके प्रभाव से उनका अधिकार तीन वर्णोंपर चलता था अब समयके प्रभावसे यह दशा हुई है।

आग्निमूर्धा—यह अग्निदेवता द्युलोकके शिरके समान है जैसे शिर सब शरीरसे ऊपर है इसी प्रकार यह अग्निदेव अपने तेजसे आदित्यमें प्रवेश करके द्युलोकके ऊपर वर्तता है। अथवा जसे बैलका स्कन्ध सब स्थानसे उन्नत होता है इसी प्रकार अग्निने सर्वोन्नत स्थान प्राप्त किया है, अथवा ककुत् नाम महत्का है इससे यही जगत्का महान् कारण है पृथ्वीका पालक है अर्थात् पृथ्वी लोकमें ककुद् समान उच्छ्रत सर्वत्र ही अग्निने आधिपत्य लाभ किया है यही अग्नि जलोंके सारोंको पुष्ट करता है अर्थात् द्युलोकसे गिरते हुए वृष्टिरूप जलोंके सारोंको व्रीही यवादि रूपसे परिणत करता है या अन्तरिक्ष लोकमें वृष्टिके कारण मेघों को पुष्ट करता है अथवा आहुतिके परिणामसे वृष्टि उत्पन्न करता है।

उद्बुध्यस्वाग्ने—हे अग्निदेवता! आप सावधान हो। इस यजमानको भी सावधान करो। यह यजमान आपकी कृपासे श्रौत स्मार्त कर्म अच्छी प्रकारसे सम्पन्न करे। हे विश्वेदेवा देवताओ! सम्पूर्ण पाप रहित यह यजमान देवताओं सहित चिर काल तक सर्वोत्कृष्ट रविलोकमें निवास करे।

बृहस्पतेअति—सत्यस्वरूप ब्रह्माजी से उत्पन्न होनेवाले अथवा वेदोंकी पालना करनेवाले हे बृहस्पति ! हमारे यजमानोंको नाना प्रकार के धन प्रदान करो—यह हमारा यजमान जिस धनके योग्य हो—अथवा जो धन सब लोकोंमें सुशोभित हो। तथा जो धन सम्पूर्ण कान्तियुक्त हो। जिस धनसे नाना प्रकारके पवित्र यज्ञ सम्पन्न हो सकें तथा जो धन पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त हो ऐसा धन हमारे यजमानोंको उपलब्ध हो।

अन्नात्परिस्रुतो—प्रजापति ने अन्नसे रसरूप जलको गायत्री लक्षणसे विचार कर पान किया। क्षत्रियको भी वश किया, अन्नसे परिस्रुतरस प्राप्त होता है। परिस्रुतरस पान करनेके पश्चात् प्राकृतिक नियमसे बल प्राप्त होता है। इस सत्यका यज्ञ द्वारा सत्यज्ञान होता है। अर्थात् वह ब्रह्म हमें प्रत्येक ऋतुमें शुद्ध प्राकृतिक अन्न दें जिससे प्रजाकी वृद्धि हो।

शंनो देवी रभिष्टय—देदीप्यमान जल हमारे स्नानकर्ममें तथा पीनेनें सुखकारक हों—वे ही जल हमारे रोगोंकी शान्ति करें तथा भयको दूर करें।

कयानश्चित्र—इन्द्रदेवता अत्यधिक यज्ञोंके द्वारा हमारा सहायक होता है। क्योंकि वे हमारे पूजनीय हैं।

केतुंकृण्वन्न—हे अग्निदेवता ! आप हमारे अग्निहोम करनेवाले यजमानके होममें उत्पन्न होकर अज्ञानी मनुष्योंके हृदयमें ज्ञानका विस्तार करो—तथा सुवर्ण रहित हैं, उनको सुवर्ण प्रदान करो।

अथोच्छिष्ट गणपतिमन्त्रः

हस्ति पिशाचि लिखे स्वाहा ।

नवार्ण मन्त्रः ।

उच्छिष्ट गणेशस्य ध्यानं यथा—

चतुर्भुजंरक्त तनुं त्रिनेत्रं, पाशाङ्कुशौ मोदक पात्र दन्तौ ।
करैर्दधानं सरसी रुहस्थमुन्मत्त मुच्छिष्ट गणेश मीडे ॥१॥

हनुमन्मन्त्रः

दासोऽहं कौशलेन्द्रस्य रामस्य क्लिष्ट कर्मणः ।
हनुमान् शत्रु सैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः ॥

व्याख्या :—क्लिष्टकर्मणः कौशलेन्द्रस्य कौशलस्येन्द्रः कौशलेन्द्रस्तस्य कौशलेन्द्रस्य रामचन्द्रस्य अहं दासः सेवकः । शत्रुसैन्यानां शत्रूणां सैन्या शत्रु सैन्यास्तेषां निहन्ता नाशक मारुतात्मजः मारुतात्मनि जातः मारुतात्मजः वायुनन्दनः ।

अर्थ—शत्रुओंकी सेनाको नष्ट करनेवाला मारुतात्मज यानी वायुका पुत्र हनुमान् क्लिष्टकर्म करनेवाले कौशलेन्द्र श्रीरामचन्द्रका मैं दास हूं । उस हनुमान् के लिये नमकार हो ।

शिव मन्त्रः

ॐ नमः शिवाय शुभं शुभं कुरु कुरु शिवाय नमः ॐ ।

शीतला मन्त्रः

ॐ शीतले त्वं जगन्माता शीतले त्वं जगत्पिता ।
शीतले त्वं जगद्धात्री शीतलायै नमो नमः ॥

व्याख्या—हे शीतले देवि ! त्वं भगवती जगन्माता जगतः माता जगन्माता जगज्जननी हे शीतले ! त्वमेव जगतः पिता जगत् पिता, हे शीतले ! त्वमेव जगद्धात्री जगद्रक्षिका । अतः हे शीतले ! तुभ्यं पुनः पुनः नमोऽस्तु ।

अर्थ—हे शीतले मातः आप ही जगत् की माता-पिता हैं । तथा आप ही जगत् की रक्षा करनेवाली व पालन करनेवाली हैं । इसलिये—हे शीतले मातः ! आपके लिये पुनः पुनः नमस्कार हो ।

मन्त्र जपविधिः

तद्‌तद्‌देवोंका तत्‌तन्मन्त्रोंसे ध्यानपूर्वक स्मरण करना, मनको स्थिर करके उनकी ओर लगाना, तथा उन्हींमें एकाग्रतया लीन हो जाना, उन्हींके नाम विशेषोंका उच्चारण करना ही मन्त्र जाप कहलाता है । जैसे लिखा भी है मन्त्रमयी देवता । मन्त्र जापसे मनुष्य असाध्यसे असाध्य कर्म कर सकता है । मन्त्र जापसे बुद्धिका विकाश होता है तथा पूर्व जन्मार्जित पाप नष्ट हो जाते हैं । इहलोकमें धनैश्वर्यादि उपभोग कर मनुष्य परलोकमें

सुखका अनुभव करता है। मन्त्र जापसे कभी भी अशुभ फल प्राप्त नहीं होते हैं। मन्त्र जापसे मनुष्य विपुल धन व महान् यशको प्राप्त होता है। मन्त्र जाप करनेवालेके लिये संसारमें कोई भी भय नहीं होता है। मन्त्र जापसे मनुष्य ज्ञानवान्, धर्यवान्, यशस्वी व तेजस्वी बनता है। मन्त्र जापसे काम-विकार, द्वेप-बुद्धि, आलस्य, अस्वस्थता और संशय ये ज्ञानके पांचो आवरण नष्ट हो जाते हैं। जिनके नष्ट होनेसे दिव्य-ज्योति प्रकट होती है। मन्त्र जापसे अमृतवाणी व सत्यवाणी हो जाती हैं, तथा सत्यवाणी ही सनातन धर्म है। मन्त्रोंको खूब तन्मय होकर जपना चाहिये, तभी वे पूर्ण फलदायक होते हैं।

शुद्ध मन्त्रोंके जापसे अन्तःशुद्धि, दृष्टिशुद्धि, तथा आध्यात्मिक शुद्धि हो जाती है। तथा आलस्य, भ्रांतता, संशय, ग्रस्तता ये सब दूर हो जाते हैं। चञ्चल ऊर्मियोंकी तरह हृदयकी महान् गुफामें छिपा हुआ मन भी मनुष्यके वशमें हो जाता है। मन्त्रोंके यथेष्ट जापसे मनुष्य जराधर्म, व्याधिधर्म, प्राणधर्म तथा पापाचरणोंसे छुटकारा पा सकता है। तथा उसका मन नितान्त शुद्ध हो जाता है। क्योंकि शुद्ध मनमें कामादि विकार उत्पन्न नहीं होते हैं। बुरे स्वप्न नहीं आते हैं। देव-देवियां उसकी रक्षा करती हैं। अग्नि, विष व हथियार उसपर असर नहीं कर सकते। तथा शान्तिपूर्वक ब्रह्मलोक को प्राप्त कर सकता है। मन्त्र जाप करनेकी विधि यह है कि एकान्त शुद्ध स्थानमें पवित्र आसनपर बैठ पालकी मारकर कमसे गर्दन तक शरीरको सीधा रखता हुआ श्वासको

खींचता हुआ तथा प्रश्वासको धीरे-धीरे बाहर निकालता हुआ शुद्ध अन्तःकरणसे जागृति पूर्वक तद् तद् देवोंका आवाहन पूर्वक ध्यान करता हुआ मन्त्र जाप करे—जैसे मुख्य-मुख्य मन्त्र ऊपर दिये गये हैं।

ऋग्वेदोक्त दुर्गा सूक्त

ॐ अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुतविश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा विभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥१॥
ॐ अहं सोममाहनसं विभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते ॥२॥
ॐ अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥३॥
ॐ मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥४॥
ॐ अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुतमानुषेभिः।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥५॥
ॐ अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥६॥
ॐ अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामुं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥७॥
ॐ अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणाभुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एनापृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ॥८॥

मैं सूक्ष्मको देखनेवाली तथा वाणीको धारण करनेवाली हूं। जगत् कारण ब्रह्मका आविर्भाव मेरे द्वारा ही हुआ है। मैं रुद्र (जल) वसु (वायु) आदित्य (तेज) विश्वदेव, मित्र, वरुण (जल का अधिष्ठाता देव) इन्द्र, अग्निदेव, अश्विनीकुमार इत्यादि सम्पूर्ण देवताओंको मैं ही धारण करती हूं। इन्द्राग्नी तथा अश्विनी-कुमारोंको भी मैं ही धारण करती हूं। अर्थात् मेरेसे शक्ति पाकर ही ये उपरोक्त देवता अपने-अपने कर्मोंको सफल बनाते हैं ॥१॥

देवताओंसे अभिषेक करने योग्य तथा शत्रुओंका दमन करनेवाले देव स्वरूप चन्द्रमाको मैं ही धारण करती हूं। त्वष्टा पूषण, भग, संज्ञावाले देवताओंको भी मैं धारण करती हूं, देवता-ओंको हवनके द्वारा हवनीय पदार्थ पहुंचानेवाले यजमानोंको भी यज्ञका फल, एवं उनके मनोभिलषित पदार्थोंको भी मैं ही देनेवाली हूं। अर्थात् देवस्वरूप मैं ही हूं ॥२॥

सम्पूर्ण संसारकी पालना करनेवाली मैं हूं। तथा उपासक भक्तोंके लिये धन प्रदान करनेवाली मैं हूं। परब्रह्मका साक्षात्-कार भी मेरे द्वारा ही होता है। सम्पूर्ण यज्ञोंमें मुख्य (प्रधान) मैं ही हूं। सम्पूर्ण गुणविशिष्ट प्रपंचरूपसे स्थित तथा मुझको ही अनेक स्थानोंमें अनेक नामोंसे भक्त पूजते हैं, प्राणियोंमें जीव रूपसे स्थित मेरेको ही जानो ॥३॥

सम्पूर्ण प्राणियोंमें भोक्तृ शक्तिरूपसे स्थित मैं ही अन्नादिका भोग करती हूं। मेरेसे ही सम्पूर्ण प्राणी देखते हैं। प्राणियोंमें

जो श्वासोच्छ्वास रूप व्यापार होता है वह भी मेरे द्वारा ही होता है। अनेक रूपोंमें अन्तर्यामि रूपसे सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित मुझको नहीं मानते हैं, वे संसार से हीन हो जाते हैं। ये उपरोक्त श्रद्धायुक्त मेरे वाक्य श्रवण करने योग्य हैं ॥४॥

सम्पूर्ण प्राणियोंको ब्रह्मतत्त्वका उपदेश मैं ही देनेवाली हूं। जिन-जिन की मैं रक्षा करना चाहती हूं। उन-उन मनुष्योंको सबसे श्रेष्ठ बनाती हूं। ब्रह्मा सृष्टि-रचनात्मक कर्म भी मेरे द्वारा ही करता है। ऋषियोंको अतीन्द्रियार्थज्ञान भी मैं ही देनेवाली हूं। बुद्धिको श्रेष्ठ बनानेवाली भी मैं ही हूं ॥५॥

पहिले त्रिपुर विजय करनेके लिये अर्थात् ब्राह्मणोंसे द्वेष करने-वाले त्रिपुरासुरको जीतनेके लिये शिवजी भी मेरेसे ही शक्ति पाकर धनुषके द्वारा उसका संहार करनेमें समर्थ हुए। मेरे भक्तोंके लिये शत्रुओंके साथ मैं ही संग्राम करती हूं। तथा आकाश एवं पृथिवीमें अन्तर्यामि रूपसे मैं ही प्रविष्ट हूं ॥६॥

पिता रूप जो आकाश है, वह मेरे द्वारा उत्पन्न हुआ है। वेदमें आकाश को पिता माना है। श्रुतिमें लिखा है द्यौः पिता। आत्मा रूप मुझसे आकाश उत्पन्न हुआ। जैसे—आत्मनः आकाशः संभूतः इति श्रुतेः। इस भूलोक के मस्तकपर मैंने पिता रूप आकाश को स्थित किया जलमें व्यापन शील जो चैतन्यता है। वह मेरे द्वारा होती है। कारण भूतमायात्मक मेरा शरीर सम्पूर्ण भुवनों में व्याप्त है ॥७॥

सम्पूर्ण भुवनोंकी रचना मेरे द्वारा ही आरम्भ होती है, उस कर्ममें मैं स्वतन्त्र हूं। जैसे पवन अपनी स्वेच्छा से बहता है उसी तरह मैं अपनी इच्छासे रचती हूं और इस सृष्टि रचनात्मक कर्मसे मैं उदासीन रहकर ब्रह्म चैतन्य विप से स्थित हूं और भी देवी की ही सम्पूर्ण शक्तियां सृष्टि रचना में सहायक होती हैं ॥८॥

दान प्रक्रिया

धर्मशास्त्र ग्रन्थोंमें हमारे त्रिकालज्ञ महर्षियोंने मनुष्यको, इहलौकिक एवं पारलौकिक सुख प्राप्तिके लिये अनेक प्रकारके दान वर्णन किये हैं, जैसे जलदान, अन्नदान, पृथ्वीदान, तुलादानादि गीतामें भी भगवान् श्रीकृष्णने दानको तीन भागोंमें विभक्त किया है, यथा—सात्त्विक, राजस, तामस, अब हमें यहां पर संक्षिप्त रूपमें दानके विषयमें लिखना आवश्यक है क्योंकि, गृहस्थ-धर्म पालन करनेवाले प्रत्येक मानवको यथाशक्ति स्वकष्ट निवारणार्थ दान देनेकी जरूरत समयानुसार होती रहती है। अन्नदान के विषयमें शास्त्रकारोंके बहुतसे महत्त्वसूचक प्रमाण मिलते हैं, जैसे—

वारिदस्तृप्तिमायाति सुखमक्षयमन्नदः।

अन्नका प्रजापति देवता है, तथा अक्षय सुख प्राप्ति इसका फल होता है। और भी जैसे—

ब्रह्महत्याकृतं पापं अन्नदानात्प्रणश्यति ।
अन्नदः पाप कर्मोऽपि पूतः स्वर्गेमहीयते ॥

ब्रह्मपुराणमें भी अन्नदानके विषयमें कहा है, जैसे—

अन्नेप्रतिष्ठितालोका अन्नमाश्वक्षयंपरं ।
तस्मादन्नं प्रशंसन्ति सदैव पितृमानवाः ॥
अन्नस्य हि प्रदानेन नरोयाति परांगतिं ।
सर्व्वकामसमायुक्तः प्रेत्य चेहाधिकंशुभं ॥
अन्नमूर्ज्जस्वलं लोके दत्वोर्ज्जस्वी भवेन्नरः ।
सतां पन्थानमाश्रित्य सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ॥

महाभारत में भी कहा है, जैसे—

अन्नदो यशवान् पुत्री धनवान् भोगवानपि ।
प्राणवांश्चापि भवति रूपवांश्च तथा नृपः ॥
अन्नदस्य मनुष्यस्य बलमोजो यशांसिच ।
कीर्त्तिश्च वर्द्धते शश्वत्त्रिषु लोकेषु पाण्डव ॥

आग्नेयपुराण में भी अन्नदान के फल का वर्णन इस प्रकार किया गया है, जैसे—

तस्मादन्नं सदादेहि श्रद्धया नृपसत्तम ।
अन्नदानात्परं दानं न भूतं न भविष्यति ॥

यावतो ग्रसते ग्रासान् विद्वान् विप्रः सुसंस्कृतः ।'
अन्नप्रदस्य तावन्तः क्रतवः परिकीर्तिताः ॥
आदरेणच भक्त्या च यदन्नमुपदीयते ।
तत्प्रीणयति पात्राणि मामृतं मानवर्जितं ॥
दुर्लभस्तुमुदादाता मुदाभोक्ता च दुर्लभः ।
मुदा दाता च भोक्ता च तावुभौ स्वर्गगामिनौ ॥
अपि कीट पतंगानां शुनां चाण्डालयोगिनां ।
दत्वान्नं लोकमाप्नोति प्राजापत्यं समासतः ॥
दीनान्ध कृपणानाञ्च स्वर्गः स्यादन्नदायिनां ।
ग्रास मात्रं नरो दत्वा अन्नानामन्नगृध्नवे ॥
स्वर्गे वसेत समानान्तु शतं भोगैर्मनोरमैः ।
ग्रासे ग्रासे फलंह्येतद्विधिवत् परिकीर्तितं ॥

प्राणियोंका जीवन अन्नके विना जीवित नहीं रह सकता क्योंकि 'अन्नमयाः खलु प्राणिनाः प्राणाः अतः' अन्नदानसे बढ़ कर और कोई भी दान नहीं हैं—जैसे 'अन्नाद्भूतानि जायन्ते जीवन्ति च न संशयः। जीवदानात्परं दानं न किंचिदपिविद्यते। अन्नाज्जीवति त्रैलोक्यं त्रैलोक्यस्येहतत्फलं' इत्यादि प्रमाण शास्त्रोंमें बहुतसे मिलते हैं, अन्नदानसे भी बढ़कर जलदान का महत्त्व शास्त्रकारोंने वर्णन किया है, जैसे—

अन्ने दत्ते नरेणेह प्राणादत्ता भवन्त्युत ।
प्राणदानाद्धिपरमं न दानमिह विद्यते ॥

अन्नं नापि प्रभवति पानीयात् कुलसत्तम ।
नीरजातेन हि विना न किंचित् संप्रवर्तते ॥
अन्नौषध्यो महाराज ! वीरुधश्च जलोद्भवाः ।
यतः प्राणभृतांप्राणाः संभवन्ति विशांपते ॥
तस्मात् पानीयदानाद्धि न परंविद्यते क्वचित् ।
तच्च दद्यान्नरो नित्यं यदीच्छेद्भूतिमात्मनः ॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं जलदानमिहोच्यते ।
सर्वकामानवाप्नोति कीर्तिंश्चैवहशाश्वतीम् ॥
प्रेत्य चानन्त्यमश्नाति पापेभ्यश्च प्रमुच्यते ।
तोयदोमनुजव्याघ्र ! स्वर्गंगत्वा महाद्युते ॥
अक्षयान् समवाप्नोति लोकानित्यब्रवीन्मनुः ।

आयुर्वेदने रोगियोंके लिये अवस्थानुसार बहुतसे द्रव्य वर्जित किये हैं परन्तु जलको किसी भी अवस्था में वर्जित नहीं किया है क्योंकि प्राणियोंका जीवन जलके विना एक क्षण भी नहीं रह सकता हां अवस्था विशेषमें ठण्डा या गर्म अवश्य दिया जाता है, जैसे लिखा है—

पानीयं प्राणिनां प्राणास्तदायत्तं हि जीवनं ।
तस्मात् सर्वास्ववस्थासु न कचिद् वारि वार्य्यते ॥
अन्ने नापि विना जन्तुः प्राणान् धारयते चिरं ।
तोयाभावे पिपासार्तः क्षणात् प्राणर्विमुच्यते ॥
तृषितो मोहमायाति मोहात् प्राणान् विमुञ्चति ।
तस्माज्जलमवश्यं हि दातव्यंभेपजःसमं ॥

यहां पर लिखने का यह अभिप्राय है कि जलके न मिलने पर प्राणी मोहको प्राप्त होकर प्राण त्याग कर देता है। अतः विशेष कर ग्रीष्म ऋतुमें जहां पर जलका अभाव हो वहां पर प्यावु लगाना, पशुपक्षियोंके लिये जल कढ़वाना एवं कुंवा वावड़ी वनवाना भी जलदान के अन्तर्गत ही है। यहां पर स्वास्थ्य की दृष्टि को लेकर जल पीनेकी विधि वताने की जरूरत समझ कर एक श्लोक दिया जाता है, जैसे—

अत्यम्बु पानान्न विपच्यतेऽन्नमनम्बु पानाच्च सएव शेपः।
तस्मान्नरो वह्नि विवर्द्धनाय मुहुर्मुहुर्व्वारि पिवेदभूरिः॥

अर्थ—अधिक जल पीनेसे अन्नकी पाचन क्रिया अच्छी प्रकार से नहीं होती, जल न पीनेसे भी वही व्यवस्था रहती है, अतः प्रत्येक मनुष्य को उचित है कि उदराग्नि वढ़ाने के लिये वारम्वार थोड़ा-थोड़ा करके जल पीवे।

पृथ्वीदान

हमारे धर्मशास्त्रकारों ने पृथ्वीदान के महत्त्व का वर्णन भी वहुत जगह किया है अतः संक्षिप्त रूपमें यहां पर भी इस विषयमें दिया जाता है, जैसे नारदजीने एक समय भगवान् से पूछा—

नारद उवाच।

भूमिदानकृतंपुण्यं पापं तद्धरणेचयत्।
यदस्ति तत्प्रतीकारं वद वेदविदां वरः॥

श्रीनारायण उवाच ।

वितस्तिमानां भूमिञ्च यो ददाति च भारते ।
सन्ध्यापूताय विप्राय सयाति विष्णुमन्दिरम् ॥
भूमिञ्च सर्व शस्याढ्यां ब्राह्मणाय ददाति यः ।
भूमि रेणुप्रमाणञ्च वर्ष विष्णुपदेस्थितिः ॥
ग्रामं भूमिञ्च धान्यञ्च यो ददात्याददाति च ।
सर्वपापविनिर्मुक्तौ चोभौ वैकुण्ठ वासिनौ ॥
भूमिं दातुञ्च यत्काले यः साधुश्चानुमोदते ।
स च याति च वैकुण्ठं मित्रगोत्रसमन्वितः ॥
स्वदत्तां परदत्तां वा ब्रह्मवृत्तिं हरेतु यः ।
स तिष्ठति कालसूत्रे यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥
तत्पुत्रपौत्रप्रभृतिर्भूमिहीनः श्रिया हृतः ।
पुत्र हीनो दरिद्रश्चैवान्ते याति च रौरवम् ॥

तुलादान

तुलादान सब दानोंमें श्रेष्ठ माना गया है। जैसे लिखा भी है—"आद्यं तु सर्व दानानां तुला पुरुष संज्ञितम् ।" तुलादान करने का समय भी शास्त्रकारों ने वतलाया है—

नोक्तानि यानि गुह्यानि महादानानि षोडश ।
तानि ते संप्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥

तुलापुरुषयागोऽयं येषामादौ विधीयते ।
अयने विषुवे चैव व्यतिपाते दिनक्षये ॥
युगादिषूपरागेषु तथा मन्वंतरादिषु ।
संक्रान्त्यां पौर्णमास्याञ्च द्वादशीष्वष्टकासुच ।
यज्ञोत्सव विवाहेषु दुःस्वप्नाद्भुतदर्शने ।
द्रव्य ब्राह्मणलाभोवा श्रद्धावायत्र जायते ॥

तस्य देशो यथा—

तीर्थे वायतने गोष्ठकूपाराम सरित्सुच ।
गृहे वाथ वने वापि तड़ागे रुचिरेऽथवा ।
महादानानि देयानि संसारभयभीरुवा ।

इसका विधान भी जैसे—

पुण्यां तिथि मथासाद्य कृत्वा ब्राह्मणवाचनं ।
मण्डपं रचयेद् विद्वान् चतुर्भद्रासनं शुभं ॥
सप्तहस्ता भवेद् वेदी मध्येपञ्चकराथवा ।
तन्मध्ये तोरणं कुर्यात् सारदारुमयं शुभं ॥
कुर्यात् कुण्डानि चत्वारि चतुर्दिक्षु विचक्षणः ।
चतुर्हस्ता तुला कार्या पादौ कार्यौ तथाविधौ ॥
अन्तरंतु तयोर्हस्तौ भवेदध्यर्द्ध मेव च ।
समान जातिश्च तुलावलम्बया हैमेन मध्ये पुरुषेण युक्ता ।
दैर्घ्येण सा हस्त चतुष्टयं स्यात् पूर्णत्वमस्यास्तु दशाङ्गुलीस्यात् ॥
सुवर्ण पत्राभरणा च कार्या सुलोहपाशद्वय शृङ्खलाभिः ।
युता सुवर्णेन तु रत्नमाला विभूषिता माल्य विलेपनाढ्या ॥

चक्रं लिखेद्वारिज गर्भयुक्तं नाना रजोभिर्भुविकीर्ण पुष्पम् ।
वितानकश्चोपरि पश्चवर्ण संस्थापयेत् पश्चपताक शोभम् ॥

अथ तुला निर्माणम्

अथ द्विजा वेदविदश्च कार्याः सुवास वेशान्वय शीलयुक्ताः ।
विधान दक्षाः परतोऽनुकूला ये चार्यदेश प्रभवा द्विजेन्द्रा ॥
गुरुश्च वेदाङ्ग विदार्य देशसमुद्भवः शील कुलाभिरूपः ।
कार्यः पुराणाभिरतोऽति दक्षः प्रसन्नगम्भीरसरस्वतीकः ॥
पूर्वेण ऋग्वेदविदौ यथास्तां यजुर्विदौ दक्षिणतश्च शस्तौ ।
स्थाप्यौ द्विजौ सामविदौ च पश्चा दथर्वणावुत्तरतश्चकार्यौ ॥
विनायकादिग्रह लोकपालवस्वष्टकादित्यमरुद्गणानां ।
ब्रह्माच्युतेशानवनस्पतीनां स्वमन्त्रतो होमचतुष्टयं स्यात् ॥
जप्यानि सूक्तानि तथैव चैषा मनुक्रमेणापि यथा स्वरूपं ।
आयर्चयेल्लोक पतीन् क्रमेण मन्त्रैरमीभिर्यजमानयुक्तः ॥

जपेयुः शान्तिकाध्यायं जापकाः सर्वतोदिशम् ।
उपोषितास्ततसर्वे कृत्वैवमधिवासनम् ॥
आदावन्तेच मध्ये च कुर्याद् ब्राह्मण वाचनम् ।
ततो मंगलशब्देन स्नापितो वेदपुङ्गवैः ॥
त्रिः प्रदक्षिणमावृत्य गृहीत कुसुमाञ्जलिः ।
शुक्ल माल्याम्बरोभूत्वा तां तुलामभिमंत्रयेत् ॥

नमस्ते सर्व देवानां शक्तिस्त्वं शक्तिमास्थिता ।
साक्षीभूता जगद्धात्रा निर्मिता विश्वयोनिना
एकतः सर्वसत्यानि तथा भूत शतानि च ।
धर्माधर्मकृतां मध्ये स्थापितासि जगद्धिते ॥
त्वं तुले ! सर्वभूतानां प्रमाण मिह कीर्तिता
मां तोलयन्ती संसारादुद्धरस्व नमोऽस्तुवे ॥
योऽस्य तत्वाधिपो देवः पुरुषः पञ्चविंशकः ।
स एवाधिष्ठितो देवि ! त्वयि तस्मान्नमोऽस्तुते
नमो नमस्ते गोविन्द ! तुला पुरुष संज्ञक ।
त्वं हरे तारयस्वास्मानस्मात् संसारसागरात्
पुण्यं कालमथासाद्य कृत्वाधिवासनं पुनः ।
पुनः प्रदक्षिणं कृत्वा तां तुला मारोहेद्‌बुधः ॥
सखड्गचर्मः कवची सर्वाभरणभूषितः ।
धर्मराजमथादाय हैमं सूर्येण संयुतम् ॥
क्षणमात्रं ततः स्थित्वा पुनरेत दुदीरयेत् ।
नमस्ते साक्षीभूतानां साक्षीभूते सनातनि ॥
पिता महेन देवि ! त्वं निर्मिता परमेष्ठिना ।
त्वयाधृतंजगत्सर्वं सहस्थावरजंगमम् ॥
सर्वभूतात्मभूतस्थे नमस्ते विश्वधारिणी ।
ततोऽवतीर्य गुरवे पूर्वमर्धं निवेदयेत् ॥
प्राप्य तेषा मनुज्ञाञ्च तथाऽन्येभ्योऽपि दापयेत् ।
दीनानाथ विशिष्टादीन् पूजयेत् ब्राह्मणैः सह ॥

न चिरं धारयेद्गेहे हेम संकल्पितं बुधः।

तिष्ठद्भयावहं यस्मात् शोकव्याधिकरं नृणाम्॥

शीघ्रं परस्वीकरणात् श्रेयः प्राप्नोति पुष्कलम्।

अष्टानामपि धातूनां यस्तुलां कुरुते नरः॥

सर्वपापैः प्रमुच्येत मनोवाक्काय संभवैः।

आत्मनस्तु तुलां कृत्वा सुवर्णं यः प्रयच्छति॥

स तारयेत् पितृगणान् दशपूर्वान् दशा परान्।

संक्षेपमें यहाँ चार प्रकारके दान बताये गये हैं, सभी प्रकारके दानोंमें अन्नदान ही अधिक फलदायक होता है। अपनी शक्तिके अनुसार देनेसे ही मनुष्य फलका भागी होता है। महानारायणोपनिषद्में अन्नदानको आत्मज्ञान देनेवाला तथा परब्रह्म प्राप्ति करानेवाला बतलाया है, जैसे—असौ आदित्य य एष आदित्ये पुरुषः स एष परमेष्ठी ब्रह्मात्मा। याभि रादित्य स्तपति रश्मिभि स्ताभिः पर्जन्यो वर्षति। पर्जन्येनौषधि वनस्पतयः प्रजायन्ते, औषधिवनस्पतिभिरन्नं भवति। अन्नेन प्राणा प्राणैर्बलं बलेन तपस्तपसा श्रद्धाश्रद्धया शान्तिः। शान्त्या चित्तं चित्तेन स्मृतिः स्मृत्या स्मारं स्मारेण विज्ञानं विज्ञानेनात्मानं वेदयति। तस्मादन्नं ददन्सर्वाण्येतानि ददाति। अन्नात्प्राणा भवन्ति। भूतानां प्राणैर्मनो मनसश्चविज्ञानं विज्ञानादानन्दो ब्रह्मयोनिः।

महानारायणोपनिषद्, त्रयोविंशखण्डः।

इति तुला दानम्।

श्री सरस्वत्यै नमः।

श्री देवी कवचम्

ॐ नमश्चण्डिकायै मार्कण्डेय उवाच।

ॐ यद्गुह्यं परमं लोके सर्वं रक्षा करं नृणाम्।
यन्न कस्यचिदाख्यातं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

ब्रह्मोवाच।

अस्ति गुह्यतमं विप्र सर्वभूतोपकारकम्।
देव्यास्तु कवचं पुण्यं तच्छृणुष्व महामुने ॥२॥
प्रथमं शैल पुत्रीति द्वितीयं ब्रह्मचारिणी।
तृतीयं चन्द्रघण्टेति कूष्माण्डेति चतुर्थकम् ॥३॥
पञ्चमं स्कन्दमातेति षष्ठं कात्यायनीति च।
सप्तमं कालरात्रिश्च महागौरीति चाष्टमम् ॥४॥
नवमं सिद्धिदात्री च नवदुर्गाः प्रकीर्त्तिताः।
उक्तान्येतानि नामानि ब्रह्मणैव महात्मना ॥५॥
अग्निना दह्यमानस्तु शत्रुमध्ये गतो रणे।
विषमे दुर्गमे चैव भयार्ताः शरणं गताः ॥६॥
न तेषां जायते किञ्चिदशुभं रणसंकटे।
नापदं तस्य पश्यामि शोक दुःखभयं नहि ॥७॥
यैस्तु भक्त्या स्मृता नूनं तेषां सिद्धि प्रजायते।
ये त्वां स्मरन्ति देवेशि रक्षसे तान्न संशयः ॥८॥

प्रेत संस्था तु चामुण्डा वाराही महिषासना।
ऐन्द्री गजसमारूढा वैष्णवी गरुडासना॥९॥
माहेश्वरी वृषारूढा कौमारी शिखिवाहना।
लक्ष्मीः पद्मासनादेवी पद्महस्ता हरिप्रिया॥१०॥
श्वेतरूपधरा देवी ईश्वरी वृषवाहना।
ब्राह्मी हंस समारूढा सर्वाभरणभूषिता॥११॥
इत्येतामातरः सर्वा सर्व योग समन्विताः।
नानाभरण शोभाढ्या नाना रत्नोपशोभिताः॥१२॥
दृश्यन्ते रथमारूढा देव्यः क्रोधसमाकुलाः।
शङ्खं चक्रं गदां शक्ति हलं च मुसलायुधम्॥१३॥
खेटकं तोमरं चैव परशुं पाशमेव च।
कुन्तायुधं त्रिशूलं च शार्ङ्गमायुधमुत्तमम्॥१४॥
खड्गचर्मत्रिशूलं च पट्टिशं मुद्गरं तथा।
दैत्यानां देहनाशाय भक्तानामभयाय च॥१५॥
धारयन्त्या युधानीत्थं देवानां च हिताय वै।
नमस्तेऽस्तु महारौद्रे महाघोर पराक्रमे॥१६॥
महाबले महोत्साहे महाभय विनाशिनी।
त्राहि मां देवि दुष्प्रेक्ष्ये शत्रूणां भयवर्धिनी॥१७॥
प्राच्यां रक्षतु मामैन्द्री आग्नेय्यामग्निदेवता।
दक्षिणेऽवतु वाराही नैर्ऋत्यां खड्गधारिणी॥१८॥
प्रतीच्यां वारुणी रक्षेद्वायव्यां मृगवाहिनी।
उदीच्यां पातु कौमा [illegible] १९

ऊर्ध्वं ब्रह्माणी मे रक्षेदधस्ताद्वैष्णवी तथा ।
एवं दशदिशो रक्षेच्चामुण्डा .शववाहना ॥२०॥
जया मे चाग्रतः पातु विजया .पातु पृष्ठतः ।
अजिता वामपार्श्वे तु दक्षिणे चापराजिता ॥२१॥
शिखामुद्योतिनी रक्षेदुमा मूर्ध्नि व्यवस्थिता ।
मालाधरी ललाटे च भ्रुवौ रक्षेद्यशस्विनी ॥२२॥
त्रिनेत्रा च भ्रुवोर्मध्ये यमघण्टा च नासिके ।
शङ्खिनी चक्षुपोर्मध्ये श्रोत्रयोर्द्वारवासिनी ॥२३॥
कपोलौ कालिका रक्षेत्कर्णमूले तु शाङ्करी ।
नासिकायां सुगन्धा च उत्तरोष्ठे च चर्चिका ॥२४॥
अधरे चामृतकला जिह्वायां च सरस्वती ।
दन्तान् रक्षतु कौमारी कण्ठदेशे तु चण्डिका ॥२५॥
घण्टिकां चित्रघण्टा च महामाया च तालुके ।
कामाक्षी चिबुकं रक्षे द्वाचं मे सर्व मङ्गला ॥२६॥
ग्रीवायां भद्रकाली च पृष्ठवंशे धनुर्धरी ।
नीलग्रीवा बहिःकण्ठे नलिकां नलकूबरी ॥२७॥
स्कन्धयोः खड्गिनी रक्षेद्बाहू में वज्रधारिणी ।
हस्तयोर्दण्डिनी रक्षेदम्बिका चाङ्गुलीपु च ॥२८॥
नखाञ्छूलेश्वरी रक्षेत् कुक्षौ रक्षेत्कुलेश्वरी ।
स्तनौ रक्षेन्महालक्ष्मी मनश्शोकविनाशिनी ॥२९॥
हृदये ललितादेवी उदरे शूलधारिणी ।
नाभौ च कामिनी रक्षेद् गुह्यं गुह्येश्वरी तथा ॥३०॥

पूतना कामिका मेढ्रं गुदे महिषवाहिनी ।
कट्यां भगवती रक्षेज्जानुनी विन्ध्यवासिनी ॥३१॥
जंघे महाबला रक्षेत् सर्वकाम प्रदायिनी ।
गुल्फयो नारसिंही च पादपृष्ठे तु तैजसी ॥३२॥
पादांगुलीषु श्रीरक्षेत्पादाधस्तलवासिनी ।
नखान्दंष्ट्राकराली च केशांश्चैवोर्ध्वकेशिनी ॥३३॥
रोम कूपेषु कौबेरी त्वचं वागीश्वरी तथा ।
रक्तमज्जावसा मांसान्यस्थि मेदांसि पार्वती ॥३४॥
अन्त्राणि कालरात्रिश्च पित्तं च मुकुटेश्वरी ।
पद्मावती पद्मकोषे कफे चूड़ामणिस्तथा ॥३५॥
ज्वालामुखी नखज्वालामभेद्या सर्वसंधिषु ।
शुक्रं ब्रह्माणी मे रक्षेच्छायां छत्रेश्वरी तथा ॥३६॥
अहंकारं मनो बुद्धिं रक्षेन्मे धर्मधारिणी ।
प्राणा पानौ तथा व्यानमुदानं च समानकम् ॥३७॥
वज्रहस्ता च मे रक्षेत्प्राणं कल्याण शोभना ।
रसे रूपे च गन्धे च शब्दे स्पर्शे च योगिनी ॥३८॥
सत्वं रजस्तमश्चैव रक्षे नारायणी सदा ।
आयू रक्षतु वाराही धर्मं रक्षतु वैष्णवी ॥३९॥
यशः कीर्तिं च लक्ष्मीं च धनं विद्यांच चक्रिणी ।
गोत्रमिन्द्राणी मे रक्षेत्पशून्मे रक्ष चण्डिके ॥४०॥
पुत्रान्रक्षेन्महालक्ष्मीर्भार्यां रक्षतु भैरवी ।
पन्थानं सुपथा रक्षेन्मार्गं क्षेमकरी तथा ॥४१॥

राजद्वारे महालक्ष्मी विजया सर्वतः स्थिता ।
रक्षा हीनं तु यत्स्थानं वर्जितं कवचेन तु ॥४२॥
तत्सर्वं रक्ष मे देवि जयन्ती पाप नाशिनी ।
पदमेकं न गच्छेत्तु यदीच्छे च्छुभमात्मनः ॥४३॥
कवचेनावृतो नित्यं यत्र यत्रैव गच्छति ।
तत्र तत्रार्थलाभश्च विजयः सार्वकामिकः ॥४४॥
यं यं चिन्तयते कामं तं तं प्राप्नोति निश्चितम् ।
परमैश्वर्य्य मतुलं प्राप्स्यते भूतले पुमान् ॥४५॥
निर्भयो जायते मर्त्यः संग्रामेष्व पराजितः ।
त्रैलोक्ये तु भवेत्पूज्यः कवचेनावृत्तः पुमान् ॥४६॥
इदं तु देव्याः कवचं देवानामपि दुर्लभम् ।
यः पठेत्प्रयतो नित्यं त्रिसन्ध्यं श्रद्धयान्वितः ॥४७॥
दैवीकला भवेत्तस्य त्रैलोक्येऽष्व पराजितः ।
जीवेद्वर्षशतं साग्रमपमृत्यु विवर्जितः ॥४८॥
नश्यन्ति व्याधयः सर्वे लूताविस्फोटकादयः ।
स्थावरं जंगमं चैव कृत्रिमं चापि यद्विषम् ॥४९॥
अभिचाराणि सर्वाणि मन्त्रयन्त्राणि भूतले ।
भूचराः खेचराश्चैव कुलजाश्चोपदेशिकाः ॥५०॥
सहजा कुलजा मालाः डाकिनी शाकिनी तथा ।
अन्तरिक्षचरा घोरा डाकिन्यश्च महाबलाः ॥५१॥
ग्रहभूतपिशाचाश्च यक्ष गन्धर्व राक्षसाः ।
ब्रह्मराक्षस वेतालाः कूष्माण्डा भैरवादयः ॥५२॥

मधुकैटभविद्रावि विधातृवरदे नमः ।
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि ॥३॥
महिषासुरनिर्णाशि भक्तानां सुखदे नमः ।
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि ॥४॥
रक्तबीजवधे देवि चण्डमुण्डविनाशिनी ।
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि ॥५॥
शुम्भस्य वै निशुम्भस्य धूम्राक्षस्य च मर्दिनी ।
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि ॥६॥
वन्दितांघ्रियुगे देवि सर्वसौभाग्यदायिनी ।
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि ॥७॥
अचिन्त्यरूपचरिते सर्वशत्रुविनाशिनी ।
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि ॥८॥
नतेभ्यः सर्वदा भक्त्या चण्डिके दुरितापहे ।
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि ॥९॥
स्तुवद्भ्यो भक्तिपूर्वं त्वां चण्डिके व्याधि नाशिनी ।
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि ॥१०॥
चण्डिके सततं येत्वामर्चयन्तीह भक्तितः ।
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि ॥११॥
देहि सौभाग्य मारोग्यं देहि मे परमं सुखम् ।
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि ॥१२॥
विधेहि द्विषतां नाशं विधेहि बलमुच्चकैः ।
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि ॥१३॥

विधेहि देवि कल्याणं विधेहि परमां श्रियम् ।
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विपो जहि ॥१४॥
सुरासुरशिरोरत्न निघृष्ट चरणेऽम्बिके ।
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विपो जहि ॥१५॥
विद्यावन्तं यशस्वन्तं लक्ष्मीवन्तं जनं कुरु ।
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विपो जहि ॥१६॥
प्रचण्डदैत्यदर्पघ्ने चण्डिके दुरितापहे ।
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विपो जहि ॥१७॥
चतुर्भुजे चतुर्वक्त्रसंस्तुते परमेश्वरि ।
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विपो जहि ॥१८॥
कृष्णेन संस्तुते देवि शश्वद्भक्त्या सदाम्बिके ।
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विपो जहि ॥१९॥
हिमाचलसुतानाथ संस्तुते परमेश्वरि ।
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विपो जहि ॥२०॥
इन्द्राणीपतिसद्भावपूजिते परमेश्वरि ।
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विपो जहि ॥२१॥
देवीप्रचण्डदोर्दण्ड दैत्यदर्पविनाशिनी ।
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विपो जहि ॥२२॥
देवि भक्तजनोद्दामदत्तानन्दोदयेऽम्बिके ।
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विपो जहि ॥२३॥
पुत्रान् देहि धनं देहि सर्वान् कामांश्च देहि मे ।
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विपो जहि ॥२४॥

पत्नीं मनोरमां देहि मनोवृत्तानुसारिणीम् ।
तारिणीं दुर्गसंसारसागरस्य कुलोद्भवाम् ॥२५॥
इदं स्तोत्रंपठित्वा तु महास्तोत्रं पठेन्नरः ।
सतु सप्तशती संख्या वरमाप्नोतिसंपदाम् ॥२६॥
मार्कण्डेय पुराणे इत्यर्गलास्तोत्रम् ।

अथ कीलकम्

अस्य श्री कीलकस्तोत्रमन्त्रस्य शिव ऋषिः अनुष्टुप्छन्दः श्री महासरस्वती देवता, श्री जगदम्बाप्रीत्यर्थं सप्तशतीपाठाङ्गजपे विनियोगः ।

ॐ नमश्चण्डिकायै मार्कण्डेय उवाच ।

विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे ।
श्रेयः प्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे ॥१॥
सर्वमेतद्विजानीयान्मन्त्राणामपि कीलकम् ।
सोऽपि क्षेममवाप्नोति सततं जाप्यतत्परः ॥२॥
सिद्ध्यन्त्युच्चाटनादीनि वस्तूनि सकलान्यपि ।
एतेन स्तुवतां देवीं स्तोत्रमात्रेण सिद्ध्यति ॥३॥
न मन्त्रो नौषधन्तत्र न किञ्चिदपि विद्यते ।
विना जाप्येन सिद्ध्येत सर्वमुच्चाटनादिकम् ॥४॥

समग्राण्यपि सिद्धयन्ति लोकशङ्कामिमां हरः ।
कृत्वा निमन्त्रयामास सर्वमेवमिदं शुभम् ॥५॥
स्तोत्रं वै चण्डिकायास्तु तच्च गुप्तं चकार सः ।
समाप्नोति सुपुण्येन तां यथावन्नियन्त्रणाम् ॥६॥
सोऽपि क्षेममवाप्नोति सर्वमेव न संशयः ।
कृष्णायां वा चतुर्दश्यामष्टम्यां वा समाहितः ॥७॥
ददाति प्रतिगृह्णाति नान्यथैषा प्रसीदति ।
इत्थं रूपेण कीलेन महादेवेन कीलितम् ॥८॥
यो निष्कीलां विधायैनां नित्यं जपति संस्फुटम् ।
ससिद्धः सगणः सोऽपि गन्धर्वो जायते नरः ॥९॥
न चैवाप्यटतस्तस्य भयं क्वापि हि जायते ।
नाऽपमृत्युवशं याति मृतो मोक्षमवाप्नुयात् ॥१०॥
ज्ञात्वा प्रारभ्य कुर्वीत ह्यकुर्वाणो विनश्यति ।
ततो ज्ञात्वैव संपन्नमिदं प्रारभ्यते बुधैः ॥११॥
सौभाग्यादि च यत्किञ्चिद्दृश्यते ललनाजने ।
तत्सर्वं त्वत्प्रसादेन तेन जाप्यमिदं शुभम् ॥१२॥
शनैस्तु जप्यमानेऽस्मिन्स्तोत्रे संपत्तिरुच्चकैः ।
भवत्येव समग्रापि ततः प्रारभ्यमेव तत् ॥१३॥
ऐश्वर्यं यत्प्रसादेन सौभाग्यारोग्यसंपदः ।
शत्रुहानिः परो मोक्षः स्तूयते सा न किं जनैः ॥१४॥

इति श्री कीलकम् ।

अथ पौराणिकं रात्रिसूक्तम्

ॐ ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे

नवार्ण मन्त्रः।

विश्वेश्वरीं जगद्धात्रीं स्थितिसंहारकारिणीम्।
निद्रां भगवतीं विष्णोरतुलां तेजसः प्रभुः ॥१॥

ब्रह्मोवाच।

त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वंहि वषट्कारः स्वरात्मिका।
सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधामात्रात्मिका स्थिता ॥२॥
अर्धमात्रास्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः।
त्वमेव सन्ध्या सावित्री त्वं देवि जननी परा ॥३॥
त्वयैतद्धार्यते विश्वं त्वयैतत्सृज्यते जगत्।
त्वय तत्पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा ॥४॥
विसृष्टौ सृष्टिरूपा त्वं स्थितिरूपा च पालने।
तथा संहृतिरूपान्ते जगतोऽस्य जगन्मये ॥५॥
महाविद्या महामाया महामेधा महास्मृतिः।
महामोहा च भवती महादेवी महासुरी ॥६॥
प्रकृतिस्त्वं च सर्वस्य गुणत्रयविभाविनी।
कालरात्रिर्महारात्रिर्मोहरात्रिश्च दारुणा ॥७॥
त्वं श्रीस्त्वमीश्वरी त्वं ह्रीस्त्वं बुद्धिर्बोधलक्षणा।
लज्जा पुष्टिस्तथा तुष्टिस्त्वं शान्ति क्षान्तिरेव च ॥८॥

खड्गिनी शूलिनी घोरा गदिनी चक्रिणी तथा।
शङ्खिनी चापिनी बाणभुशुण्डीपरिघायुधा ॥९॥
सौम्या सौम्यतराशेषसौम्येभ्यस्त्वतिसुन्दरी।
परापराणां परमा त्वमेव परमेश्वरी ॥१०॥
यच्च किञ्चित्क्वचिद्वस्तु सदसद्वाऽखिलात्मिके।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे सदा ॥११॥
यया त्वया जगत्स्रष्टा जगत्पात्यत्ति यो जगत्।
सोऽपि निद्रावशं नीतः कस्त्वां स्तोतुमिहेश्वरः ॥१२॥
विष्णुः शरीरग्रहणमहमीशान एव च।
कारितास्ते यतोऽतस्त्वां कः स्तोतुं शक्तिमान्भवेत् ॥१३॥
सा त्वमित्थं प्रभावैः स्वैरुदारैर्देवि संस्तुता।
मोहयैतौ दुराधर्षावसुरौ मधुकैटभौ ॥१४॥
प्रबोधं च जगत्स्वामी नीयतामच्युतो लघु।
बोधश्च क्रियतामस्य हन्तुमेतौ महासुरौ ॥१५॥

इति रात्रिसूक्तम्।

ॐ ह्रीं ऋषिरुवाच ॥१॥

शक्रादयः सुरगणा निहतेऽतिवीर्ये तस्मिन्दुरात्मनि सुरारिबले च देव्या। तां तुष्टुवुः प्रणतिनम्रशिरोधरांसा वाग्भिः प्रहर्षपुलकोद्गमचारुदेहाः ॥२॥ देव्या यया ततमिदं जगदात्मशक्त्या निःशेषदेवगणशक्तिसमूहमूर्त्या। तामम्बिकामखिलदेवमहर्षिपूज्यां भक्त्या

नताः स्म विदधातु शुभानि सा नः ॥३॥ यस्याः प्रभावमतुलं भगवाननन्तो ब्रह्मा हरश्च नहि वक्तुमलं बलं च। सा चण्डिकाखिलजगत्परिपालनाय नाशाय चाशुभभयस्य मतिं करोतु ॥४॥ या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्वलक्ष्मीः पापात्मनां कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः। श्रद्धा सतां कुलजनप्रभवस्य लज्जा तां त्वां नताःस्म परिपालय देवि विश्वम् ॥५॥ किं वर्णयाम तव रूपमचिन्त्यमेतत्किं चातिवीर्यमसुरक्षयकारि भूरि। किं चाहवेषु चरितानि तवातियानि सर्वेषु देव्यसुरदेवगणादिकेषु ॥६॥ हेतुः समस्तजगतां त्रिगुणापि दोषैर्न ज्ञायसे हरिहरादिभिरप्यपारा। सर्वाश्रयाखिलमिदं जगदंशभूतमव्याकृता हि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या ॥७॥ यस्याः समस्तसुरता समुदीरणेन तृप्तिं प्रयांति सकलेषु मखेषु देवि। स्वाहासि वै पितृगणस्य च तृप्तिहेतुरुच्चार्यसे त्वमत एव जनैः स्वधा च ॥८॥ या मुक्तिहेतुरविचिन्त्यमहाव्रता च अभ्यस्यसे सुनियतेन्द्रियतत्त्वसारैः। मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्तसमस्तदोषैर्विद्याऽसि सा भगवती परमा हि देवी ॥९॥ शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषां निधानमुद्गीथरम्यपदपाठवतां च साम्नाम्। देवी त्रयी भगवती भव भावनाय वार्तासि सर्वजगतां परमार्तिहन्त्री ॥१०॥ मेधासि देवि विदिताखिल शास्त्रसारा दुर्गाऽसि दुर्गभवसागरनौरसंगा। श्रीः कैटभारिहृदयैक कृताधिवासा गौरि त्वमेव शशिमौलिकृतप्रतिष्ठा ॥११॥ ईषत्सहासममलं परिपूर्णचन्द्रबिम्बानुकारि कनकोत्तमकान्तिकान्तम्। अत्यद्भुतं प्रहृतमात्तरुषा तथापि वक्त्रं विलोक्य सहसा महिषासुरेण ॥१२॥ दृष्ट्वा तु देवि कुपितं भ्रुकुटीकराल-

मुद्यच्छशाङ्कसदृशच्छवि यन्न सद्यः। प्राणान्मुमोच महिषस्तदतीव चित्रं कैर्जीव्यते हि कुपितान्तकदर्शनेन ॥१३॥ देवि प्रसीद परमा भवती भवाय सद्यो विनाशयसि कोपवती कुलानि। विज्ञातमेतदधुनैव यदस्तमेतन्नीतं बलं सुविपुलं महिषासुरस्य ॥१४॥ ते संमता जनपदेषु धनानि तेषां तेषां यशांसि न च सीदति धर्मवर्गः। धन्यास्त एव निभृतात्मजभृत्यदारा येषां सदाभ्युदयदा भवती प्रसन्ना ॥१५॥ धर्म्याणि देवि सकलानि सदैव कर्माण्यत्यादृतः प्रतिदिनं सुकृती करोति। स्वर्गं प्रयाति च ततो भवतीप्रसादाल्लोकत्रयेऽपि फलदा ननु देवि तेन ॥१६॥ दुर्गे स्मृता हरसि भीतिमशेषजन्तोः स्वस्थैः स्मृता मतिमतीव शुभां ददासि। दारिद्र्यदुःखभयहारिणि का त्वदन्या सर्वोपकारकरणाय सदाऽर्द्रचित्ता ॥१७॥ एभिर्हतैर्जगदुपैति सुखं तथैते कुर्वन्तु नाम नरकाय चिराय पापम्। संग्राममृत्युमधिगम्य दिवं प्रयान्तु मत्वेति नूनमहितान्विनिहंसि देवि ॥१८॥ दृष्ट्वैव किं न भवती प्रकरोति भस्म सर्वासुरानरिषु यत्प्रहिणोषि शस्त्रम्। लोकान्प्रयान्तु रिपवोऽपि हि शस्त्रपूता इत्थं मतिर्भवति तेष्वहितेषु साध्वी ॥१९॥ खड्गप्रभानिकरविस्फुरणैस्तथोग्रैः शूलाग्रकान्तिनिवहेन दृशोऽसुराणाम्। यन्नागता विलयमंशुमदिन्दुखण्डयोग्याननं तव विलोकयतां तदेतत् ॥२०॥ दुर्वृत्तवृत्तशमनं तव देवि शीलं रूपं तथैतदविचिन्त्यमतुल्यमन्यैः। वीर्यं च हन्तृ हृतदेवपराक्रमाणां वैरिष्वपि प्रकटितैव दया त्वयेत्थम् ॥२१॥ केनोपमा भवतु तेऽस्य पराक्रमस्य रूपं च शत्रुभयकार्यतिहारि कुत्र। चित्ते कृपा समरनिष्ठुरता च दृष्टा

त्वय्येव देवि वरदे भुवनत्रयेऽपि ॥२२॥ त्रैलोक्यमेतदखिलं रिपुनाशनेन त्रातं त्वया समरमूर्धनि तेऽपि हत्वा। नीता दिवं रिपुगणा भयमप्यपास्तमस्माकमुन्मदसुरारिभवं नमस्ते ॥२३॥ शूलेन पाहि नो देवि पाहि खड्गेन चाम्बिके। घण्टास्वनेन नः पाहि चापज्यानिःस्वनेन च ॥२४॥ प्राच्यां रक्ष प्रतीच्यां च चण्डिके रक्ष दक्षिणे। भ्रामणेनात्मशूलस्य उत्तरस्यां तथेश्वरि ॥२५॥ सौम्यानि यानि रूपाणि त्रैलोक्ये विचरन्ति ते। यानि चात्यर्थघोराणि तै रक्षास्मांस्तथा भुवम् ॥२६॥ खड्गशूलगदादीनि यानि चास्त्राणि तेऽम्बिके। करपल्लवसंगीनि तैरस्मान् रक्ष सर्वतः ॥२७॥

* * *

देवा ऊचुः ॥८॥

नमो देव्यै महादेव्यै शिवायै सततं नमः।
नमः प्रकृत्यै भद्रायै नियताः प्रणताः स्मताम् ॥६॥
रौद्रायै नमो नित्यायै गौर्यै धात्र्यै नमो नमः।
ज्योत्स्नायै चेन्दुरूपिण्यै सुखायै सततं नमः ॥१०॥
कल्याण्यै प्रणतांवृद्ध्यै सिद्ध्यै कूर्मो नमो नमः।
नैर्ऋत्यै भूभृतां लक्ष्म्यै शर्वाण्यै ते नमो नमः ॥११॥
दुर्गायै दुर्गपारायै सारायै सर्वकारिण्यै।
ख्यात्यै तथैव कृष्णायै धूम्रायै सततं नमः ॥१२॥
अतिसौम्यातिरौद्रायै नतास्तस्यै नमो नमः।
नमो जगत्प्रतिष्ठायै देव्यै कृत्यै नमो नमः ॥१३॥

या देवी सर्वभूतेषु विष्णुमायेति शब्दिता ।

नमस्तस्यै ॥१४॥ नमस्तस्यै ॥१५॥ नमस्तस्यै नमो नमः ॥१६॥

या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते ।

नमस्तस्यै ॥१७॥ नमस्तस्यै ॥१८॥ नमस्तस्यै नमो नमः ॥१९॥

या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता ।

नमस्तस्यै ॥२०॥ नमस्तस्यै ॥२१॥ नमस्तस्यै नमो नमः ॥२२॥

या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता ।

नमस्तस्यै ॥२३॥ नमस्तस्यै ॥२४॥ नमस्तस्यै नमो नमः ॥२५॥

या देवी सर्वभूतेषु क्षुधारूपेण संस्थिता ।

नमस्तस्यै ॥२६॥ नमस्तस्यै ॥२७॥ नमस्तस्यै नमो नमः ॥२८॥

या देवी सर्वभूतेषु छायारूपेण संस्थिता ।

नमस्तस्यै ॥२९॥ नमस्तस्यै ॥३०॥ नमस्तस्यै नमो नमः ॥३१॥

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता ।

नमस्तस्यै ॥३२॥ नमस्तस्यै ॥३३॥ नमस्तस्यै नमो नमः ॥३४॥

या देवी सर्वभूतेषु तृष्णारूपेण संस्थिता ।

नमस्तस्यै ॥३५॥ नमस्तस्यै ॥३६॥ नमस्तस्यै नमो नमः ॥३७॥

या देवी सर्वभूतेषु क्षान्तिरूपेण संस्थिता ।

नमस्तस्यै ॥३८॥ नमस्तस्यै ॥३९॥ नमस्तस्यै नमो नमः ॥४०॥

या देवी सर्वभूतेषु जातिरूपेण संस्थिता ।

नमस्तस्यै ॥४१॥ नमस्तस्यै ॥४२॥ नमस्तस्यै नमो नमः ॥४३॥

या देवी सर्वभूतेषु लज्जारूपेण संस्थिता ।

नमस्तस्यै ॥४४॥ नमस्तस्यै ॥४५॥ नमस्तस्यै नमो नमः ॥४६॥

या देवी सर्वभूतेषु शान्तिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै ॥४७॥ नमस्तस्यै ॥४८॥ नमस्तस्यै नमो नमः ॥४९॥
या देवी सर्वभूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै ॥५०॥ नमस्तस्यै ॥५१॥ नमस्तस्यै नमो नमः ॥५२॥
या देवी सर्वभूतेषु कान्तिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै ॥५३॥ नमस्तस्यै ॥५४॥ नमस्तस्यै नमो नमः ॥५५॥
या देवी सर्वभूतेषु लक्ष्मीरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै ॥५६॥ नमस्तस्यै ॥५७॥ नमस्तस्यै नमो नमः ॥५८॥
या देवी सर्वभूतेषु वृत्तिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै ॥५९॥ नमस्तस्यै ॥६०॥ नमस्तस्यै नमो नमः ॥६१॥
या देवी सर्वभूतेषु स्मृतिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै ॥६२॥ नमस्तस्यै ॥६३॥ नमस्तस्यै नमो नमः ॥६४॥
या देवी सर्वभूतेषु दयारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै ॥६५॥ नमस्तस्यै ॥६६॥ नमस्तस्यै नमो नमः ॥६७॥
या देवी सर्वभूतेषु तुष्टिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै ॥६८॥ नमस्तस्यै ॥६९॥ नमस्तस्यै नमो नमः ॥७०॥
या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै ॥७१॥ नमस्तस्यै ॥७२॥ नमस्तस्यै नमो नमः ॥७३॥
या देवी सर्वभूतेषु भ्रान्तिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै ॥७४॥ नमस्तस्यै ॥७५॥ नमस्तस्यै नमो नमः ॥७६॥
इन्द्रियाणामधिष्ठात्री भूतानां चाखिलेषु या ।
भूतेषु सततं तस्यै व्याप्त्यै देव्यै नमो नमः ॥७७॥

चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद्व्याप्य स्थिता जगत् ।
नमस्तस्यै ॥७८॥ नमस्तस्यै ॥७९॥ नमस्तस्यै नमो नमः ॥८०॥
स्तुता सुरैः पूर्वमभीष्टसंश्रयात्तथा सुरेन्द्रेण दिनेषु सेविता ।
करोतु सा नः शुभहेतुरीश्वरी शुभानि भद्राण्यभिहन्तु चापदः ॥८१॥
या सांप्रतं चोद्धतदैत्यतापितैरस्माभिरीशा च सुरैर्नमस्यते ।
या च स्मृता तत्क्षणमेवहन्ति नः सर्वापदो भक्तिविनम्रमूर्तिभिः ॥८२॥

* * *

ऋषिरुवाच ॥१॥

देव्याहते तत्र महासुरेन्द्रे सेन्द्राः सुरा वह्निपुरोगमास्ताम् ।
कात्यायनीं तुष्टुवुरिष्टलाभाद्विकाशिवक्त्रास्तुविकाशिताशाः ॥२॥
देवि प्रपन्नार्तिहरे प्रसीद प्रसीद मातर्जगतोऽखिलस्य ।
प्रसीद विश्वेश्वरि पाहि विश्वं त्वमीश्वरी देवि चराचरस्य ॥३॥
आधारभूता जगतस्त्वमेका महीस्वरूपेण यतः स्थितासि ।
अपांस्वरूपस्थितया त्वयैतदाप्यायते कृत्स्नमलंध्यवीर्य ॥४॥
त्वं वैष्णवी शक्तिरनन्तवीर्या विश्वस्य बीजं परमासि माया ।
संमोहितं देवि समस्तमेतत्त्वं वै प्रपन्ना भुवि मुक्तिहेतुः ॥५॥
विद्यास्समस्तास्तव देवि भेदाः स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु ।
त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्का ते स्तुतिः स्तव्यपरापरोक्तिः ॥६॥
सर्वभूता यदा देवि भुक्तिमुक्तिप्रदायिनी ।
त्वं स्तुता स्तुतये का वा भवन्तु परमोक्तयः ॥७॥

सर्वस्य बुद्धिरूपेण जनस्य हृदि संस्थिते ।
स्वर्गापवर्गदे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥८॥
कलाकाष्ठादिरूपेण परिणामप्रदायिनि ।
विश्वस्योपरतौ शक्ते नारायणि नमोऽस्तु ते ॥९॥
सर्वमङ्गलमाङ्गल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके ।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१०॥
सृष्टिस्थितिविनाशानां शक्तिरूपे सनातनि ।
गुणाश्रये गुणमये नारायणि नमोऽस्तु ते ॥११॥
शरणागतदीनार्तपरित्राणपरायणे ।
सर्वस्यार्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१२॥
हंसयुक्तविमानस्थे ब्रह्माणीरूपधारिणि ।
कौशाम्भःक्षरिके देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१३॥
त्रिशूलचन्द्राहिधरे महावृषभवाहिनि ।
माहेश्वरीस्वरूपेण नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१४॥
मयूरकुक्कुटवृत्ते महाशक्तिधरेऽनघे ।
कौमारीरूपसंस्थाने नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१५॥
शङ्खचक्रगदाशार्ङ्गगृहीतपरमायुधे ।
प्रसीद वैष्णवीरूपे नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१६॥
गृहीतोग्रमहाचक्रे दंष्ट्रोद्धृतवसुन्धरे ।
वराहरूपिणि शिवे नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१७॥
नृसिंहरूपेणोग्रेण हन्तुं दैत्यान्कृतोद्यमे ।
त्रैलोक्यत्राणसहिते नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१८॥

किरीटिनि महावज्रे सहस्रनयनोज्ज्वले ।
वृत्रप्राण हरे चैन्द्रि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१६॥
शिवदूतीस्वरूपेण हतदैत्यमहाबले ।
घोररूपे महारावे नारायणि नमोऽस्तु ते ॥२०॥
दंष्ट्राकरालवदने शिरोमाला विभूषणे ।
चामुण्डे मुण्डमथने नारायणि नमोऽस्तु ते ॥२१॥
लक्ष्मि लज्जे महाविद्ये श्रद्धे पुष्टिस्वधे ध्रुवे ।
महारात्रिर्महामाये नारायणि नमोऽस्तु ते ॥२२॥
मेधे सरस्वति वरे भूति बाभ्रवि तामसि ।
नियते त्वं प्रसीदेशे नारायणि नमोऽस्तु ते ॥२३॥
सर्वतः पाणि पादान्ते सर्वतोक्षि शिरोमुखे ।
सर्वतः श्रवणघ्राणे नारायणि नमोऽस्तु ते ॥२३अ॥
सर्वस्वरूपे सर्वेशे सर्वशक्तिसमन्विते ।
भयेभ्यस्त्राहि नो देवि दुर्गे देवि नमोऽस्तु ते ॥२४॥
एतत्ते वदनं सौम्यं लोचनत्रयभूषितम् ।
पातु नः सर्वभूतेभ्यः कात्यायनि नमोऽस्तु ते ॥२५॥
ज्वालाकरालमत्युग्रमशेषासुरसूदनम् ।
त्रिशूलं पातु नो भीतेर्भद्रकालि नमोऽस्तु ते ॥२६॥
हिनस्ति दैत्यतेजांसि स्वनेनापूर्य या जगत् ।
सा घण्टा पातु नो देवि पापेभ्यो नः सुतानिव ॥२७॥
असुरासृग्वसापङ्कचर्चितस्ते करोज्ज्वलः ।
शुभाय खड्गो भवतु चण्डिके त्वां नता वयम् ॥२८॥

रोगानशेषानपहंसि तुष्टा रुष्टा तु कामान्सकलानभिष्टान्। त्वामाश्रितानां न विपन्नराणां त्वामाश्रिता ह्याश्रयतां प्रयान्ति ॥२९॥ एतत्कृतं यत्कदनं त्वयाद्य धर्मद्विषां देवि महासुराणाम्। रूपैरनेकैर्बहुधात्ममूर्तिं कृत्वाऽम्बिके तत् प्रकरोति कान्या ॥३०॥ विद्यासु शास्त्रेषु विवेकदीपेष्वाद्येषु वाक्येषु च का त्वदन्या। ममत्वगर्तेऽतिमहान्धकारे विभ्रामयत्येतदतीव विश्वम् ॥३१॥ रक्षांसि यत्रोग्रविषाश्च नागा यत्रारयो दस्युबलानि यत्र। दावानलो यत्र तथाब्धिमध्ये तत्र स्थिता त्वं परिपासि विश्वम् ॥३२॥ विश्वेश्वरि त्वं परिपासि विश्वं विश्वात्मिका धारयसीति विश्वम्। विश्वेशवन्द्या भवती भवन्ति विश्वाश्रया ये त्वयि भक्तिनम्राः ॥३३॥ देवि प्रसीद परिपालय नोऽरिभीतेर्नित्यं यथाऽसुरवधादधुनैव सद्यः। पापानि सर्वजगतां प्रशमं नयाशु उत्पातपाकजनितांश्च महोपसर्गान् ॥३४॥

प्रणतानां प्रसीद त्वं देवि विश्वार्तिहारिणी।
त्रैलोक्यवासिनामीड्ये लोकानां वरदा भव ॥३५॥

पाठान्ते क्षमापराधनम्

अपराधसहस्राणि क्रियन्तेऽहर्निशं मया।
दासोऽयमिति मां मत्वा क्षमस्व परमेश्वरि ॥१॥
आवाहनं न जानामि न जानामि विसर्जनम्।
पूजां चैव न जानामि क्षम्यतां परमेश्वरि ॥२॥
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं सुरेश्वरि।

यत्पूजितं मया देवि परिपूर्णं तदस्तु मे ॥३॥
अपराधशतं कृत्वा जगदम्बेति चोच्चरेत् ।
यां गतिं समवाप्नोति न तां ब्रह्मादयः सुराः ॥४॥
सापराधोऽस्मि शरणं प्राप्तस्त्वां जगदम्बिके ।
इदानीमनुकंप्योऽहं यथेच्छसि तथा कुरु ॥५॥
अज्ञानाद्विस्मृतेर्भ्रान्त्या यन्न्यूनमधिकंकृतम् ।
तत्सर्वं क्षम्यतां देवि प्रसीद परमेश्वरी ॥६॥
विसर्ग विन्दु मात्राश्च पद पादाक्षराणि च ।
न्यूनाति चातिरिक्तानि क्षमस्व परमेश्वरि ॥७॥
कामेश्वरि जगन्मातः सच्चिदा नन्दविग्रहे ।
गृहाणार्चामिमां प्रीत्या प्रसीद परमेश्वरि ॥८॥
गुह्यातिगुह्यगोप्त्री त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम् ।
सिद्धिर्भवतु मे देवि त्वत्प्रसादात्सुरेश्वरि ॥९॥

इति क्षमापराधनम् ।

श्रीगणेशाय नमः ।

गजाननं भूतगणाधिसेवितं कपित्थजम्बूफलचारुभक्षणम् ।
उमासुतं शोकविनाशकारकं नमामि विघ्नेश्वरपादपंकजम् ॥

संकटनाशन गणेशस्तोत्रम्

नारद उवाच ।

प्रणम्य शिरसा देवं गौरीपुत्रं विनायकम् ।
भक्तावासं स्मरेन्नित्यमायुःकामार्थ सिद्धये ॥१॥

प्रथमं वक्रतुण्डं च एकदन्तं द्वितीयकम् ।
तृतीयं कृष्णपिङ्गाक्षं गजवक्त्रं चतुर्थकम् ॥२॥
लम्बोदरं पञ्चमं च षष्ठं विकटमेव च ।
सप्तमं विघ्नराजं च धूम्रवर्णं तथाऽष्टमम् ॥३॥
नवमं भालचन्द्रं च दशमं तु विनायकम् ।
एकादशं गणपतिं द्वादशं तु गजाननम् ॥४॥
द्वादशैतानि नामानि त्रिसन्ध्यं यः पठेन्नरः ।
न च विघ्नभयं तस्य सर्वसिद्धिकरं प्रभो ॥५॥
विद्यार्थी लभते विद्यां धनार्थी लभते धनम् ।
पुत्रार्थी लभते पुत्रान्मोक्षार्थी लभते गतिम् ॥६॥
जपेद् गणपतिस्तोत्रं षड्भिर्मासैः फलं लभेत् ।
संवत्सरेण सिद्धिं च लभते नात्र संशयः ॥७॥
अष्टाभ्यो ब्राह्मणेभ्यश्च लिखित्वा यः समर्पयेत् ।
तस्य विद्या भवेत्सर्वा गणेशस्य प्रसादतः ॥८॥

श्रीहरिः ।

अच्युताष्टकम्

अच्युतं केशवं रामनारायणं कृष्णदामोदरं वासुदेवं हरिम् ।
श्रीधरं माधवं गोपिकावल्लभं जानकीनायकं रामचन्द्रं भजे ॥१॥
अच्युतं केशवं सत्यभामाधवं माधवं श्रीधरं राधिकाराधितम् ।
इन्दिरामन्दिरं चेतसा सुन्दरं देवकीनन्दनं नन्दजं संदधे ॥२॥

विष्णवे जिष्णवे शंखिने चक्रिणे रुक्मिणीरागिणे जानकीजानये ।
वल्लवीवल्लभायार्चितायात्मने कंसविध्वंसिने वंशिने ते नमः ॥३॥
कृष्ण गोविन्द हे रामनारायण श्रीपते वासुदेवाजित श्रीनिधे ।
अच्युतानन्त हे माधवाधोक्षज द्वारकानायक द्रौपदीरक्षक ॥४॥
राक्षसक्षोभितः सीतया शोभितो दण्डकारण्यभूपुण्यताकारणम् ।
लक्ष्मणेनान्वितो वानरैः सेवितोऽगस्त्यसंपूजितो राघवः पातुमाम् ॥५॥
धेनुकारिष्टकोऽनिष्टकृद्द्वेषिणां केशिहा कंसहृद्वंशिकावादकः ।
पूतनाकोपकः सूरजाखेलनो बालगोपालकः पातु मां सर्वदा ॥६॥
विद्युदुद्योतवान्प्रस्फुरद्वाससं प्रावृडम्भोदवत्प्रोल्लसद्विग्रहम् ।
वन्यया मालया शोभितोरःस्थलं लोहितांघ्रिद्वयं वारिजाक्षं भजे ॥७॥
कुञ्चितैः कुन्तलैर्भ्राजमानाननं रत्नमौलिं लसत्कुण्डलं गण्डयोः ।
हारकेयूरकं कङ्कणप्रोज्ज्वलं किङ्किणीमञ्जुलं श्यामलं तं भजे ॥८॥
अच्युतस्याष्टकं यः पठेदिष्टदं प्रेमतः प्रत्यहं पूरुषः सस्पृहम् ।
वृत्ततः सुन्दरं कर्तृ विश्वम्भरं तस्य वश्यो हरिर्जायते सत्वरम् ॥९॥

रामस्तवराजः

श्रीगणेशाय नमः। अस्य श्रीरामचन्द्रस्तवराजस्तोत्र मन्त्रस्य सनत्कुमार ऋषिः। श्रीरामो देवता। अनुष्टुप्छन्दः। सीता बीजम्। हनुमान् शक्तिः। श्रीरामप्रीत्यर्थ जपे विनियोगः।

सूत उवाच।

सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञं व्यासं सत्यवतीसुतम् ।
धर्मपुत्रः प्रहृष्टात्मा प्रत्युवाच मुनीश्वरम् ॥१॥

युधिष्ठिर उवाच ।

भगवन्योगिनां श्रेष्ठ सर्वशास्त्रविशारद ।
किं तत्त्वं किं परं जाप्यं किं ध्यानं मुक्तिसाधनम् ॥२॥
श्रोतुमिच्छामि तत्सर्वं ब्रूहि मे मुनिसत्तम ।

वेदव्यास उवाच ।

धर्मराज महाभाग शृणु वक्ष्यामि तत्त्वतः ॥३॥
यत्परं यद्गुणातीतं यज्ज्योतिरमलं शिवम् ।
तदेव परमं तत्त्वं कैवल्यपदकारणम् ॥४॥
श्रीरामेति परं जप्यं तारकं ब्रह्मसंज्ञकम् ।
ब्रह्महत्यादिपापघ्नमिति वेदविदो विदुः ॥५॥
श्रीरामरामेति जना ये जपन्ति च सर्वदा ।
तेषां भुक्तिश्च मुक्तिश्च भविष्यति न संशयः ॥६॥
स्तवराजं पुरा प्रोक्तं नारदेन च धीमता ।
तत्सर्वं संप्रवक्ष्यामि हरिध्यानपुरःसरम् ॥७॥
तापत्रयाग्निशमनं सर्वाघौघनिकृन्तनम् ।
दारिद्र्यदुःखशमनं सर्वसंपत्करं शिवम् ॥८॥
विज्ञानफलदं दिव्यं मोक्षैकफलसाधनम् ।
नमस्कृत्य प्रवक्ष्यामि रामं कृष्णं जगन्मयम् ॥९॥
अयोध्यानगरे रम्ये रत्नमण्डपमध्यगे ।
स्मरेत्कल्पतरोर्मूले रत्नसिंहासनं शुभम् ॥१०॥
तन्मध्येऽष्टदलं पद्मं नानारत्नैश्च वेष्टितम् ।
स्मरेन्मध्ये दाशरथिं सहस्रादित्यतेजसम् ॥११॥

पितुरंकगतं राममिंद्रनीलमणिप्रभम् ।
कोमलांगं विशालाक्षं विद्युद्वर्णाम्बरावृतम् ॥१२॥
भानुकोटिप्रतीकाशं किरीटेन विराजितम् ।
रत्नग्रैवेयकेयूररत्नकुण्डलमण्डितम् ॥१३॥
रत्नकङ्कणमञ्जीरं कटिसूत्रैरलंकृतम् ।
श्रीवत्सकौस्तुभोरस्कं मुक्ताहारोपशोभितम् ॥१४॥
दिव्यरत्नसमायुक्तं मुद्रिकाभिरलंकृतम् ।
राघवं द्विभुजं बालं राममीषत्स्मिताननम् ॥१५॥
तुलसीकुन्दमन्दार पुष्पमाल्यैरलंकृतम् ।
कर्पूरागुरुकस्तूरी दिव्यगन्धानुलेपनम् ॥१६॥
योगशास्त्रेष्वभिरतं योगेशं योगदायकम् ।
सदा भरतसौमित्रिशत्रुघ्नैरुपशोभितम् ॥१७॥
विद्याधरसुराधीश सिद्धगन्धर्वकिन्नरैः ।
योगीन्द्रैर्नारदाद्यैश्च स्तूयमानमहर्निशम् ॥१८॥
विश्वामित्रवशिष्ठादिमुनिभिः परिसेवितम् ।
सनकादिमुनिश्रेष्ठैर्योगिवृन्दैश्च सेवितम् ॥१९॥
रामं रघुवरं वीरं धनुर्वेदविशारदम् ।
मङ्गलायतनं देवं रामं राजीवलोचनम् ॥२०॥
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञ मानन्दकरसुन्दरम् ।
कौसल्यानन्दनं रामं धनुर्बाणधरं हरिम् ॥२१॥
एवं संचिन्तयन्विष्णुं यज्ज्योतिरमलं विभुम् ।
प्रहृष्टमानसो भूत्वा मुनिवर्यः स नारदः ॥२२॥

सर्वलोकहितार्थाय तुष्टाव रघुनन्दनम् ।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा चिंतयन्नद्भुतं हरिम् ॥२३॥
यदेकं यत्परं नित्यं यदनन्तं चिदात्मकम् ।
यदेकं व्यापकं लोके तद्रूपं चिन्तयाम्यहम् ॥२४॥
विज्ञानहेतुं विमलायताक्षं प्रज्ञानरूपं स्वसुखैकहेतुम् ।
श्रीरामचन्द्रं हरिमादिदेवं परात्परं राममहं भजामि ॥२५॥
कविं पुराणं पुरुषं पुरस्तात्सनातनं योगिनमीशितारम् ।
अणोरणीयांसमनन्तवीर्यं प्राणेश्वरं राममसौ ददर्श ॥२६॥

नारद उवाच ।

नारायणं जगन्नाथमभिरामं जगत्पतिम् ।
कविं पुराणं वागीशं रामं दशरथात्मजम् ॥२७॥
राजराजं रघुवरं कौशल्यानन्दवर्धनम् ।
भर्गं वरेण्यं विश्वेशं रघुनाथं जगद्गुरुम् ॥२८॥
सत्यं सत्यप्रियं श्रेष्ठं जानकीवल्लभं विभुम् ।
सौमित्रिपूर्वजं शान्तं कामदं कमलेक्षणम् ॥२९॥
आदित्यं रविमीशानं घृणिं सूर्यमनामयम् ।
आनन्दरूपिणं सौम्यं राघवं करुणामयम् ॥३०॥
जामदग्न्यं तपोमूर्तिं रामं परशुधारिणम् ।
वाक्पतिं वरदं वाच्यं श्रीपतिं पक्षिवाहनम् ॥३१॥
श्रीशार्ङ्गधारिणं रामं चिन्मयानन्दविग्रहम् ।
हलधृग्विष्णुमीशानं बलरामं कृपानिधिम् ॥३२॥
श्रीवल्लभं कृपानाथं जगन्मोहनमच्युतम् ।

मत्स्यकूर्मवराहादि रूपधारिणमव्ययम् ॥३३॥
वासुदेवं जगद्योनिमनादिनिधनं हरिम् ।
गोविन्दं गोपतिं विष्णुं गोपीजनमनोहरम् ॥३४॥
गोगोपालपरीवारं गोपकन्यासमावृतम् ।
विद्युत्पुञ्जप्रतीकाशं रामं कृष्णं जगन्मयम् ॥३५॥
गोगोपिकासमीकीर्णं वेणुवादनतत्परम् ।
कामरूपं कलावन्तं कामिनीकामदं विभुम् ॥३६॥
मन्मथं मथुरानाथं माधवं मकरध्वजम् ।
श्रीधरं श्रीकरं श्रीशं श्रीनिवासं परात्परम् ॥३७॥
भूतेशं भूपतिं भद्रं विभूतिं भूमिभूषणम् ।
सर्वदुःखहरं वीरं दुष्टदानववैरिणम् ॥३८॥
श्रीनृसिंहं महाबाहुं महान्तं दीप्ततेजसम् ।
चिदानन्दमयं नित्यं प्रणवं ज्योतिरूपिणम् ॥३९॥
आदित्यमण्डलगतं निश्चितार्थस्वरूपिणम् ।
भक्तप्रियं पद्मनेत्रं भक्तानामीप्सितप्रदम् ॥४०॥
कौशलेयं कलामूर्तिं काकुत्स्थं कमलाप्रियम् ।
सिंहासने समासीनं नित्यव्रतमकल्मषम् ॥४१॥
विश्वामित्रप्रियं दान्तं स्वदारनियतव्रतम् ।
यज्ञेशं यज्ञपुरुषं यज्ञपालनतत्परम् ॥४२॥
सत्यसंधं जितक्रोधं शरणागतवत्सलम् ।
सर्वक्लेशापहरणं विभीषणवरप्रदम् ॥४३॥
दशग्रीवहरं रौद्रं केशवं केशिमर्दनम् ।

वालिप्रमथनं वीरं सुग्रीवेप्सितराज्यदम् ॥४४॥
नरवानरदेवैश्च सेवितं हनुमत्प्रियम् ।
शुद्धं सूक्ष्मं परं शान्तं तारकं ब्रह्मरूपिणम् ॥४५॥
सर्वभूतात्मभूतस्थं सर्वाधारं सनातनम् ।
सर्वकारणकर्त्तारं निदानं प्रकृतेः परम् ॥४६॥
निरामयं निराभासं निरवद्यं निरञ्जनम् ।
नित्यानन्दं निराकारमद्वैतं तमसः परम् ॥४७॥
परात्परतरं तत्त्वं सत्यानन्दं चिदात्मकम् ।
मनसा शिरसा नित्यं प्रणमामि रघूत्तमम् ॥४८॥
सूर्यमण्डलमध्यस्थं रामं सीतासमन्वितम् ।
नमामि पुण्डरीकाक्षममेयं गुरुतत्परम् ॥४९॥
नमोस्तु वासुदेवाय ज्योतिषां पतये नमः ।
नमोस्तु रामदेवाय जगदानन्दरूपिणे ॥५०॥
नमो वेदान्तनिष्ठाय योगिने ब्रह्मवादिने ।
मायाभयनिरासाय प्रपन्नजनसेविने ॥५१॥
वन्दामहे महेशान चण्डकोदण्डखण्डनम् ।
जानकीहृदयानन्द वर्धनम् रघुनन्दनम् ॥५२॥
उत्फुल्लामलकोमलोत्पलदलश्यामाय रामाय ते ।
कामाय प्रमदामनोहरगुणग्रामाय रामात्मने ॥५३॥
योगारूढमुनींद्रमानससरोहंसाय कान्ताय ते ।
शान्तायाखिलहेतवे रघुकुलोत्तंसाय पुंसे नमः ॥५४॥

भवोद्भवं वेदविदां वरिष्ठमादित्यचन्द्रानलसुप्रभावम् ।
सर्वात्मकं सर्वगतस्वरूपं नमामि रामं तमसः परस्तात् ॥५५॥
निरञ्जनं निष्प्रतिमं निरीहं निराश्रयं निष्कलमप्रपञ्चम् ।
नित्यं ध्रुवं निर्विषयस्वरूपं निरन्तरं राममहं भजामि ॥५६॥
भवाब्धिपोतं भरताग्रजं तं भक्तप्रियं भानुकुलप्रदीपम् ।
भूतत्रिनाथं भुवनाधिपं तं भजामि रामं भवरोगवैद्यम् ॥५७॥
सर्वाधिपत्यं समरांगधीरं सत्यं चिदानन्दमयस्वरूपम् ।
सत्यं शिवं शान्तिमयं शरण्यं सनातनं राममहं भजामि ॥५८॥
कार्यक्रियाकारणमप्रमेयं कविं पुराणं कमलायताक्षम् ।
कुमारवेद्यं करुणामयं तं कल्पद्रुमं राममहं भजामि ॥५९॥
त्रैलोक्यनाथं सरसीरुहाक्षं दयानिधिं द्वन्द्वविनाशहेतुम् ।
महाबलं वेदविधिं सुरेशं सनातनं राममहं भजामि ॥६०॥
वेदान्तवेद्यं कविमीशितारमनादिमध्यान्तमचिन्त्यमाद्यम् ।
अगोचरं निर्मलमेकरूपं नमामि रामं तमसः परस्तात् ॥६१॥
अशेषवेदात्मकमादिसंज्ञमजं हरिं विष्णुमनन्तमाद्यम् ।
अपारसंवित्सुखमेकरूपं परात्परं राममहं भजामि ॥६२॥
तत्त्वस्वरूपं पुरुषं पुराणं स्वतेजसा पूरितविश्वमेकम् ।
राजाधिराजं रविमण्डलस्थं विश्वेश्वरं राममहं भजामि ॥६३॥
लोकाभिरामं रघुवंशनाथं हरिं चिदानन्दमयं मुकुन्दम् ।
अशेषविद्याधिपतिं कवीन्द्रं नमामि रामं तमसः परस्तात् ॥६४॥
योगीन्द्रसंघैश्च सुसेव्यमानं नारायणं निर्मलमादिदेवम् ।
नतोऽस्मि नित्यं जगदेकनाथमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥६५॥

विभूतिदं विश्वसृजं विरामं राजेन्द्रमीशं रघुवंशनाथम् ।
अचिन्त्यमव्यक्तमनंतमूर्तिं ज्योतिर्मयं राममहं भजामि ॥६६॥
अशेषसंसारविहारहीनमादित्यगं पूर्णसुखाभिरामम् ।
समस्तसाक्षिं तमसः परस्तान्नारायणं विष्णुमहं भजामि ॥६७॥
मुनीन्द्रगुह्यं परिपूर्णकामं कलानिधिं कल्मषनाशहेतुम् ।
परात्परं यत्परमं पवित्रं नमामि रामं महतो महान्तम् ॥६८॥

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च देवेन्द्रो देवतास्तथा ।
आदित्यादिमहाश्चैव त्वमेव रघुनन्दन ॥६९॥
तपसा ऋषयः सिद्धा साध्याश्च मरुतस्तथा ।
विप्रा वेदास्तथा यज्ञाः पुराणधर्मसंहिताः ॥७०॥
वर्णाश्रमास्तथा धर्मा वर्णधर्मास्तथैव च ।
यक्षराक्षसगन्धर्वा दिक्पालदिग्गजादयः ॥७१॥
सनकादिमुनिश्रेष्ठास्त्वमेव रघुपुङ्गव ।
वसवोऽष्टौ त्रयः काला रुद्रा एकादशस्मृताः ॥७२॥
तारका दशदिक्चैव त्वमेव रघुनन्दन ।
सप्तद्वीपाः समुद्राश्च नगा नद्यस्तथा द्रुमाः ॥७३॥
स्थावरा जंगमाश्चैव त्वमेव रघुनायक ।
देवतिर्यङ्मनुष्याणां दानवानां तथैव च ॥७४॥
मातापिता तथा भ्राता त्वमेव रघुवल्लभ ।
सर्वेषां त्वं परं ब्रह्म त्वन्मयं सर्वमेव हि ॥७५॥
त्वमक्षरं परं ज्योतिस्त्वमेव पुरुषोत्तम ।
त्वमेव तारकं ब्रह्म त्वत्तोऽन्यन्नैव किंचन ॥७६॥

शान्तं सर्वगतं सूक्ष्मं परं ब्रह्म सनातनम् ।
राजीवलोचनं रामं प्रणमामि जगत्पतिम् ॥७७॥

व्यास उवाच ।

ततः प्रसन्नः श्रीरामः प्रोवाच मुनिपुङ्गवम् ।
तुष्टोऽस्मि मुनिशार्दूल वृणीष्व वरमुत्तमम् ॥७८॥

नारद उवाच ।

यदि तुष्टोऽसि सर्वज्ञ श्रीराम करुणानिधे ।
त्वन्मूर्तिदर्शनेनैव कृतार्थोऽहं च सर्वदा ॥७९॥
धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं पुण्योऽहं पुरुषोत्तम ।
अद्य मे सफलं जन्म जीवितं सफलं च मे ॥८०॥
अद्य मे सफलं ज्ञान मद्य मे सफलं तपः ।
अद्य मे सफलं सर्वं त्वन्नामस्मरणं तथा ॥८१॥
त्वत्पादांभोरुहद्वन्द्वसद्भक्तिं देहि राघव ।
ततः परमसंप्रीतः स रामः प्राह नारदम् ॥८२॥

श्रीराम उवाच ।

मनुवर्य महाभाग मुने त्विष्टं ददामि ते ।
यत्त्वया चेप्सितं सर्वं मनसा तद् भविष्यति ॥८३॥

नारद उवाच ।

वरं न याचे रघुनाथ युष्मत्पादाब्जभक्तिः सततं ममास्तु ।
इदं प्रियं नाथ वरं प्रयाचे पुनः पुनस्त्वामिदमेव याचे ॥८४॥

व्यास उवाच ।

इत्येवमीडितो रामः प्रादात्तस्मै वरान्तरम् ।
वीरो रामो महातेजाः सच्चिदानन्दविग्रहः ॥८५॥
आद्वैतममलं ज्ञानं स्वनामस्मरणं तथा ।
अन्तर्दधौ जगन्नाथः पुरस्तात्तस्य राधवः ॥८६॥
इति श्रीरघुनाथस्य स्तवराजमनुत्तमम् ।
सर्वसौभाग्यसम्पत्तिदायकं मुक्तिदं शुभम् ॥८७॥
कथितं ब्रह्मपुत्रेण वेदानां सारमुत्तमम् ।
गुह्याद् गुह्यतमं दिव्यं तव स्नेहात्प्रकीर्तितम् ॥८८॥
यः पठेच्छृणुयाद्वापि त्रिसन्ध्यं श्रद्धयान्वितः ।
ब्रह्महत्यादिपापानि तत्समानि बहूनि च ॥८९॥
स्वर्णस्तेयं सुरापानं गुरुतल्पगतिस्तथा ।
गोवधाद्युपपापानि अनृतात्संभवानि च ॥९०॥
सर्वैः प्रमुच्यते पापैः कल्पायुतशतोद्भवैः ।
मानसं वाचिकं पापं कर्मणा समुपार्जितम् ॥९१॥
श्रीरामस्मरणेनैव तत्क्षणान्नश्यति ध्रुवम् ।
इदं सत्यमिदं सत्यं सत्यमेतदिहोच्यते ॥९२॥
रामं सत्यं परं ब्रह्म रामात्किंचिन्न विद्यते ।
तस्माद्रामस्वरूपं हि सत्यं सत्यमिदं जगत् ॥९३॥
श्रीरामचन्द्र रघुपुङ्गव राजवर्य
राजेन्द्र राम रघुनायक राघवेश ।

राजाधिराज रघुनन्दन रामचन्द्र
दासोऽहमद्य भवतः शरणागतोऽस्मि ॥६४॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्ये पुष्पकृतासने मणिमये वीरासने संस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनींद्रैः परं
व्याख्यातं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥६५॥

रामं रत्नकिरीटकुण्डलयुतं केयूरहारान्वितं
सीतालंकृतवामभागममलं सिंहासनस्थं विभुम् ।
सुग्रीवादिहरीश्वरैः सुरगणैः संसेव्यमानं सदा
विश्वामित्रपराशरादिमुनिभिः संस्तूयमानं प्रभुम् ॥६६

सकलगुणनिधानं योगिभिः स्तूयमानं
भुजविजितसमानं राक्षसेन्द्रादिमानम् ।
महितनृपभयानं सीतया शोभमानं
स्मरहृदयविमानं ब्रह्म रामाभिधानम् ॥६७॥

रघुवर तव मूर्तिर्मामके मानसाब्जे
नरकगतिहरं ते नामधेयं मुखे मे ।
अनिशमतुलभक्त्या मस्तकं त्वत्पदाब्जे
भवजलनिधिमग्नं रक्ष मामार्तबन्धो ॥६८॥

रामरत्नमहं वंदे चित्रकूटपतिं हरिम्
कौशल्याभक्तिसंभूतं जानकीकण्ठभूषणम् ॥६९॥

इति श्रीसनत्कुमारसंहितायां नारदोक्तं श्रीरामस्तवराज
स्तोत्रम् सम्पूर्णम् ।

श्रीहरिः ।

प्रह्लादकृता श्रीनृसिंहस्तुति

ब्रह्मादयः सुरगणा मुनयोऽथ सिद्धाः सत्त्वैकतानमतयो वचसां प्रवाहैः । नाराधितुं पुरुगुणैरधुनापि पिप्रुः किं तोष्टुमर्हति स मे हरिरुग्रजातेः ॥१॥ मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौजस्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः । नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय ॥२॥ विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम् । मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ॥३॥ नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते । यद् यज्जनो भगवते विदधीत मानं तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥४॥ तस्मादहं विगतविक्लव ईश्वरस्य सर्वात्मना महि गृणामि यथामनीषम् । नीचोऽजया गुणविसर्गमनुप्रविष्टः पूयेत येन हि पुमाननुवर्णितेन ॥५॥ सर्वे ह्यमी विधिकरास्तव सत्त्वधाम्नो ब्रह्मादयो वयमिवेश न चोद्विजन्तः । क्षेमाय भूतय उतात्मसुखाय चास्य विक्रीडितं भगवतो रुचितावतारैः ॥६॥ तद् यच्छ मन्युमसुरश्च हतस्त्वयाद्य मोदेत साधुरपि वृश्चिकसर्पहत्या । लोकाश्च निर्वृतिमिताः प्रतियन्ति सर्वे रूपं नृसिंह विभयाय जनाः स्मरन्ति ॥७॥ नाहं बिभेम्यजित तेऽतिभयानकास्यजिह्वार्कनेत्रभ्रुकुटीरभसोग्रदंष्ट्रात् । अन्त्रस्रजः क्षतजकेसरशङ्कुकर्णान्निर्ह्रादभीतदिगिभादरिभिन्नखाग्रात् ॥८॥ त्रस्तोऽस्म्यहं कृपणवत्सल दुःसहोग्रसंसारचक्रकदनाद् ग्रसतां प्रणीतः । बद्धः स्वकर्मभिरुशत्तम तेऽङ्-

त्रिसूलं प्रीतोऽपवर्गशरणं ह्वयसे कदा नु ॥९॥ यस्मात् प्रियाप्रिय-वियोगसयोगजन्मशोकाग्निना सकलयोनिषु दह्यमानः। दुःखौषधं तदपि दुःखमतद्धियाहं भूमन् भ्रमामि वद मे तव दास्ययोगम् ॥१०॥ सोऽहं प्रियस्य सुहृदः परदेवताया लीलाकथास्तव नृसिंह विरिञ्चि-गीताः। अञ्जस्तितर्म्यनुगृणन् गुणविप्रमुक्तो दुर्गाणि ते पदयुगा-लयहंससङ्ग ॥११॥ बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह नार्तस्य चागदमुदन्वति मज्जतो नौः। तप्तस्य तत्प्रतिविधिर्य इहाञ्जसेष्ट-स्तावद् विभो तनुभृतां त्वदुपेक्षितानाम् ॥१२॥ यस्मिन् यतो यर्हि येन च यस्य यस्माद् यस्मै यथा यदुत यस्त्वपरः परो वा। भावः करोति विकरोति पृथक्स्वभावः सञ्चोदितस्तदखिलं भवतः स्वरू-पम् ॥१३॥ माया पुनः सृजति कर्ममयं बलीयः कालेन चोदित-गुणानुमतेन पुंसः। छन्दोमयं यदजयार्पितषोडशारं संसारचक्र-मज कोऽतितरेत् त्वदन्यः ॥१४॥ स त्वं हि नित्यविजितात्मगुणः स्वधाम्ना कालो वशीकृतविसृज्यविसर्गशक्तिः। चक्रे विसृष्टमज-येश्वर षोडशारे निष्पीड्यमानमुपकर्ष विभो प्रपन्नम् ॥१५॥ दृष्टा मया दिवि विभोऽखिलधिष्ण्यपानामायुः श्रियो विभव इच्छति याञ्जनोऽयम्। येऽस्मत्पितुः कुपितहासविजृम्भितभ्रूविस्फूर्जितेन लुलिताः स तु ते निरस्तः ॥१६॥ तस्मादमूस्तनुभृतामहमाशिषोऽज्ञ आयुः श्रियं विभवमैन्द्रियमाविरिञ्च्यात्। नेच्छामि ते विलुलिता-नुरुविक्रमेण कालात्मनोपनय मां निजभृत्यपार्श्वम् ॥१७॥ कुत्रा-शिषः श्रुतिसुखा मृगतृष्णिरूपाः क्वेदं कलेवरमशेषरुजां विरोहः। निर्विद्यते न तु जनो यदपीति विद्वान् कामानलं मधुलवैः शमयन्

दुरापैः ॥१८॥ क्काहं रजःप्रभव ईश तमोऽधिकेऽस्मिञ्जातः सुरेतर-कुले क्व तवानुकम्पा। न ब्रह्मणो न तु भवस्य न वै रमाया यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरः प्रसादः ॥१९॥ नैषा परावरमतिर्भवतो ननु स्याज्जन्तोर्यथाऽऽत्मसुहृदो जगतस्तथापि। संसेवया सुरतरोरिव ते प्रसादः सेवानुरूपमुदयो न परावरत्वम् ॥२०॥ एवं जनं निपतितं प्रभवाहिकूपे कामाभिकाममनु यः प्रपतन् प्रसङ्गात्। कृत्वाऽऽत्मसात् सुरर्षिणा भगवन् गृहीतः सोऽहं कथं नु विसृजे तव भृत्यसेवाम् ॥२१॥ मत्प्राणरक्षणमनन्त पितुर्वधश्च मन्ये स्व-भृत्यऋषिवाक्यमृतं विधातुम्। खड्गं प्रगृह्य यदवोचदसद्विधित्सु-स्त्वामीश्वरो मदपरोऽवतु कं हरामि ॥२२॥ एकस्त्वमेव जगदेतद-मुष्य यत् त्वमाद्यन्तयोः पृथगवस्यसि मध्यतश्च। सृष्ट्वा गुण-व्यतिकरं निजमाययेदं नानेव तैरवसितस्तदनुप्रविष्टः ॥२३॥ त्वं वा इदं सदसदीश भवांस्ततोऽन्यो माया यदात्मपरबुद्धिरियं ह्यपार्था। यद् यस्य जन्म निधनं स्थितिरीक्षणं च तद् वै तदेव वसुकालवदष्टितर्वोः ॥२४॥ न्यस्येदमात्मनि जगद् विलयाम्बुमध्ये शेषेऽऽत्मना निजसुखानुभवो निरीहः। योगेन मीलितदृगात्म-निपीतनिद्रस्तुर्ये स्थितो न तु तमो न गुणांश्च युङ्क्षे ॥२५॥ तस्यैव ते वपुरिदं निजकालशक्त्या सञ्चोदितप्रकृतिधर्मण आत्मगूढम्। अम्भस्यनन्तशयनाद् विरमत्समाधेर्नाभेरभूत् सकणिकावटवन्म-हाब्जम् ॥२६॥ तत्सम्भवः कविरतोऽन्यदपश्यमानस्त्वां बीजमा-त्मनि ततं स्वबहिर्विचिन्त्य। नाविन्ददब्दशतमप्सु निमज्जमानो जातेऽङ्कुरे कथमुहोपलभेत बीजम् ॥२७॥ स त्वात्मयोनिरति-

चिन्मित आश्रितोऽन्तं कालेन तीव्रतपसा परिशुद्धभावः। त्वामा
त्मनीश भुवि गन्धमिवातिसूक्ष्मं भूतेन्द्रियाशयमये विततं ददर्श
॥२८॥ एवं सहस्रवदनाङ्घ्रिशिरःकरोरुनासास्यकर्णनयनाभरणा
युधाढ्यम्। मायामयं सदुपलक्षितसन्निवेशं दृष्ट्वा महापुरुषमा
मुदं विरिञ्चः ॥२९॥ तस्मै भवान् हयशिरस्तनुवं च बिभ्रद् वेदद्रु
हावतिबलौ मधुकैटभाख्यौ। हत्वाऽऽनयच्छ्रुतिगणांस्तु रजस्त
मश्च सत्त्वं तव प्रियतमां तनुमामनन्ति ॥३०॥ इत्थं नृतिर्यगृषिदेव-
झषावतारैर्लोकान् विभावयसि हंसि जगत्प्रतीपान्। धर्मं महापुरु
षासि युगानुवृत्तं छन्नः कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ स त्वम् ॥३१॥
नैतन्मनस्तव कथासु विकुण्ठनाथ सम्प्रीयते दुरितदुष्टमसाधु तीव्रम्।
कामातुरं हर्षशोकभयैषणार्तं तस्मिन् कथं तव गतिं विमृशामि दीनः
॥३२॥ जिह्वैकतोऽच्युत विकर्षति माऽवितृप्ता शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं
श्रवणं कुतश्चित्। घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्तिर्बह्व्यः
सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥३३॥ एवं स्वकर्मपतितं भववैत-
रण्यामन्योन्यजन्ममरणाशनभीतभीतम्। पश्यञ्जनं स्वपरविग्रह-
वैरमैत्रं हन्तेति पारचर पीपृहि मूढमद्य ॥३४॥ को न्वत्र तेऽखिल-
गुरो भगवन् प्रयास उत्तारणेऽस्य भवसम्भवलोपहेतोः। मूढेषु वै
महदनुग्रह आर्त्तबन्धो किं तेन ते प्रियजनाननुसेवतां नः ॥३५॥
नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्यास्त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः।
शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थमायासुखाय भरमुद्वहतो विमू-
ढान् ॥३६॥ प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा मौनं चरन्ति
विजनेन परार्थनिष्ठाः। नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको

नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥३७॥ यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छं कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम्। तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाजः कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीरः ॥३८॥ मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययनस्वधर्मव्याख्यारहोजपसमाधय आपवर्ग्याः। प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां वार्ता भवन्त्युत न वात्र तु दाम्भिकानाम् ॥३९॥ रूपे इमे सदसती तव वेदसृष्टे बीजाङ्कुराविव न चान्यदरूपकस्य। युक्ताः समक्षमुभयत्र विचिन्वते त्वां योगेन वह्निमिव दारुषु नान्यतः स्यात् ॥४०॥ त्वं वायुरग्निरवनिर्वियदम्बुमात्राः प्राणेन्द्रियाणि हृदयं चिदनुग्रहश्च। सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन् नान्यत् त्वदस्त्यपि मनोवचसा निरुक्तम् ॥४१॥ नैते गुणा न गुणिनो महदादयो ये सर्वे मनःप्रभृतयः सहदेवमर्त्याः। आद्यन्तवन्त उरुगाय विदन्ति हि त्वामेवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दात् ॥४२॥ तत् तेऽर्हत्तम नमःस्तुतिकर्मपूजाः कर्म स्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम्। संसेवया त्वयि विनेति षडङ्गया किं भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत ॥४३॥

(श्रीमद्भागवतस्कन्ध ७म, अध्याय ९म)

श्रीगणेशाय नमः।

आचार्यकृता षट्पदी

अविनयमपनय विष्णो दमय मनः शमय विषयमृगतृष्णाम्।
भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरतः ॥ १ ॥

दिव्यधुनीमकरन्दे परिमलपरिभोगसच्चिदानन्दे ।
श्रीपतिपदारविन्दे भवभयखेदच्छिदे वन्दे ॥ २ ॥
सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥ ३ ॥
उद्धृतनगनगभिदनुज दनुजकुलामित्र मित्रशशिदृष्टे ।
दृष्टे भवति प्रभवति न भवति किं भवतिरस्कारः ॥ ४ ॥
मत्स्यादिभिरवतारैरवतारवताऽवता सदा वसुधाम् ।
परमेश्वर परिपाल्यो भवता भवतापभीतोऽहम् ॥ ५ ॥
दामोदर गुणमन्दिर सुन्दरवदनारविन्द गोविन्द ।
भवजलधिमथनमन्दर परमं दरमपनय त्वं मे ॥ ६ ॥
नारायण करुणामय शरणं करवाणि तावकौ चरणौ ।
इति षट्पदी मदीये वदनसरोजे सदा वसतु ॥ ७ ॥

अथ गोविन्दाष्टकम्

श्रीगणेशाय नमः। चिदानन्दाकारं श्रुतिसरससारं समरसं निराधाराधारं भवजलधिपारं परगुणम्। रमाग्रीवाहारं व्रजवनविहारं हरनुतं सदा तं गोविन्दं परमसुखकन्दं भजत रे ॥१॥ महाम्भोधिस्थानं स्थिरचरनिदानं दिविजपंसुधाधारापानं विहगपतियानं यमरतम्। मनोज्ञंसुज्ञानं मुनिजननिधानं ध्रुवपदं सदा० ॥२॥ धिया धीरैर्ध्येयं श्रवणपुटपेयंयतिवरैर्महावाक्यैर्ज्ञेयं त्रिभुवनविधेयं निधिपरम। मनोमानामेयं सपदि हृदि नेयं नवतनुं सदा० ॥३॥

महामायाजालं विमलवनमालं मलहरं सुभालं गोपालं निहतशिशुपालं शशिमुखम्। कलातीतं कालं गतिहतमरालं मुररिपुं सदा० ॥४॥ नभोबिम्बस्फीतं निगमगणगीतं समगतिं सुरौघे सम्प्रीतं दितिजविपरीतं पुरिशयम्। गिरां पंथातीतं स्वदितनवनीतं नयकरं सदा० ॥५॥ परेशं पद्मेशं शिवकमलजेशं शिवकरं द्विजेशं देवेशं तनुकुटिलकेशं कलिहरम्। खगेशं नागेशं निखिलभुवनेशं जगधरं सदा० ॥६॥ रमाकांतंकांतं भवभयभयांतं भवसखं दुराशान्तं शान्तं निखिलहृदि भान्तं भुवनपम्। निवादान्तं दान्तं दनुजनिचयान्तं सुचरितं सदा० ॥७॥ जगज्ज्येष्ठं श्रेष्ठं सुरपतिकनिष्ठं क्रतुपतिं वलिष्ठं भूयिष्ठं त्रिभुवनवरिष्ठंवरवहम्। स्वनिष्ठं धर्मिष्ठं गुरुगणगरिष्ठं गुरुवरं सदा० ॥८॥ गदापाणेरेतद्दुरितदलनं दुःखशमनं विशुद्धात्मा स्तोत्रं पठति मनुजो यस्तु सततम्। स भुक्त्वा भोगौघं चिर मिह ततोऽपास्तवृजिनो वरं विष्णोः स्थानं व्रजति खलु वैकुण्ठभुवनम् ॥१०॥

इति श्रीब्रह्मानन्दविरचितं श्रीगोविन्दाष्टकं सम्पूर्णम्।

अथ वामनस्तोत्रम्

श्रीगणेशाय नमः। अदितिरुवाच ॥

नमस्ते देवदेवेश सर्वव्यापिन् जनार्दन।
सत्त्वादिगुणभेदेन लोकव्यापारकारणं ॥१॥

नमस्ते बहुरूपाय अरूपाय नमो नमः ।
सर्वैकाद्भुतरूपाय निर्गुणाय गुणात्मने ॥२॥
नमस्ते लोकनाथाय परमज्ञानरूपिणे ।
सद्भक्तजनवात्सल्यशीलिने मङ्गलात्मने ॥३॥
यस्यावताररूपाणि ह्यर्चयन्ति मुनीश्वराः ।
तमादिपुरुषं देवं नमामीष्टार्थसिद्धये ॥४॥
यं न जानन्ति श्रुतयो यं न जानन्ति सूरयः ।
तंनमामि जगद्धेतुं मायिनं तममायिनम् ॥५॥
यस्यावलोकनं चित्रं मायोपद्रववारणम् ।
जगद्रूपं जगत्पालं तं वन्दे पद्मजाधवम् ॥६॥
यो देवस्त्यक्तसंगानां शान्तानां करुणार्णवः ।
करोति ह्यात्मना संगं तं वन्दे संगवर्जितम् ॥७॥
यत्पादाब्जजलक्लिन्नसेवारंजितमस्तकाः ।
अवापुः परमां सिद्धिं तं वन्दे सर्ववन्दितम् ॥८।
यज्ञेश्वरं यज्ञभुजं यज्ञकर्मसु निष्ठितम् ।
नमामि यज्ञफलदं यज्ञकर्मप्रवोधकम् ॥९॥
अजामिलोऽपि पापात्मा यन्नामोच्चारणादनु ।
प्राप्तवान्परमं धाम तं वन्दे लोकसाक्षिणम् ॥१०॥
ब्रह्माद्या अपि ये देवा यन्मायापाशयन्त्रिताः ।
न जानन्ति परं भावं तं वन्दे सर्वनायकम् ॥११॥
हृत्पद्मनिलयोऽज्ञानां दूरस्थ इव भाति यः ।
प्रमाणातीतसद्भावं तं वन्दे ज्ञानसाक्षिणम् ॥१२॥

यन्मुखाद्ब्राह्मणो जातो बाहुभ्यां क्षत्रियोऽजनि ।
तथैव ऊरुतो वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥१३॥
मनसश्चन्द्रमा जातो जातः सूर्यश्च चक्षुषः ।
मुखादिन्द्रस्तथाऽग्निश्चप्राणाद्वायुरजायत ॥१४॥
त्वमिन्द्रः पवनः सोमस्त्वमीशानस्त्वमन्तकः ।
त्वमग्निर्निर्ऋतिश्चैव वरुणस्त्वं दिवाकरः ॥१५॥
देवाश्च स्थावराश्चैव पिशाचाश्चैव राक्षसाः ।
गिरयः सिद्धगन्धर्वा नद्यो भूमिश्च सागराः ॥१६॥
त्वमेव जगतामीशो यन्नामास्ति परात्परः ।
त्वद्रूपमखिलं तस्मात्पुत्रान्मे पाहि श्रीहरे ॥१७॥
इति श्रुत्वा देवधात्री देवं नत्वा पुनः पुनः ।
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वाहर्षाश्रुक्षालितस्तनी ॥१८॥
अनुग्राह्याऽस्मि देवेश हरे सर्वादिकारण ।
अकण्टकश्रियं देहि मत्सुतानां दिवौकसाम् ॥१९॥
अन्तर्यामिञ्जगद्रूप सर्वभूतेश्वर प्रभो ।
तवाज्ञातं किमस्तीह किं मां मोहयसि प्रभो ॥२०॥
तथापि तव वक्ष्यामि यन्मे मनसि वर्तते ।
वृथापुत्रास्मि देवेश रक्षोभिः परिपीडिता ॥२१॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि मत्सुता दितिजातयः ।
तानहत्वा श्रियं देहि मत्सुतानामुवाच सा ॥२२॥
इत्युक्तो देवदेवस्तु पुनः प्रीतिमुपागतः ।
उवाच हर्षयन्साध्वीं कृपयाऽभिपरिप्लुतः ॥२३॥

श्रीभगवानुवाच ।

प्रीतोऽस्मि देवि भद्रं ते भविष्यामि सुतस्तव ।
यतः सपत्नीतनयेष्वपि वात्सल्यशालिनी ॥२४॥
त्वया च मे कृतं स्तोत्रं पठन्ति भुवि मानवाः ।
तेषां पुत्रा धनं सम्पन्न हीयन्ते कदाचन ॥२५॥
अन्ते मत्पदमाप्नोति यद्विष्णोः परमं शुभम् ॥२६॥

इति श्रीपद्मपुराणेवासनस्तोत्रम् ।

विष्णुसहस्रनाम ।

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम् ।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम् ॥१॥
यस्यस्मरणमात्रेण जन्मसंसारबन्धनात् ।
विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे ॥२॥
नमः समस्तभूतानामादिभूताय भूभृते
अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे ॥३॥

वैशम्पायन उवाच ।

श्रुत्वा धर्मानशेषेण पावनानि च सर्वशः ।
युधिष्ठिरः शान्तनवं पुनरेवाभ्यभापत ॥४॥

युधिष्ठिर उवाच ।

किमेकं दैवतं लोके किं वाप्येकं परायणम् ।
स्तुवन्तः कं कमर्चन्तः प्राप्नुयुर्मानवाः शुभम् ॥५॥
को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः परमो मतः ।
किं जपन्मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात् ॥६॥

भीष्म उवाच ।

जगत्प्रभुं देवदेवमनन्तं पुरुषोत्तमम् ।
स्तुवन्नामसहस्रेण पुरुषः सततोत्थितः ॥७॥
तमेव चार्चयन्नित्यं भक्त्या पुरुषमव्ययम् ।
ध्यायंस्तुवन्नमस्यंश्च यजमानस्तमेव च ॥८॥
अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम् ।
लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत् ॥९॥
ब्रह्मण्यं सर्वधर्मज्ञं लोकानां कीर्तिवर्धनम् ।
लोकनाथं महद्भूतं सर्वभूतभवोद्भवम् ॥१०॥
एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः ।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा ॥११॥
परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः ।
परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणम् ॥१२॥
पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
दैवतं देवतानां च भूतानां योऽव्ययः पिता ॥१३॥
यतः सर्वाणि भूतानि भवन्त्यादियुगागमे ।
यस्मिंश्च प्रलयं यान्ति पुनरेव युगक्षये ॥१४॥

तस्य लोकप्रधानस्य जगन्नाथस्य भूपते ।
विष्णोर्नामसहस्रं मे शृणु पापभयापहम् ॥१५॥
यानि नामानि गौणानि विख्यातानि महात्मनः ।
ऋषिभिः परिगीतानि तानि वक्ष्यामि भूतये ॥१६॥
ॐ विश्वं विष्णुर्वषट्कारी भूतभव्यभवत्प्रभुः ।
भूतकृद्भूतभृद्भावो भूतात्मा भूतभावनः ॥१७॥
पूतात्मा परमात्मा च मुक्तानां परमा गतिः ।
अव्ययः पुरुषः साक्षी क्षेत्रज्ञोऽक्षर एव च ॥१८॥
योगो योगविदां नेता प्रधानपुरुषेश्वरः ।
नारसिंहवपुः श्रीमान्केशवः पुरुषोत्तमः ॥१९॥
सर्व शर्व शिवः स्थाणुर्भूतादिर्निधिरव्ययः ।
सम्भवो भावनो भर्ता प्रभवः प्रभुरीश्वरः ॥२०॥
स्वयम्भूः शम्भुरादित्यः पुष्कराक्षो महास्वनः ।
अनादिनिधनो धाता विधाता धातुरुत्तमः ॥२१॥
अप्रमेयो हृषीकेशः पद्मनाभोऽमरप्रभुः ।
विश्वकर्मा मनुस्त्वष्टा स्थविष्ठःस्थविरो ध्रुवः ॥२२॥
अग्राह्यः शाश्वतः कृष्णो लोहिताक्षः प्रतर्दनः ।
प्रभूतस्त्रिककुब्धाम पवित्रं मङ्गलं परम् ॥२३॥
ईशानः प्राणदःप्राणो ज्येष्ठः श्रेष्ठः प्रजापतिः ।
हिरण्यगर्भो भूगर्भो माधवो मधुसूदनः ॥२४॥
ईश्वरो विक्रमी धन्वी मेधावी विक्रमः क्रमः ।
अनुत्तमो दुराधर्षः कृतज्ञः कृतिरात्मवान् ॥२५॥

सुरेशः शरणं शर्म विश्वरेताः प्रजाभवः ।
अहः संवत्सरो व्यालः प्रत्ययः सर्वदर्शनः ॥२६॥
अजः सर्वेश्वरः सिद्धः सिद्धिः सर्वादिरच्युतः ।
वृषाकपिरमेयात्मा सर्वयोगविनिःसृतः ॥२७॥
वसुर्वसुमनाः सत्यः समात्मा संमितः समः ।
अमोघः पुण्डरीकाक्षो वृषकर्मा वृषाकृतिः ॥२८॥
रुद्रो बहुशिरा बभ्रुर्विश्वयोनिः शुचिश्रवाः ।
अमृतः शाश्वतः स्थाणुर्वरारोहो महातपाः ॥२९॥
सर्वगः सर्वविद्भानुर्विष्वक्सेनो जनार्दनः ।
वेदो वेदविदव्यङ्गो वेदाङ्गो वेदवित्कविः ॥३०॥
लोकाध्यक्षः सुराध्यक्षो धर्माध्यक्षः कृताकृतः ।
चतुरात्मा चतुर्व्यूहश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्भुजः ॥३१॥
भ्राजिष्णुर्भोजनं भोक्ता सहिष्णुर्जगदादिजः ।
अनघो विजयो जेता विश्वयोनि पुनर्वसुः ॥३२॥
उपेन्द्रो वामनः प्रांशुरमोघः शुचिरूर्जितः ।
अतीन्द्रः संग्रहः सर्गो धृतात्मा नियमो यमः ॥३३॥
वेद्यो वैद्यः सदा योगी वीरहा माधवो मधुः ।
अतीन्द्रियो महामायो महोत्साहो महाबलः ॥३४॥
महाबुद्धिर्महावीर्यो महाशक्तिर्महाद्युतिः ।
अनिर्देश्यवपुः श्रीमानमेयात्मा महाद्रिधृक् ॥३५॥
महेष्वासो महीभर्ता श्रीनिवासः सतां गतिः ।
अनिरुद्धः सुरानन्दो गोविन्दो गोविदांपतिः ॥३६॥

मरीचिर्दमनो हंसः सुपर्णो भुजगोत्तमः ।
हिरण्यनाभः सुतपाः पद्मनाभः प्रजापतिः ॥३७॥
अमृत्युः सर्वदृक् सिंहः सन्धाता सन्धिमान्स्थिरः ।
अजो दुर्मर्षणः शास्ता विश्रुतात्मा सुरारिहा ॥३८॥
गुरुर्गुरुतमो धाम सत्यःसत्यपराक्रमः ।
निमिषोऽनिमिषः स्रग्वी वाचस्पतिरुदारधीः ॥३९॥
अग्रणीर्ग्रामणी श्रीमान्न्यायो नेता समीरणः ।
सहस्रमूर्धा विश्वात्मा सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥४०॥
आवर्त्तनो निवृत्तात्मा संवृतः संप्रमर्दनः ।
अहः संवर्त्तको वह्निरनिलो धरणीधरः ॥४१॥
सुप्रसादः प्रसन्नात्मा विश्वधृग्विश्वभुग्विभुः ।
सत्कर्ता सत्कृतः साधुर्जह्नुर्नारायणो, नरः ॥४२॥
असंख्येयोऽप्रमेयात्मा विशिष्टः शिष्टकृच्छुचिः ।
सिद्धार्थः सिद्धसंकल्पः सिद्धिदः सिद्धिसाधनः ॥४३॥
वृषाही वृषभो विष्णुर्वृषपर्वा वृषोदरः ।
वर्धनो वर्धमानश्च विविक्तः श्रुतिसागरः ॥४४॥
सुभुजो दुर्धरो वाग्मी महेन्द्रो वसुदो वसुः ।
नैकरूपो बृहद्रूपः शिपिविष्टः प्रकाशनः ॥४५॥
ओजस्तेजो द्युतिधरः प्रकाशात्मा प्रतापनः ।
ऋद्धःस्पष्टाक्षरो मन्त्रश्चन्द्रांशुर्भास्करद्युतिः ॥४६॥
अमृतांशूद्भवो भानु शशबिन्दुः सुरेश्वरः ।
औषधं जगतः सेतुः सत्यधर्मपराक्रमः ॥४७॥

भूतभव्यभवन्नाथः पवनःपावनोऽनलः ।
कामहा कामकृत्कान्तः कामः कामप्रदः प्रभुः ॥४८॥
युगादिकृ द्युगावर्तो नैकमायो महाशनः ।
अदृश्योऽव्यक्तरूपश्च सहस्रजिदनन्तजित् ॥४९॥
इष्टो विशिष्टः शिष्टेष्टः शिखण्डी नहुषो वृषः ।
क्रोधहा क्रोधकृत्कर्ता विश्वबाहुर्महीधरः ॥५०॥
अच्युतः प्रथितःप्राणः प्राणदो वासवानुजः ।
अपां निधिरधिष्ठानमप्रमत्तः प्रतिष्ठितः ॥५१॥
स्कन्दः स्कन्दधरो धुर्यो वरदो वायुवाहनः ।
वासुदेवो बृहद्भानुरादिदेवः पुरन्दरः ॥५२॥
अशोकस्तारणस्तारः शूरः शौरीर्जनेश्वरः ।
अनुकूलः शतावर्तः पद्मी पद्मनिभेक्षणः ॥५३॥
पद्मनाभोऽरविन्दाक्षः पद्मगर्भः शरीरभृत् ।
महर्धिऋद्धो वृद्धात्मा महाक्षो गरुड़ध्वजः ॥५४॥
अतुलः शरभो भीमः समयज्ञो हविर्हरिः ।
सर्वलक्षणलक्षण्यो लक्ष्मीवान्समितिंजयः ॥५५॥
विक्षरो रोहितो मार्गो हेतुर्दामोदरः सहः ।
महीधरो महाभागो वेगवानमिताशनः ॥५६॥
उद्भवः क्षोभणो देवः श्रीगर्भः परमेश्वरः ।
करणं कारणं कर्ता विकर्ता गहनो गुहः ॥५७॥
व्यवसायो व्यवस्थानः संस्थानः स्थानदो ध्रुवः ।
परर्द्धिः परमःस्पष्टस्तुष्टः पुष्टः शुभेक्षणः ॥५८॥

रामो विरामो विरजो मार्गो नेयो नयोऽनयः ।
वीरः शक्तिमतां श्रेष्ठो धर्मो धर्मविदुत्तमः ॥५९॥
वैकुण्ठः पुरुषः प्राणः प्राणदः प्रणवः पृथुः ।
हिरण्यगर्भः शत्रुघ्नो व्याप्तो वायुरधोक्षजः ॥६०॥
ऋतुः सुदर्शनः कालः परमेष्ठी परिग्रहः ।
उग्रःसंवत्सरो दक्षो विश्रामो विश्वदक्षिणः ॥६१॥
विस्तारः स्थावरः स्थाणुः प्रमाणं बीजमव्ययम् ।
अर्थोऽनर्थो महाकोशो महाभोगो महाधनः ॥६२॥
अनिर्विण्णः स्थविष्ठोऽभूर्धर्मयूपो महामखः ।
नक्षत्रनेमिर्नक्षत्री क्षमःक्षामः समीहनः ॥६३॥
यज्ञ इज्यो महेज्यश्च क्रतुः सत्रं सतां गतिः ।
सर्वदर्शी विमुक्तात्मा सर्वज्ञो ज्ञानमुत्तमम् ॥६४॥
सुव्रतः सुमुखः सूक्ष्मः सुघोषः सुखदः सुहृत् ।
मनोहरो जितक्रोधो वीरबाहुर्विदारणः ॥६५॥
स्वापनः स्ववशो व्यापी नैकात्मा नैककर्मकृत् ।
वत्सरो वत्सलो वत्सी रत्नगर्भो धनेश्वरः ॥६६॥
धर्मगुब्धर्मकृद्धर्मी सदसत्क्षरमक्षरम् ।
अविज्ञाता सहस्रांशुर्विधाता कृतलक्षणः ॥६७॥
गभस्तिनेमिः सत्वस्थः सिंहो भूतमहेश्वरः ।
आदिदेवो महादेवो देवेशो देवभृद्गुरुः ॥६८॥
उत्तरो गोपतिर्गोप्ता ज्ञानगम्यः पुरातनः ।
शरीरभूतभृद्भोक्ता कपीन्द्रो भूरिदक्षिणः ॥६९॥

सोमपोऽमृतपः सोमः पुरुजित्पुरुषोत्तमः।
विनयो जयः सत्यसन्धो दाशार्हः सात्वतां पतिः ॥७०॥
जीवो विनयिता साक्षी मुकुन्दोऽमितविक्रमः।
अम्भोनिधिरनन्तात्मा महोदधिशयोऽन्तकः ॥७१॥
अजो महार्हः स्वाभाव्यो जितामित्रः प्रमोदनः।
आनन्दो नन्दनो नन्दः सत्यधर्मा त्रिविक्रमः ॥७२॥
महर्षिः कपिलाचार्यः कृतज्ञो मेदिनीपतिः।
त्रिपदस्त्रिदशाध्यक्षो महाशृङ्गः कृतान्तकृत् ॥७३॥
महावराहो गोविन्दः सुषेणः कनकाङ्गदी।
गुह्यो गभीरो गहनो गुप्तश्चक्रगदाधरः ॥७४॥
वेधाः स्वाङ्गोऽजितःकृष्णो दृढःसङ्कर्षणोऽच्युतः।
वरुणो वारुणो वृक्षः पुष्कराक्षो महामनाः ॥७५॥
भगवान्भगहा नन्दी वनमाली हलायुधः।
आदित्यो ज्योतिरादित्यः सहिष्णुर्गतिसत्तमः ॥७६॥
सुधन्वा खण्डपरशुर्दारुणो द्रविणप्रदः।
दिविस्पृक्सर्वदृग्व्यासो वाचस्पतिरयोनिजः ॥७७॥
त्रिसामा सामगः साम निर्वाणं भेषजं भिषक्।
सन्न्यासकृच्छमःशान्तो निष्ठा शान्तिः परायणः ॥७८॥
शुभाङ्गः शान्तिदःस्रष्टा कुमुदः कुवलेशयः।
गोहितो गोपतिर्गोप्ता वृषभाक्षो वृषप्रियः ॥७९॥
अनिवर्ती निवृत्तात्मा संक्षेप्ता क्षेमकृच्छिवः।
श्रीवत्सवक्षाः श्रीवासः श्रीपतिः श्रीमतां वरः ॥८०॥

श्रीद: श्रीश: श्रीनिवास: श्रीनिधि: श्रीविभावन: ।
श्रीधर श्रीकर श्रेय: श्रीमांल्लोकत्रयाश्रय: ॥८१॥
स्वक्ष: स्वङ्ग शतानन्दो नन्दिर्ज्योतिर्गणेश्वर: ।
विजितात्मा विधेयात्मा सत्कीर्तिश्छिन्नसंशय: ॥८२॥
उदीर्ण:सर्वतश्चक्षुरनीश:शाश्वत:स्थिर: ।
भूशयो भूषणो भूतिर्विशोक: शोकनाशन: ॥८३॥
अर्चिष्मानर्चित: कुम्भो विशुद्धात्मा विशोधन: ।
अनिरुद्धोऽप्रतिरथ: प्रद्युम्नोऽमितविक्रम: ॥८४॥
कालनेमिनिहा वीर: शौरि: शूरजनेश्वर: ।
त्रिलोकात्मा त्रिलोकेश: केशव: केशिहा हरि: ॥८५॥
कामदेव: कामपाल: कामी कान्त: कृतागम: ।
अनिर्देश्यवपुर्विष्णुर्वीरोऽनन्तो धनञ्जय: ॥८६॥
ब्रह्मण्यो ब्रह्मकृद्ब्रह्मा ब्रह्म ब्रह्मविवर्धन: ।
ब्रह्मविद्ब्राह्मणो ब्रह्मी ब्रह्मज्ञो ब्राह्मणप्रिय: ॥८७॥
महाक्रमो महाकर्मा महातेजा महोरग: ।
महाक्रतुर्महायज्वा महायज्ञो महाहवि: ॥८८॥
स्तव्य:स्तवप्रिय: स्तोत्रं स्तुतिस्तोता रणप्रिय: ।
पूर्ण:पूरयिता पुण्य: पुण्यकीर्तिरनामय: ॥८९॥
मनोजवस्तीर्थकरो वसुरेता वसुप्रद: ।
वसुप्रदो वासुदेवो वसुर्वसुमना हवि: ॥९०॥
सद्गति: सत्कृति: सत्ता सद्भूति: सत्परायण: ।
शूरसेनो यदुश्रेष्ठ: सन्निवास: सुयामुन: ॥९१॥

भूतावासो वासुदेवः सर्वासुनिलयोऽनलः ।
दर्पहा दर्पदो दृप्तो दुर्धरोऽथापराजितः ॥९२॥
विश्वमूर्तिर्महामूर्तिर्दीप्तमूर्तिरमूर्तिमान् ।
अनेकमूर्तिरव्यक्तः शतमूर्तिः शताननः ॥९३॥
एको नैकः सवः कः किं यत्तत्पदमनुत्तमम् ।
लोकबन्धुर्लोकनाथो माधवो भक्तवत्सलः ॥९४॥
सुवर्णवर्णो हेमाङ्गो वराङ्गश्चन्दनाङ्गदी ।
वीरहा विषमः शून्यो घृताशीरचलश्चलः ॥९५॥
अमानी मानदो मान्यो लोकस्वामी त्रिलोकधृक् ।
सुमेधा मेधजो धन्यः सत्यमेधा धराधरः ॥९६॥
तेजो वृषो द्युतिधरः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
प्रग्रहो निग्रहो व्यग्रो नैकशृङ्गो गदाग्रजः ॥९७॥
चतुर्मूर्तिश्चतुर्बाहुश्चतुर्व्यूहश्चतुर्गतिः ।
चतुरात्मा चतुर्भावश्चतुर्वेदविदेकपात् ॥९८॥
समावर्तो निवृत्तात्मा दुर्जयो दुरतिक्रमः ।
दुर्लभो दुर्गमो दुर्गो दुरावासो दुरारिहा ॥९९॥
शुभाङ्गो लोकसारङ्गः सुतन्तुस्तन्तुवर्धनः ।
इन्द्रकर्मा महाकर्मा कृतकर्मा कृतागमः ॥१००॥
उद्भवः सुन्दरः सुन्दो रत्ननाभः सुलोचनः ।
अर्को वाजसनः शृङ्गी जयन्तः सर्वविज्जयी ॥१०१॥
सुवर्णबिन्दुरक्षोभ्यः सर्ववागीश्वरेश्वरः ।
महाह्रदो महागर्तो महाभूतो महानिधिः ॥१०२॥

कुमुदः कुन्दरः कुन्दः पर्जन्यः पावनोऽनिलः ।
अमृतांशोऽमृतवपुः सर्वज्ञः सर्वतोमुखः ॥१०३॥
सुलभः सुव्रतः सिद्धः शत्रुजिच्छत्रुतापनः ।
न्यग्रोधोदुम्बरोऽश्वत्थश्चाणूरान्ध्रनिषूदनः ॥१०४॥
सहस्रार्चिः सप्तजिह्वः सप्तैधाः सप्तवाहनः ।
अमूर्तिरनघोऽचिन्त्यो भयकृद्भयनाशनः ॥१०५॥
अणुर्बृहत्कृशःस्थूलो गुणभृन्निर्गुणो महान् ।
अधृतःस्वधृतःस्वास्यः प्राग्वंशो वंशवर्धनः ॥१०६॥
भारभृत्कथितो योगी योगीशः सर्वकामदः ।
आश्रमः श्रमणः क्षामः सुपर्णो वायुवाहनः ॥१०७॥
धनुर्धरो धनुर्वेदो दण्डो दमयिता दमः ।
अपराजितः सर्वसहो नियन्ता नियमो यमः ॥१०८॥
सत्ववान्सात्विकः सत्यः सत्यधर्मपरायणः ।
अभिप्रायः प्रियार्होऽर्हः प्रियकृत्प्रीतिवर्धनः ॥१०९॥
विहायसगतिर्ज्योतिः सुरुचिर्हुतभुग्विभुः ।
रविर्विरोचनः सूर्यः सविता रविलोचनः ॥११०॥
अनन्तो हुतभुग्भोक्ता सुखदो नैकजोऽग्रजः ।
अनिर्विण्णः सदामर्षी लोकाधिष्ठानमद्भुतः ॥१११॥
सनात्सनातनतमः कपिलः कपिरव्ययः ।
स्वस्तिदः स्वस्तिकृत्स्वस्ति स्वस्तिभुक्स्वस्तिदक्षिणः ॥११२॥
अरौद्रः कुण्डली चक्री विक्रम्यूर्जितशासनः ।
शब्दातिगः शब्दसहः शिशिरः शर्वरीकरः ॥११३॥

अक्रूरः पेशलो दक्षो दक्षिणः क्षमिणां वरः ।
विद्वत्तमो वीतभयः पुण्यश्रवणकीर्तनः ॥११४॥
उत्तारणो दुष्कृतिहा पुण्यो दुःस्वप्ननाशनः ।
वीरहा रक्षणःशान्तो जीवनः पर्यवस्थितः ॥११५॥
अनन्तरूपोऽनन्तश्रीर्जितमन्युर्भयापहः ।
चतुरस्रो गभीरात्मा विदिशो व्यादिशो दिशः ॥११६॥
अनादिर्भूर्भुवो लक्ष्मीः सुवीरो रुचिराङ्गदः ।
जननो जनजन्मादिर्भीमो भीमपराक्रमः ॥११७॥
आधारनिलयो धाता पुष्पहासः प्रजागरः ।
ऊर्ध्वगः सत्पथाचारः प्राणदः प्रणवः पणः ॥११८॥
प्रमाणं प्राणनिलयः प्राणभृत्प्राणजीवनः ।
तत्त्वं तत्त्वविदेकात्मा जन्ममृत्युजरातिगः ॥११९॥
भूर्भुवः स्वस्तरुस्तारः सविता प्रपितामहः ।
यज्ञोयज्ञपतिर्यज्वा यज्ञाङ्गो यज्ञवाहनः ॥१२०॥
यज्ञभृद्यज्ञकृद्यज्ञी यज्ञभुग्यज्ञसाधनः ।
यज्ञान्तकृद्यज्ञगुह्यमन्नमन्नाद एव च ॥१२१॥
आत्मयोनिः स्वयंजातो वैखानः सामगायनः ।
देवकीनन्दनःस्रष्टा क्षितीशः पापनाशनः ॥१२२॥
शङ्खभृन्नन्दकी चक्री शार्ङ्गधन्वा गदाधरः ।
रथाङ्गपाणिरक्षोभ्यः सर्वप्रहरणायुधः ॥१२३॥

सर्वप्रहरणायुध ॐ नमः इति ।

इतीदं कीर्तनीयस्य केशवस्य महात्मनः ।
नाम्नां सहस्रं दिव्यानामशेषेण प्रकीर्तितम् ॥१२४॥
य इदं शृणुयान्नित्यं यश्चापि परिकीर्तयेत् ।
नाशुभं प्राप्नुयात्किञ्चित्सोऽमुत्रेह च मानवः ॥१२५॥
वेदान्तगो ब्राह्मणः स्यात्क्षत्रियो विजयी भवेत् ।
वैश्यो धनसमृद्धः स्याच्छूद्रः सुखमवाप्नुयात् ॥१२६॥
धर्मार्थी प्राप्नुयाद्धर्ममर्थार्थीचार्थमाप्नुयात् ।
कामानवाप्नुयात्कामी प्रजार्थी प्राप्नुयात्प्रजाम् ॥१२७॥
भक्तिमान्यः सदोत्थाय शुचिस्तद्गतमानसः ।
सहस्रं वासुदेवस्य नाम्नामेतत्प्रकीर्तयेत् ॥१२८॥
यशः प्राप्नोति विपुलं ज्ञातिप्राधान्यमेव च ।
अचलां श्रियमाप्नोति श्रेयः प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥१२९॥
न भयं क्वचिदाप्नोति वीर्यं तेजश्च विन्दति ।
भवत्यरोगो द्युतिमान्बलरूपगुणान्वितः ॥१३०॥
रोगार्तो मुच्यते रोगाद्बद्धो मुच्येत बन्धनात् ।
भयान्मुच्येत भीतस्तु मुच्येतापन्न आपदः ॥१३१॥
दुर्गाण्यतितरत्याशु पुरुषः पुरुषोत्तमम् ।
स्तुवन्नामसहस्रेण नित्यं भक्तिसमन्वितः ॥१३२॥
वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम् ॥१३३॥
न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित् ।
जन्ममृत्युजराव्याधिभयं नैवोपजायते ॥१३४॥

इमं स्तवमधीयानः श्रद्धाभक्तिसमन्वितः ।
युज्येतात्मसुखक्षान्तिश्रीधृतिस्मृतिकीर्तिभिः ॥१३५॥
न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाशुभा मतिः ।
भवन्ति कृतपुण्यानां भक्तानां पुरुषोत्तमे ॥१३६॥
द्यौः सचन्द्रार्कनक्षत्रा खं दिशो भूर्महोदधिः ।
वासुदेवस्य वीर्येण विधृतानि महात्मनः ॥१३७॥
ससुरासुरगन्धर्वं सयक्षोरगराक्षसम् ।
जगद्वशे वर्ततेदं कृष्णस्य सचराचरम् ॥१३८॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः ।
वसुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च ॥१३९॥
सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते ।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः ॥१४०॥
ऋषयःपितरो देवा महाभूतानि धातवः ।
जङ्गमाजङ्गमं चेदं जगन्नारायणोद्भवम् ॥१४१॥
योगो ज्ञानं तथा सांख्यं विद्याः शिल्पादि कर्म च ।
वेदाः शास्त्राणि विज्ञानमेतत्सर्वं जनार्दनात् ॥१४२॥
एको विष्णुर्महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः ।
त्रीन्लोकान्व्याप्य भूतात्मा भुङ्क्ते विश्वभुगव्ययः ॥१४३॥
इमं स्तवं भगवतो विष्णोर्व्यासेन कीर्तितम् ।
पठेद्य इच्छेत्पुरुषः श्रेयः प्राप्तुं सुखानि च ॥१४४॥
विश्वेश्वरमजं देवं जगतः प्रभवाप्ययम् ।
भजन्ति ये पुष्कराक्षं न ते यान्ति पराभवम् ॥१४५॥

श्रीसूर्य कवचम्

श्रीसूर्य उवाच ।

सान्ब-साम्ब महावाहो शृणु मे कवचं शुभम् ।
त्रैलोक्यमङ्गलं नाम कवचं परमाद्भुतम् ॥१॥
यज्ज्ञात्वा मन्त्रवित्सम्यक् फलं प्राप्नोति निश्चितम् ।
यद् धृत्वा च महादेवो गणानामधिपोऽभवत् ॥२॥
पठनाद्धारणाद्विष्णुः सर्वेषां पालकः सदा ।
एवमिन्द्रादयः सर्वे सर्वैश्वर्यमवाप्नुयुः ॥३॥
कवचस्य ऋषिर्ब्रह्मा छन्दोऽनुष्टुबुदाहृतः ।
श्रीसूर्यो देवता चात्र सर्वदेवनमस्कृतः ॥४॥
यशआरोग्यमोक्षेषु विनियोगः प्रकीर्तितः ।
प्रणवो मे शिरः पातु घृणिर्मे पातु भालकम् ॥५॥
सूर्योऽव्यान्नयनद्वन्द्वमादित्यः कर्णयुग्मकम् ।
अष्टाक्षरो महामन्त्रः सर्वाभीष्टफलप्रदः ॥६॥
ह्रीं वीजं मे मुखं पातु हृदयं भुवनेश्वरी ।
चन्द्रविम्बंविंशदाद्यं पातु मे गुह्यदेशकम् ॥७॥
अक्षरोऽसौ महामन्त्रः सर्वतन्त्रेषु गोपितः ।
शिवोवह्निसमायुक्तो वामाक्षी विन्दुभूषितः ॥८॥
एकाक्षरो महामन्त्रः श्रीसूर्यस्य प्रकीर्तितः ।
गुह्याद् गुह्यतरोमन्त्रो वाञ्छाचिन्तामणिःस्मृतः ॥९॥
शिर्षादिपादपर्यन्तं सदा पातु मनूत्तमः ।
इति ते कथितं दिव्यं त्रिषु लोकेषु दुर्लभम ॥१०॥

श्रीपदं कान्तिदं नित्यं धनारोग्यविवर्धनम् ।
कुष्ठादिरोगशमनं महाव्याधिविनाशनम् ॥११॥
त्रिसंध्यं यः पठेन्नित्यं स रोगी बलवान्भवेत् ।
बहुना किमिहोक्तेन यद्यन्मनसि वर्तते ॥१२॥
तत्तत्सर्वं भवेत्तस्य कवचस्यास्य धारणात् ।
भूतप्रेतपिशाचाश्च यक्षगन्धर्व राक्षसाः ॥१३॥
ब्रह्मराक्षसवेताला न द्रष्टुमपि तं क्षमाः ।
दूरादेव पलायन्ते तस्य संकीर्तनादपि ॥१४॥
भूर्जपत्रे समालिख्य रोचनागुरुकुंकुमैः ।
रविवारे च संक्रान्त्यां सप्तम्यां च विशेषतः ॥१५॥
धारयेत्साधकश्रेष्ठः श्रीसूर्यस्य प्रियो भवेत् ।
त्रिलोहमध्यगं कृत्वा धारयेद्दक्षिणे करे ॥१६॥
शिखायामथवा कण्ठे सोपि सूर्यो न संशयः ।
इति ते कथितं साम्ब त्रैलोक्यमङ्गलाभिधम् ॥१७॥
कवचं दुर्लभं लोके तव स्नेहात्प्रकाशितम् ।
अज्ञात्वा कवचं दिव्यं यो जपेत्सूर्यमुत्तमम् ॥१८॥
सिद्धिर्न जायते तस्य कल्पकोटिशतैरपि ॥१९॥

आदित्यहृदयम्

शतानीक उवाच ।

कथमादित्यमुद्यन्तमुपतिष्ठेद्द्विजोत्तम ।
एतन्मे ब्रूहि विप्रेन्द्र प्रपद्ये शरणं तव ॥१॥

सुमन्तुरुवाच ।

इदमेव पुरा पृष्टः शङ्खचक्रगदाधरः ।
प्रणम्य शिरसा देवमर्जुनेन महात्मना ॥२॥
कुरुक्षेत्रे महाराज प्रवृत्ते भारते रणे ।
कृष्णनाथं समासाद्य प्रार्थयित्वाऽब्रवीदिदम् ॥३॥

अर्जुन उवाच ।

ज्ञातं च धर्मशास्त्राणां गुह्याद्गुह्यतरं तथा ।
मया कृष्ण परिज्ञातं वाङ्मयं सचराचरम् ॥४॥
सूर्यस्तुतिमयं न्यासं वक्तुमर्हसि माधव ।
भक्त्या पृच्छामि देवेश कथयस्व प्रसादतः ॥५॥
सूर्यभक्तिं करिष्यामि कथं सूर्यं प्रपूजयेत् ।
तदहं श्रोतुमिच्छामि त्वत्प्रसादेन यादव ॥६॥

श्री भगवानुवाच ।

रुद्रादिदैवतैः सर्वैः पृष्टेन कथितं मया ।
वक्ष्येऽहं सूर्यविन्यासं शृणु पाण्डव यत्नतः ॥७॥
अस्माकं यत्त्वया पृष्टमेकचित्तो भवार्जुन ।
तदहं संप्रवक्ष्यामि आदिमध्यावसानकम् ॥८॥

अर्जुन उवाच ।

नारायण सुरश्रेष्ठ पृच्छामि त्वां महायशाः ।
कथमादित्यमुद्यं तमुपतिष्ठेत्सनातनम् ॥९॥

श्रीभगवानुवाच ।

साधु पार्थं महाबाहो बुद्धिमानसि पाण्डव ।
यन्मां पृच्छस्युपस्थानं तत्पवित्रं विभावसोः ॥१०॥
सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं सर्वपापप्रणाशनम् ।
सर्वरोगप्रशमनमायुर्वर्धनमुत्तमम् ॥११॥
अमित्रदमनं पार्थ संग्रामे जयवर्धनम् ।
वर्धनं धनपुत्राणामादित्यहृदयं शृणु ॥१२॥
यच्छ्रुत्वा सर्वपापेभ्यो मुच्यते नात्र संशयः ।
त्रिषु लोकेषु विख्यातं निःश्रेयसकरंपरम् ॥१३॥
देवदेवं नमस्कृत्य प्रातरुत्थाय चार्जुन ।
विघ्नान्यनेकरूपाणि नश्यन्ति स्मरणादपि ॥१४॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सूर्यमावाहयेत्सदा ।
आदित्यहृदयं नित्यं जाप्यं तच्छृणु पाण्डव ॥१५॥
यज्जपान्मुच्यते जंतुर्दारिद्र्यादाशु दुस्तरात् ।
लभते च महासिद्धिं कुष्ठव्याधिविनाशनीम् ॥१६॥
अस्मिन्मन्त्रे ऋषिश्छन्दो देवता शक्तिरेव च ।
सर्वमेव महाबाहो कथयामि तवाग्रतः ॥१७॥
मया ते गोपितं न्यासं सर्वशास्त्रप्रबोधितम् ।
अथ ते कथयिष्यामि उत्तमं मंत्रमेव च ॥१८॥

अस्य श्रीआदित्यहृदयस्तोत्रमन्त्रस्य श्रीकृष्ण ऋषिः श्रीसूर्यात्मा त्रिभुवनेश्वरी देवता ॥ अनुष्टुप्छंदः ॥ हरितहयरथं दिवाकरं घृणिरिति बीजम् ॥ ॐ नमो भगवते जितवैश्वानरजातवेदस इतिशक्तिः,

ॐ नमो भगवते आदित्याय नमः इतिकीलम्, ॐ अग्निगर्भदेवता इति मंत्रः, ॐ नमो भगवते तुभ्यमादित्याय नमोनमः श्रीसूर्यनारायणप्रीत्यर्थं जपे विनियोगः।

अथ न्यासः॥ ॐ ह्रां अंगुष्ठाभ्यां नमः। ॐ ह्रीं तर्जनीभ्यां नमः। ॐ ह्रू मध्यमाभ्यां नमः। ॐ ह्रैं अनामिकाभ्यां नमः। ॐ कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ॐ ह्रः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः। ॐ ह्रौं हृदयाय नमः। ॐ ह्रीं शिरसे स्वाहा। ॐ ह्रू शिखायै वषट्। ॐ ह्र कवचाय हुं। ॐ ह्रौं नेत्रत्रयाय वौषट्। ॐ ह्रः अस्त्राय फट्। ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः इति दिग्बंधः।

अथ ध्यानम्॥ भास्वद्रत्नाढ्यमौलिस्फुरदधररुचा रंजितश्चारुकेशो भास्वान्यो दिव्यतेजाः करकमलयुतः स्वर्णवर्णः प्रभाभिः। विश्वाकाशावकाशग्रहपतिशिखरे भाति यश्चोदयाद्रौ सर्वानन्दप्रदाता हरिहरनमितः पातु मां विश्वचक्षुः॥१॥

पूर्वमष्टदलं पद्मं प्रणवादिप्रतिष्ठितम्।
मायाबीजं दलाष्टाग्रे यन्त्रमुद्धारयेदिति॥२॥
आदित्यं भास्करं भानुं रविं सूर्यं दिवाकरम्।
मार्तण्डं तपनं चेति दलेष्वष्टसु योजयेत्॥३॥
दीप्ता सूक्ष्मा जया भद्रा विभूतिर्विमला तथा।
अमोघा विद्युता चेति मध्ये श्रीः सर्वतोमुखी॥४॥
सर्वज्ञः सर्वगश्चैव सर्वकारणदेवता।
सर्वेशं सर्वहृदयं नमामि सर्वसाक्षिणम्॥५॥

सर्वात्मा सर्वकर्त्ता च सृष्टिजीवनपालकः।
हितः स्वर्गापवर्गश्च भास्करेश नमोऽस्तु ते ॥६॥
नमो नमस्तेऽस्तु सदा विभावसो सर्वात्मने सप्तहयाय भानवे।
अनन्तशक्तिर्मणिभूषणेन ददस्व भुक्तिं मम मुक्तिमव्ययाम् ॥७॥

इति प्रार्थना।

अर्कं तु मूर्ध्नि विन्यस्य ललाटे तु रविं न्यसेत्।
विन्यसेन्नेत्रयोः सूर्यं कर्णयोश्च दिवाकरम् ॥८॥
नासिकायां न्यसेद्भानुं मुखे वै भास्करं न्यसेत्।
पर्जन्यमोष्ठयोश्चैव तीक्ष्णं जिह्वांतरे न्यसेत् ॥९॥
सुवर्णरेतसं कंठे स्कंधयोस्तिग्मतेजसम्।
बाह्वोस्तु पूषणं चैव मित्रं वै पृष्ठतो न्यसेत् ॥१०॥
वरुणं दक्षिणे हस्ते त्वष्टारं वामतः करे।
हस्तावुष्णकरः पातु हृदयं पातु भानुमान् ॥११॥
उदरे तु यमं विद्यादादित्यं नाभिमण्डले।
कट्यां तु विन्यसेद्धंसं रुद्रमूर्वोस्तु विन्यसेत् ॥१२॥
जान्वोस्तु गोपतिं न्यस्य सवितारं तु जंघयोः।
पादयोश्च विवस्वंतं गुल्फयोश्च दिवाकरम् ॥१३॥
बाह्यतस्तु तमोध्वंसं भगमभ्यंतरे न्यसेत्।
सर्वांगेषु सहस्रांशुं दिग्विदिक्षु भगं न्यसेत् ॥१४॥

इति दिग्बंधः।

एष आदित्यविन्यासो देवानामपि दुर्लभः।
इमं भक्त्या न्यसेत्पार्थ स याति परमां गतिम् ॥१५॥

कामक्रोधकृतात्पापान्मुच्यते नात्र संशयः ।
सर्पादपि भयं नैव संग्रामेषु पथिष्वपि ॥१६॥
रिपुसंकटकालेषु तथा चोरसमागमे ।
त्रिसन्ध्यं जपतो न्यासं महापातकनाशनम् ॥१७॥
विस्फोटकसमुत्पन्नं तीव्रज्वरसमुद्भवम् ।
शिरोरोगं नेत्ररोगं सर्वव्याधिविनाशनम् ॥१८॥
कुष्ठव्याधिस्तथा दद्रुरोगाश्च विविधाश्च ये ।
जपमानस्य नश्यंति शृणु भक्त्या तदर्जुन ॥१६॥
आदित्यो मन्त्रसंयुक्त आदित्यो भुवनेश्वरः ।
आदित्यान्नापरो देवो ह्यादित्यः परमेश्वरः ॥२०॥
आदित्यमर्चयेद्ब्रह्मा शिव आदित्यमर्चयेत् ।
यदादित्यमयं तेजो मम तेजस्तदर्जुन ॥२१॥
आदित्यं ये प्रपश्यन्ति मां पश्यंति न संशय ।
त्रिसन्ध्यमर्चयेत्सूर्यं स्मरेद्भक्त्या तु यो नरः ॥२२॥
न स पश्यति दारिद्र्यं जन्मजन्मनि चार्जुन ।
एतत्ते कथितं पार्थ ह्यादित्यहृदयं मया ॥२३॥
शृण्वन्मुक्तश्च पापेभ्य. सूर्यलोके महीयते ।
नमो भगवते तुभ्यमादित्याय नमोनमः ॥२४॥
आदित्यः सविता सूर्यः खगः पूषा गभस्तिमान् ।
सुवर्णः स्फटिको भानुः स्फुरितो विश्वतापनः ॥२५॥
रविर्विश्वो महातेजाः सुवर्णः सुप्रबोधकः ।
हिरण्यगर्भस्त्रिशिरास्तपनो भास्करो रविः ॥२६॥

मार्तंडो गोपतिः श्रीमान् कृतज्ञश्च प्रतापवान्।
तमिस्रहा भगो हंसो नासत्यश्च तमोनुदः ॥२७॥
शुद्धो विरोचनः केशी सहस्रांशुर्महाप्रभुः।
विवस्वान्पूषणो मृत्युर्मिहिरो जामदग्न्यजित् ॥२८॥
घर्मरश्मिः पतंगश्च शरण्योऽमित्रहा तपाः।
दुर्विज्ञेयगतिः शूरस्तेजोराशिर्महायशाः ॥२९॥
शंभुश्चित्रांगदः सौम्यो हव्यकव्यप्रदायकः।
अंशुमानुत्तमो देव ऋग्यजुः साम एव च ॥३०॥
हरिदश्वस्तमोदारः सप्तसप्तिर्मरीचिमान्।
अग्निगर्भोऽदितेः पुत्रः शंभुस्तिमिरनाशनः ॥३१॥
पूषा विश्वम्भरो मित्रः सुवर्णः सुप्रतापवान्।
आतापी मण्डली भास्वांस्तपनः सर्वतापनः ॥३२॥
कृतविश्वो महातेजाः सर्वरत्नमयोद्भवः।
अक्षरश्च क्षरश्चैव प्रभाकरविभाकरौ ॥३३॥
चन्द्रश्चन्द्रांगदः सौम्यो हव्यकव्यप्रदायकः।
अंगारको गदोऽगस्ती रक्तांगश्चांगवर्धनः ॥३४॥
बुद्धो बुद्धासनो बुद्धिर्बुद्धात्मा बुद्धिवर्धनः।
बृहद्भानुर्बृहद्भासो बृहद्धामा बृहस्पतिः ॥३५॥
शुक्रस्त्वं शुक्ररेतास्त्वं शुक्रांगः शुक्रभूषणः।
शनिमान् शनिरूपस्त्वं शनैर्गच्छसि सर्वदा ॥३६॥
अनादिरादिरादित्यस्तेजोराशिमहातपाः।
अनादिरादिरूपस्त्वमादित्यो दिक्पतिर्यमः ॥३७॥

भानुमान् भानुरूपस्त्वं स्वर्भानुर्भानुदीप्तिमान् ।
धूमकेतुर्महाकेतुः सर्वकेतुरनुत्तमः ॥३८॥
तिमिरावरणः शंभुः स्रष्टा मार्तण्ड एव च ।
नमः पूर्वाय गिरये पश्चिमाय नमो नमः ॥३९॥
नमोत्तराय गिरये दक्षिणाय नमो नमः ।
नमो नमः सहस्रांशो ह्यादित्याय नमो नमः ॥४०॥
नमः पद्मप्रबोधाय नमस्ते द्वादशात्मने ।
नमो विश्वप्रबोधाय नमो भ्राजिष्णुजिष्णवे ॥४१॥
ज्योतिषे च नमस्तुभ्यं ज्ञानार्काय नमो नमः ।
प्रदीप्ताय प्रगल्भाय युगान्ताय नमो नमः ॥४२॥
नमस्ते होतृपतये पृथिवीपतये नमः ।
नमोंकार वषट्कार सर्वयज्ञ नमोऽस्तु ते ॥४३॥
ऋग्वेदोथ यजुर्वेद सामवेद नमोऽस्तु ते ।
नमो हाटकवर्णाय भास्कराय नमोनमः ॥४४॥
जयाय जयभद्राय हरिदश्वाय ते नमः ।
दिव्याय दिव्यरूपाय ग्रहाणां पतये नमः ॥४५॥
नमस्ते शुचये नित्यं नमः कुरुकुल्लात्मने ।
नमस्त्रैलोक्यनाथाय भूतानां पतये नमः ॥४६॥
नमः कैवल्यनाथाय नमस्ते दिव्यचक्षुषे ।
त्वं ज्योतिस्त्वं द्युतिर्ब्रह्मा त्वं विष्णुस्त्वं प्रजापतिः ॥४७॥
त्वमेव रुद्रो रुद्रात्मा वायुरग्निस्त्वमेव च ।
योजनानां सहस्रे द्वे द्वे शते द्वे च योजने ॥४८॥

एकेन निमिषार्धेन क्रममाग नमोऽस्तु ते ।
नवयोजनलक्षाणि सहस्रद्विशतानि च ॥४६॥
यावद्घटीप्रमाणेन क्रममाण नमोऽस्तु ते ।
अग्रतश्च नमस्तुभ्यं पृष्ठतश्च सदा नमः ॥५०॥
पार्श्वतश्च नमस्तुभ्यं नमस्ते चास्तु सर्वदा ।
नमः सुरारिहंत्रे च सोमसूर्याग्निचक्षुषे ॥५१॥
नमो दिव्याय व्योमाय सर्वतन्त्रमयाय च ।
नमो वेदान्तवेद्याय सर्वकर्मादिसाक्षिणे ॥५२॥
नमो हरितवर्णाय सुवर्णाय नमो नमः ।
अरुणो माघमासे तु सूर्यो वै फाल्गुने तथा ॥५३॥
चैत्रमासे तु वेदाङ्गो भानुर्वैशाखतापनः ।
ज्येष्ठमासे तपेदिन्द्र आषाढ़े तपते रविः ॥५४॥
गभस्तिः श्रावणे मासि यमो भाद्रपदे तथा ।
इषे सुवर्णरेताश्च कार्तिके च दिवाकरः ॥५५॥
मार्गशीर्षे तपेन्मित्रः पौषे विष्णुः सनातनः ।
पुरुषस्त्वधिके मासे मासाधिक्ये तु कल्पयेत् ॥५६॥
इत्येते द्वादशादित्याः काश्यपेयाः प्रकीर्तिताः ।
उग्ररूपा महात्मानस्तपंते विश्वरूपिणः ॥५७॥
धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रस्फुटा हेतवो नृपः ।
सर्वपापहरं चैवमादित्यं संप्रपूजयेत् ॥५८॥
एकधा दशधा चैव शतधा च सहस्रधा ।
तपंते विश्वरूपेण सृजंति संहरन्ति च ॥५६॥

एष विष्णुः शिवश्चैव ब्रह्मा चैव प्रजापतिः ।
महेंद्रश्चैव कालश्च यमो वरुण एव च ॥६०॥
नक्षत्रग्रहताराणामधिपो विश्वतापनः ।
वायुरग्निर्धनाध्यक्षो भूतकर्ता स्वयंप्रभुः ॥६१॥
एष देवो हि देवानां सर्वमाप्यायते जगत् ।
एष कर्ता हि भूतानां संहर्ता रक्षकस्तथा ॥६२॥
एष लोकानुलोकाश्च सप्तदीपाश्च सागराः ।
एष पातालसप्तस्था दैत्यदानवराक्षसाः ॥६३॥
एष धाता विधाता च बीजं क्षेत्रं प्रजापतिः ।
एक एव प्रजा नित्यं संवर्धयति रश्मिभिः ॥६४॥
एष यज्ञः स्वधा स्वाहा ह्रीः श्रीश्च पुरुषोत्तमः ।
एष भूतात्मको देवः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ॥६५॥
ईश्वरः सर्वभूतानां परमेष्ठी प्रजापतिः ।
कालात्मा सर्वभूतात्मा वेदात्मा विश्वतोमुखः ॥६६॥
जन्ममृत्युजराव्याधिसंसारभयनाशनः ।
दारिद्र्यव्यसनध्वंसी श्रीमान्देवो दिवाकरः ॥६७॥
विकर्तनो विवस्वांश्च मार्तण्डो भास्करो रविः ।
लोकप्रकाशकः श्रीमांल्लोकचक्षुर्महेश्वरः ॥६८॥
लोकसाक्षी त्रिलोकेशः कर्त्ता हर्ता तमिस्रहा ।
तपनस्तापनश्चैव शुचिः सप्ताश्ववाहनः ॥६९॥
गभस्तिहस्तो ब्रह्मण्यः सर्वदेवनमस्कृतः ।
आयुरारोग्यमैश्वर्यं नरा नार्यश्च मन्दिरे ॥७०॥

यस्य प्रसादात्सन्तुष्टिरादित्यहृदयं जपेत् ।
इत्येतैर्नामभिः पार्थ आदित्यं स्तौति नित्यशः ॥७१॥
प्रातरुत्थाय कौन्तेय तस्य रोगभयं न हिं ।
पातकान्मुच्यते पार्थ व्याधिभ्यश्च न संशयः ॥७२॥
एकसन्ध्यं द्विसन्ध्यं वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
त्रिसन्ध्यं जपमानस्तु पश्येच्च परमं पदम् ॥७३॥
यदह्ना कुरुते पापं तदह्ना प्रतिमुच्यते ।
यद्रात्र्या कुरुते पापं तद्रात्र्या प्रतिमुच्यते ॥७४॥
दद्रुस्फोटककुष्ठानि मण्डलानि विषूचिका ।
सर्वव्याधिमहारोगभूतबाधास्तथैव च ॥७५॥
डाकिनी शाकिनी चैव महारोगभयं कुतः ।
ये चान्ये दुष्टरोगाश्च ज्वरातिसारकादयः ॥७६॥
जपमानस्य नश्यन्ति जीवेच्च शरदां शतम् ।
संवत्सरेण मरणं यदा तस्य ध्रुवं भवेत् ॥७७॥
आशीर्षं पश्यति च्छायामहोरात्रं धनञ्जय ।
यस्त्विदं पठते भक्त्या भानोर्वारे महात्मनः ॥७८॥
प्रातःस्नाने कृते पार्थ एकाग्रकृतमानसः ।
सुवर्णचक्षुर्भवति न चान्धस्तु प्रजायते ॥७९॥
पुत्रबान्धवसम्पन्नो जायते चारुजः सुखी ।
सर्वसिद्धिमवाप्नोति सर्वत्र विजयी भवेत् ॥८०॥
आदित्यहृदयं पुण्यं सूर्यनामविभूषितम् ।
श्रुत्वा च निखिलं पार्थ सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥८१॥

अतः परतरं नास्ति सिद्धिकामस्य पाण्डव ।
एतज्जपस्व कौन्तेय येन श्रेयो ह्यवाप्स्यसि ॥८२॥
आदित्यहृदयं नित्यं यः पठेत्सुसमाहितः ।
भ्रूणहा मुच्यते पापात्कृतघ्नो ब्रह्मघातकः ॥८३॥
गोघ्नः सुरापो दुर्भोजी दुष्प्रतिग्रहकारकः ।
पातकानि च सर्वाणि दहत्येव न संशयः ॥८४॥
य इदं शृणुयान्नित्यं जपेद्वापि समाहितः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा सूर्यलोके महीयते ॥८५॥
अपुत्रो लभते पुत्रान्निर्धनो धनमाप्नुयात् ।
कुरोगी मुच्यते रोगाद्भक्त्या यः पठते सदा ॥८६॥
यस्त्वादित्यदिने पार्थ नाभिमात्रजले स्थितः ।
उदयाचलमारूढं भास्करं प्रणतः स्थितः ॥८७॥
जपते मानवो भक्त्या शृणुयाद्वापि भक्तितः ।
स याति परमं स्थानं यत्र देवो दिवाकरः ॥८८॥
अमित्रदमनं पार्थ यदा कर्तुं समारभेत् ।
तदा प्रतिकृतिं कृत्वा शत्रोश्चरणपांसुभिः ॥८९॥
आक्रम्य वामपादेन ह्यादित्यहृदयं जपेत् ।
एतन्मन्त्रं समाहूय सर्वसिद्धिकरं परम् ॥९०॥
ॐ ह्रीं हिमालीढं स्वाहा । ॐ ह्रीं मालीढं स्वाहा ।
ॐ ह्रीं निलीढं स्वाहा । इति मन्त्रः ।
त्रिभिश्च रोगी भवति ज्वरी भवति पञ्चभिः ।
जपैस्तु सप्तभिः पार्थ राक्षसीं तनुमाविशेत् ॥९१॥

राक्षसेनाभिभूतस्य विकारान् शृणु पाण्डव ।
गीयते नृत्यते नग्न आस्फोटयति धावति ॥९२॥
शिवारुतं च कुरुते हसते क्रन्दते पुनः ।
एवं सम्पीड्यते पार्थ यद्यपि स्यान्महेश्वरः ॥९३॥
किं पुनर्मानुषः कश्चिच्छौचाचारविवर्जितः ।
पीडितस्य न सन्देहो ज्वरो भवति दारुणः ॥९४॥
यदा चानुग्रहं तस्य कर्तुमिच्छेच्छुभङ्करम् ।
तदा सलिलमादाय जपेन्मन्त्रमिमं बुधः ॥९५॥
नमो भगवते तुभ्यमादित्याय नमोनमः ।
जयाय जयभद्राय हरिदश्वाय ते नमः ॥९६॥
स्नापयेत्तेन मन्त्रेण शुभं भवति नान्यथा ।
अन्यथा च भवेद्दोषो नश्यते नात्र संशयः ॥९७॥
अतस्ते निखिलः प्रोक्तः पूजां चैव निबोध मे ।
उपलिप्ते शुचौ देशे नियतो वाग्यतः शुचिः ॥९८॥
वृत्तं वा चतुरस्रं वा लिप्तभूमौ लिखेच्छुचिः ।
त्रिधा तत्र लिखेत्पद्ममष्टपत्रं सकर्णिकम् ॥९९॥
अष्टपत्रं लिखेत्पद्मं लिप्तगोमयमण्डले ।
पूर्वपत्रे लिखेत् सूर्यमाग्नेय्यां तु रविं न्यसेत् ॥१००॥
याम्यायां च विवस्वन्तं नैर्ऋत्यां तु भगं न्यसेत् ।
प्रतीच्यां वरुणं विद्याद्वायव्यां मित्रमेव च ॥१०१॥
आदित्यमुत्तरे पत्रे पेशान्यां मित्रमेव च ।
मध्ये तु भास्करं विद्यात्क्रमेणैवं समर्चयेत् ॥१०२॥

अतः परतरं नास्ति सिद्धिकामस्य पाण्डव ।
महातेजः समुद्यन्तं प्रणमेत्स कृतांजलिः ॥१०३॥
सकेसराणि पद्मानि करवीराणि चार्जुन ।
तिलतण्डुलयुक्तानि कुशगन्धोदकानि च ॥१०४॥
रक्तचन्दनमिश्राणि कृत्वा वै ताम्रभाजने ।
धृत्वा शिरसि तत् पात्रं जानुभ्यां धरणीं स्पृशेत् ॥१०५॥
मन्त्रपूतं गुडाकेश चार्घ्यं दद्यात्सुभक्तये ।
सायुधं सरथं चैव सूर्यमावाहयाम्यहम् ॥१०६॥
स्वागतो भव । सुप्रतिष्ठितो भव । सन्निधो भव ।
सन्निहितो भव । सम्मुखो भव । इति पञ्च मुद्राः ।
सूदयित्वाऽर्चयेत्सूर्यं भुक्ति मुक्ति लभेन्नरः ॥१०७॥
ॐ श्रीं विद्याकिलिकिलिकटकेष्टसर्वार्थसाधनाय स्वाहा ।
ॐ श्रीं ह्रीं ह्रूं ह्रूं सः सूर्याय नमः स्वाहा ।
ॐ श्रीं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रः सूर्यमूर्तये स्वाहा ।
ॐ श्रीं ह्रीं खं खः लोकाय सर्वमूर्तये स्वाहा ।
ॐ ह्रं मार्तण्डाय स्वाहा ।
नमोऽस्तु सूर्याय सहस्रभानवे नमोऽस्तु वैश्वानरजातवेदसे ।
त्वमेव चार्घ्यं प्रतिगृह्ण देव देवाधिदेवाय नमो नमस्ते ॥१०८॥
नमो भगवते तुभ्यं नमस्ते जातवेदसे ।
दत्तमर्घ्यं मया भानो त्वं गृहाण नमोऽस्तु ते ॥१०९॥
एहि सूर्य सहस्रांशो तेजोराशे जगत्पते ।
अनुकम्पय मां देव गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते ॥११०॥

—

नमो भगवते तुभ्यं नमस्ते जातवेदसे ।
ममेदमर्घ्यं गृह्ण त्वं देवदेव नमोऽस्तु ते ॥१११॥
सर्वदेवाधिदेवाय आधिव्याधि विनाशिने ।
इदं गृहाण मे देव सर्वव्याधिर्विनश्यतु ॥११२॥
नमः सूर्याय शान्ताय सर्वरोग विनाशिने ।
ममेप्सितं फलं दत्वा प्रसीद परमेश्वर ॥११३॥
ॐ नमो भगवते सूर्याय स्वाहा ।
ॐ शिवाय स्वाहा ।
ॐ सर्वात्मने सूर्याय नमः स्वाहा ।
ॐ अक्षय्यतेजसे नमः स्वाहा ।
सर्वसंकष्टदारिद्र्यं शत्रुं नाशय नाशय ।
सर्वलोकेषु विश्वात्मन्सर्वात्मन्सर्वदर्शक ॥११४॥
नमो भगवते सूर्य कुष्ठरोगान्विखण्डय ।
आयुरारोग्यमैश्वर्यं देहि देव नमोऽस्तु ते ॥११५॥
नमो भगवते तुभ्यमादित्याय नमोनमः ।
ॐ अक्षय्यतेजसे नमः । ॐ सूर्याय नमः ।
आदित्यं च शिवं विद्याच्छिवमादित्यरूपिणम् ।
उभयोरन्तरं नास्ति आदित्यस्य शिवस्य च ॥११६॥
एतदिच्छाम्यहंश्रोतुं पुरुषो वै दिवाकरः ।
उदये ब्रह्मणो रूपं मध्याह्ने तु महेश्वरः ॥११७॥
अस्तमाने स्वयं विष्णुस्त्रिमूर्तिश्च दिवाकरः ।
नमो भगवते तुभ्यं विष्णवे प्रभविष्णवे ॥११८॥

ममेदमर्घ्यं प्रतिगृह्ण देव देवाधिदेवाय नमो नमस्ते।
श्रीसूर्यनारायणाय सांगाय सपरिवाराय इदमर्घ्यं समर्पयामि ॥११६॥

हिमघ्नाय तमोघ्नाय रक्षोघ्नाय च ते नमः।
कृतघ्नाय सत्याय तस्मै सूर्यात्मने नमः ॥१२०॥
जयोऽजयश्च विजयो जितप्राणो जितश्रमः।
मनोजवो जितक्रोधो वाजिनः सप्त कीर्तिताः ॥१२१॥
हरितहयरथं दिवाकरं कनकमयाम्बुजरेणुपिंजरम्।
प्रतिदिनमुदये नवं नवं शरणमुपैमि हिरण्यरेतसम् ॥१२२॥
न तं व्यालाः प्रबाधन्ते न व्याधिभ्यो भयं भवेत्।
न नागेभ्यो भयं चैव न च भूत भयं क्वचित् ॥१२३॥
अग्निशत्रु भयं नास्ति पार्थिवेभ्यस्तथैव च।
दुर्गतिं तरते घोरां प्रजां च लभते पशून् ॥१२४॥
सिद्धिकामो लभेत्सिद्धिं कन्याकामस्तु कन्यकाम्।
एतत्पठेत्स कौन्तेय भक्तियुक्तेन चेतसा ॥१२५॥
अश्वमेधसहस्रस्य वाजपेयशतस्य च।
कन्या कोटिसहस्रस्य दत्तस्य फलमाप्नुयात् ॥१२६॥
इदमादित्यहृदयं योऽधीते सततं नरः।
सर्वपापविशुद्धात्मा सूर्यलोके महीयते ॥१२७॥
नास्त्यादित्यसमो देवो नास्त्यादित्यसमा गतिः।
प्रत्यक्षो भगवान्विष्णुर्येन विश्वं प्रतिष्ठितम् ॥१२८॥
नवतियोजननानांच सहस्राणि शतानि च।
यावद्घटीप्रमाणेन तावच्चरति भास्करः ॥१२६॥

गवां शतसहस्रस्य सम्यग्दत्तस्य यत्फलम् ।
तत्फलं लभते विद्वान् शान्तात्मा स्तौति यो रविम् ॥१३०॥
योऽधीते सूर्यहृदयं सकलं सफलं भवेत् ।
अष्टानां ब्राह्मणानां च लेखयित्वा समर्पयेत् ॥१३१॥
ब्रह्मलोके ऋषीणां च जायते मानुषोऽपि वा ।
जातिस्मरत्वमाप्नोति शुद्धात्मा नात्र संशयः ॥१३२॥
अजाय लोकत्रयपावनाय शान्तात्मने गोपतये वृषाय ।
सूर्याय सर्वप्रलयान्तकाय नमो महाकारुणिकोत्तमाय ॥१३३॥
विवस्वते ज्ञानभृदन्तरात्मने जगत्प्रदीपाय जगद्धितैषिणे ।
स्वयम्भुवे दीप्तसहस्रचक्षुषे सुरोत्तमायामिततेजसे नमः ॥१३४॥
सुरैरनेकैः परिसेविताय हिरण्यगर्भाय हिरण्मयाय ।
महात्मने मोक्षपदाय नित्यं नमोऽस्तु ते वासरकारणाय ॥१३५॥
आदित्यश्चार्चितो देव आदित्यः परमं पदम् ।
आदित्यो मातृको भूत्वा आदित्यो वाङ्मयं जगत् ॥१३६॥
आदित्यं पश्यते भक्त्या मां पश्यति ध्रुवं नरः ।
नादित्यं पश्यते भक्त्या न स पश्यति मां नरः ॥१३७॥
त्रिगुणं च त्रितत्त्वं च त्रयो देवास्त्रयोऽग्नयः ।
त्रयाणां च त्रिमूर्तिस्त्वं तुरीयस्त्वं नमोऽस्तु ते ॥१३८॥
नमः सवित्रे जगदेकचक्षुषे जगत्प्रसूतिस्थितिनाशहेतवे ।
त्रयीमयाय त्रिगुणात्मधारिणे विरञ्चिनारायणशङ्करात्मने ॥१३९॥
यस्योदयेनेह जगत्प्रबुद्ध्यते प्रवर्तते चाखिलकर्मसिद्धये ।
ब्रह्मेन्द्रनारायणरुद्रवन्दितः स नः सदा यच्छतु मङ्गलं रविः ॥१४०॥

नमोऽस्तु सूर्याय सहस्ररश्मये सहस्रशाखान्वितसम्भवात्मने ।
सहस्रयोगोद्भवभावभागिने सहस्रसंख्यायुगधारिणे नमः ॥१४१॥
यन्मण्डलं दीप्तिकरं विशालं रत्नप्रभं तीव्रमनादिरूपम् ।
दारिद्र्यदुःखक्षयकारणं च पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥१४२॥
यन्मण्डलं देवगणैः सुपूजितं विप्रैः स्तुतं भावनमुक्तिकोविदम् ।
तं देवदेवं प्रणमामि सूर्यं पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥१४३॥
यन्मण्डलं ज्ञानघनं त्वगम्यं त्रैलोक्यपूज्यं त्रिगुणात्मरूपम् ।
समस्ततेजोमयदिव्यरूपं पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥१४४॥
यन्मण्डलं गूढमतिप्रबोधं धर्मस्य वृद्धिं कुरुते जनानाम् ।
यत्सर्वपापक्षयकारणं च पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥१४५॥
यन्मण्डलं व्याधिविनाशदक्षं यदृग्यजुःसामसु संप्रगीतम् ।
प्रकाशितं येन च भूर्भुवः स्वः पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥१४६॥
यन्मण्डलं वेदविदो वदंति गायंति यच्चारणसिद्धसंघाः ।
यद्योगिनो योगजुषां च संघाः पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥१४७॥
यन्मण्डलं सर्वजनेषु पूजितं ज्योतिश्च कुर्यादिह मर्त्यलोके ।
यत्कालकालादिमनादिरूपं पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥१४८॥
यन्मण्डलं विष्णुचतुर्मुखाख्यं यदक्षरं पापहरं जनानाम् ।
यत्कालकल्पक्षयकारणं च पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥१४९॥
यन्मण्डलं विश्वसृजां प्रसिद्धमुत्पत्तिरक्षाप्रलयप्रगल्भम् ।
यस्मिञ्जगत्संहरतेऽखिलं च पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥१५०॥
यन्मण्डलं सर्वगतस्य विष्णोरात्मा परं धाम विशुद्धतत्त्वम् ।
सूक्ष्मान्तरैर्योगपथानुगम्यं पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥१५१॥

यन्मण्डलं ज्ञानविदो वदन्ति गायंति यच्चारणसिद्धसंघाः ।
यन्मण्डलं वेदविदः स्मरन्ति पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥१५२॥

यन्मण्डलं वेदविदोपगीतं यद्योगिनां योगपथानुगम्यम् ।
तत्सर्ववेदं प्रणमामि सूर्यं पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥१५३॥

मण्डलाष्टमिदं पुण्यं यः पठेत्सततं नरः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा सूर्यलोके महीयते ॥१५४॥

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः ।
केयूरवान्मकरकुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशंखचक्रः ॥१५५॥

सशंखचक्रं रविमण्डले स्थितं कुशेशयाक्रान्तमनन्तमच्युतम् ।
भजामि बुद्ध्या तपनीयमूर्तिं सुरोत्तमं चित्रविभूषणोज्ज्वलम् ॥१५६॥

एवं ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।
कीर्तयन्ति सुरश्रेष्ठं देवं नारायणं विभुम् ॥१५७॥

वेदवेदाङ्गशरीरं दिव्यदीप्तिकरं परम् ।
रक्षोघ्नं रक्तवर्णं च सृष्टिसंहारकारकम् ॥१५८॥

एकचक्रो रथो यस्य दिव्यः कनकभूषितः ।
स मे भवतु सुप्रीतः पद्महस्तो दिवाकरः ॥१५९॥

आदित्यः प्रथमं नाम द्वितीयं तु दिवाकरः ।
तृतीयं भास्करः प्रोक्तं चतुर्थं तु प्रभाकरः ॥१६०॥

पञ्चमं तु सहस्रांशुः षष्ठं चैव त्रिलोचनः ।
सप्तमं हरिदश्वश्च अष्टमं तु विभावसुः ॥१६१॥

नवमं दिनकृत्प्रोक्तं दशमं द्वादशात्मकम् ।
एकादशं त्रयीमूर्तिर्द्वादशं सूर्य एव च ॥१६२॥
द्वादशादित्यनामानि प्रातःकाले पठेन्नरः ।
दुःस्वप्ननाशनं चैव सर्वदुःखं च नश्यति ॥१६३॥
दद्रुकुष्ठहरं चैव दारिद्र्यं हरते ध्रुवम् ।
सर्वतीर्थप्रदं चैव सर्वकामप्रवर्धनम् ॥१६४॥
यः पठेत्प्रातरुत्थाय भक्त्या नित्यमिदं नरः ।
सौख्यमायुस्तथाऽऽरोग्यं लभते मोक्षमेव च ॥१६५॥
अग्निमीले नमस्तुभ्यमिषेत्वोर्जस्वरूपिणे ।
अग्नआयाहिवीतस्त्वं नमस्ते ज्योतिषाम्पते ॥१६६॥
शन्नोदेवी नमस्तुभ्यं जगच्चक्षुर्नमोऽस्तु ते ।
पञ्चमायोपवेदाय नमस्तुभ्यं नमो नमः ॥१६७॥
पद्मासनः पद्मकरः पद्मगर्भसमद्युतिः ।
सप्ताश्वरथसंयुक्तः द्विभुजः स्यात्सदा रविः १६८॥
आदित्यस्य नमस्कारं ये कुर्वन्ति दिने दिने ।
जन्मान्तरसहस्रेषु दारिद्र्यं नोपजायते ॥१६९॥
उदयगिरिमुपेतं भास्करं पद्महस्तं
निखिलभुवननेत्रं रत्नरत्नोपमेयम् ।
तिमिरकरिमृगेन्द्रं बोधकं पद्मिनीनां
सुरवरमभिवन्दे सुन्दरं विश्ववंद्यम् ॥१७०॥

इति श्रीभविष्यपुराणे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आदित्यहृदयस्तोत्रं संपूर्णम् ।

सावित्रीव्रतोपाख्यानम्

युधिष्ठिर उवाच ।

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
किं जप्यं जपतो नित्यं भवेद्धर्मफलं महत् ॥१॥
प्रस्थाने वा प्रवेशे वा प्रवृत्ते वापि कर्मणि ।
दैवे वा श्राद्धकाले वा किं जप्यं कर्मसाधनम् ॥२॥
शान्तिकं पौष्टिकं रक्षा शत्रुघ्नं भयनाशनम् ।
जप्यं यद् ब्रह्मसमितं तद्भवान् वक्तुमर्हति ॥३॥

भीष्म उवाच ।

व्यासप्रोक्तमिमं मन्त्रं शृणुष्वैकमना नृप ।
सावित्र्या विहितं दिव्यं सद्यः पापविमोचनम् ॥४॥
शृणु मन्त्रविधिं कृत्स्नं प्रोच्यमानं मयाऽनघ ।
यं श्रुत्वा पाण्डवश्रेष्ठ सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥५॥
रात्रावहनि धर्मज्ञ जपन् पापैर्न लिप्यते ।
तत्तेऽहं संप्रवक्ष्यामि शृणुष्वैकमना नृप ॥६॥
आयुष्मान् भवते चैव यं श्रुत्वा पार्थिवात्मज ।
पुरुषस्तु सुसिद्धार्थः प्रेत्य चेह च मोदते ॥७॥
सेवितं सततं राजन् पुरा राजर्षिसत्तमैः ।
क्षत्रधर्मपरैर्नित्यं सत्यव्रतपरायणैः ॥८॥
इदमाह्निकमव्यग्रं कुर्वद्भिर्नियतैः सदाः ।
नृपैर्भरतशार्दूल प्राप्यते श्रीरनुत्तमा ॥९॥

नमो वशिष्ठाय महाव्रताय पराशरं वेदनिधिं नमस्यते ।
नमोऽस्त्वनन्ताय महोरगाय नमोस्तु सिद्धेभ्य इहाक्षयेभ्यः ॥१०॥
नमोस्त्वृषिभ्यः परमं परेषां देवेषु देवं वरदं वराणाम् ।
सहस्रशीर्षाय नमः शिवाय सहस्रनामाय जनार्दनाय ॥११॥

अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी चापराजितः ।
ऋतश्च पितृरूपश्च त्र्यम्बकश्च महेश्वरः ॥१२॥
वृषाकपिश्च शम्भुश्च हवनोऽथेश्वरस्तथा ।
एकादशैते प्रथिता रुद्रास्त्रिभुवनेश्वराः ॥१३॥
शतमेतत्समाम्नातं शतरुद्रे महात्मनाम् ।
अंशो भगश्च मित्रश्च वरुणश्च जलेश्वरः ॥१४॥
तथा धातार्यमा चैव जयन्तो भास्करस्तथा ।
त्वष्टा पूषा तथैवेन्द्रो द्वादशो विष्णुरुच्यते ॥१५॥
इत्येते द्वादशादित्याः काश्यपेया इति श्रुतिः ।
धरो ध्रुवश्च सोमश्च सावित्रोथानिलोऽनलः ॥१६॥
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ।
नासत्यश्चापि दस्रश्च स्मृतौ द्वावश्विनावपि ॥१७॥
मार्तण्डस्यात्मजावेतौ संज्ञानासाविनिर्गतौ ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि लोकानां कर्मसाक्षिणः ॥१८॥
अपि यज्ञस्य वेत्तारो दत्तस्य सुकृतस्य च ।
अदृश्याः सर्वभूतेषु पश्यन्ति त्रिदशेश्वराः ॥१९॥
शुभाशुभानि कर्माणि मृत्युः कालश्च सर्वशः ।
विश्वेदेवाः पितृगणा मूर्तिमन्तस्तपोधनाः ॥२०॥

मुनयश्चैव सिद्धाश्च तपोमोक्षपरायणाः ।
शुचिस्मिताः कीर्तयतां प्रयच्छन्ति शुभं नृणाम् ॥२१॥
प्रजापतिकृतानेतान् लोकान् दिव्येन तेजसा ।
वसन्ति सर्वलोकेषु प्रयताः सर्वकर्मसु ॥२२॥
प्राणानामीश्वरानेतान् कीर्तयन् प्रयतो नरः ।
धर्मार्थकामैर्विपुलैर्युज्यते सह नित्यशः ॥२३॥
लोकांश्च लभते पुण्यान्विश्वेश्वरकृताञ्छुभान् ।
एते देवास्त्रयस्त्रिंशत्सर्वभूतगणेश्वराः ॥२४॥
नन्दीश्वरो महाकायो ग्रामणीर्वृषभध्वजः ।
ईश्वराः सर्वलोकानां गणेश्वरविनायकाः ॥२५॥
सौम्या रौद्रा गणाश्चैव योगभूतगणास्तथा ।
ज्योतींषि सरितो व्योम सुपर्णः पतगेश्वरः ॥२६॥
पृथिव्यां तपसा सिद्धाः स्थावराश्च चराश्च ह ।
हिमवान् गिरयः सर्वे चत्वारश्च महार्णवाः ॥२७॥
भवस्यानुचराश्चैव हरतुल्यपराक्रमाः ।
विष्णुर्देवोऽथ जिष्णुश्च स्कन्दश्चाम्बिकया सह ॥२८॥
कीर्तयन्प्रयतः सर्वान्सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
अतः ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि मानवानृषिसत्तमान् ॥२९॥
यवक्रीतश्च रैभ्यश्च अर्वावसुपरावसू ।
औशिजश्चैव कक्षीवान् बलश्चाङ्गिरसः सुतः ॥३०॥
ऋषिर्मेधातिथेः पुत्रः कण्वो बर्हिषदस्तथा ।
ब्रह्मतेजोमयाः सर्वे कीर्तिता लोकपावनाः ॥३१॥

लभन्ते हि शुभं सर्वे रुद्रानलवसुप्रभाः।
भुवि कृत्वा शुभं कर्म मोदन्ते दिवि दैवतैः ॥३२॥
महेन्द्रगुरवः सप्त प्राचीं वै दिशमाश्रिताः।
प्रयतः कीर्तयेदेतान् शक्रलोके महीयते ॥३३॥
उन्मुचुः प्रमुचुश्चैव स्वस्त्यात्रेयश्च वीर्यवान्।
दृढव्यश्चोर्ध्वबाहुश्च तृणसोमाङ्गिरास्तथा ॥३४॥
मित्रावरुणयोः पुत्रस्तथागस्त्यः प्रतापवान्।
धर्मराजर्त्विजः सप्त दक्षिणां दिशमाश्रिताः ॥३५॥
दृढेयुश्च ऋतेयुश्च परिव्याधश्च कीर्तिमान्।
एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चादित्यसन्निभाः ॥३६॥
अत्रेः पुत्रश्च धर्मात्मा ऋषिः सारस्वतस्तथा।
वरुणस्यर्त्विजः सप्त पश्चिमां दिशमाश्रिताः ॥३७॥
अत्रिर्वशिष्ठो भगवान् काश्यपश्च महानृषिः।
गौतमश्च भरद्वाजो विश्वामित्रोऽथ कौशिकः ॥३८॥
ऋचीकतनयश्चोग्रो जमदग्निः प्रतापवान्।
धनेश्वरस्य गुरवः सप्तैते उत्तराश्रिताः ॥३९॥
अपरे मुनयः सप्त दिक्षु सर्वास्वधिष्ठिताः।
कीर्तिस्वस्तिकरा नृणां कीर्तिता लोकपावनाः ॥४०॥
धर्म्मः कामश्च कालश्च वसुर्वासुकिरेव च।
अनन्तः कपिलश्चैव सप्तैते धरणीधराः ॥४१॥
रामो व्यासस्तथा द्रौणिरश्वत्थामा च लोमशः।
इत्येते मुनयो दिव्या एकैकः सप्त सप्तधा ॥४२॥

शान्तिस्वस्तिकरा लोके दिशां पालाः प्रकीर्तिताः ।
यस्यां यस्यां दिशि ह्येते तन्मुखः शरणंव्रजेत् ॥४३॥
स्रष्टारः सर्वभूतानां कीर्तिता लोकपावनाः ।
संवर्तो मेरुसावर्णो मार्कण्डेयश्च धार्मिकः ॥४४॥
सांख्ययोगौ नारदश्च दुर्वासा च महानृषिः ।
अत्यन्ततपसो दान्तास्त्रिपु लोकेषु विश्रुताः ॥४५॥
अपरे रुद्रसङ्काशाः कीर्तिता ब्रह्मलौकिकाः ।
अपुत्रो लभते पुत्रं दरिद्रो लभते धनम् ॥४६॥
तथा धर्मार्थकामेषु सिद्धिं च लभते नरः ।
पृथुं वैन्यं नृपवरं पृथ्वी यस्याभवत्सुता ॥४७॥
प्रजापतिं सार्वभौमं कीर्तयेद्वसुधाधिपम् ।
आदित्यवंशप्रभवं महेन्द्रसमविक्रमम् ॥४८॥
पुरूरवसमैलं च त्रिपु लोकेपु विश्रुतम् ।
बुधस्य दयितं पुत्रं कीर्तयेद्वसुधाधिपम् ॥४६॥
त्रिलोकविश्रुतं वीरं भरतं च प्रकीर्तयेत् ।
गवामयेन यज्ञेन येनेष्टं वै कृते युगे ॥५०॥
रन्तिदेवं महादेवं कीर्तयेत्परमद्युतिम् ।
विश्वजित्तपसोपेतं लक्षण्यं लोकपूजितम् ॥५१॥
तथा श्वेतं च राजर्षिं कीर्तयेत्परमद्युतिम् ।
सगरस्यात्मजा येन प्लाविताास्तारितास्तथा ॥५२॥
हुताशनसमानेतान् महारूपान् महौजसः ।
उग्रकायान्महासत्त्वान् कीर्तयेत्कीर्तिवर्धनान् ॥५३॥

देवानृषिगणांश्चैव नृपांश्च जगतीश्वरान् ।
साङ्ख्यं योगं च परमं हव्यं कव्यं तथैव च ॥५४॥
कीर्तितं परमं ब्रह्म सर्वश्रुतिपरायणम् ।
मङ्गल्यं सर्वभूतानां पवित्रं बहुकीर्तितम् ॥५५॥
व्याधिप्रशमनं श्रेष्ठं पौष्टिकं सर्वकर्मणाम् ।
प्रयतः कीर्तयेद्वैतान् कल्यं सायं च भारत ॥५६॥
एते वै यान्ति वर्षन्ति भान्ति वान्ति सृजन्ति च ।
एते विनायकाः श्रेष्ठा दक्षाः क्षान्ता जितेन्द्रियाः ॥५७॥
नराणामशुभं सर्वं व्यपोहन्ति प्रकीर्तिताः ।
साक्षिभूता महात्मानः पापस्य सुकृतस्य च ॥५८॥
एतान्वै कल्यमुत्थाय कीर्तयन् शुभमश्नुते ।
नाग्निचौरभयं तस्य न मार्गप्रतिरोधनम् ॥५९॥
एतान् कीर्तयतां नित्यं दुःस्वप्नो नश्यते नृणाम् ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यः स्वस्तिमांश्च गृहान् व्रजेत् ॥६०॥
दीक्षाकालेषु सर्वेषु यः पठेन्नियतो द्विजः ।
न्यायवानात्मनिरतः क्षांतो दांतोऽनसूयकः ॥६१॥
रोगार्तो व्याधियुक्तो वा पठन् पापात्प्रमुच्यते ।
वास्तुमध्ये तु पठतः कुले स्वस्त्ययनं भवेत् ॥६२॥
क्षेत्रमध्ये तु पठतः सर्वं सस्यं प्ररोहति ।
गच्छतः क्षेत्रमध्वानं ग्रामान्तरगतः पठन् ॥६३॥
आत्मनश्च सुतानां च दाराणां च धनस्य च ।
बीजानामोषधीनां च रक्षामेतां प्रयोजयेत् ॥६४॥

एतान् संग्रामकालेषु पठतः क्षत्रियस्य तु ।
व्रजन्ति रिपवो नाशं क्षेमं च परिवर्द्धते ॥६५॥
एतान्दैवे च पित्र्ये च पठतः पुरुषस्य हि ।
भुञ्जते पितरः कव्यं हव्यं च त्रिदिवौकसः ॥६६॥
न व्याधिश्वापदभयं न द्विपान्न हि तस्करात् ।
कश्मलं लघुतां याति पाप्मना च प्रमुच्यते ॥६७॥
यानपात्रे च याने च प्रवासे राजवेश्मनि ।
परां सिद्धिमवाप्नोति सावित्रीं ह्युत्तमां पठन् ॥६८॥
न च राजभयं तेषां न पिशाचान्न राक्षसात् ।
नाग्न्यम्बुपवनव्यालाद्भयं तस्योपजायते ॥६९॥
चतुर्णामपि वर्णानामाश्रमस्य विशेषतः ।
करोति सततं शान्तिं सावित्रीमुत्तमां पठन् ॥७०॥
नाग्निर्दहति काष्ठानि सावित्री यत्र पठ्यते ।
न तत्र बालो म्रियते न च तिष्ठन्ति पन्नगाः ॥७१॥
न तेषां विद्यते दुःखं गच्छन्ति परमां गतिम् ।
ये शृण्वन्ति महद् ब्रह्म सावित्रीगुणकीर्त्तनम् ॥७२॥
गवां मध्ये तु पठतो गावोऽस्य बहुवत्सलाः ।
प्रस्थाने वा प्रवासे वा सर्वावस्थां गतः पठेत् ॥७३॥
जपतां जुह्वतां चैव नित्यं च प्रयतात्मनाम् ।
ऋषीणां परमं जप्यं गुह्यमेतन्नराधिप ॥७४॥
यथातथ्येन सिद्धस्य इतिहासं पुरातनम् ।
पराशरमतं दिव्यं शक्राय कथितं पुरा ॥७५॥

तदेतत्ते समाख्यातं तथ्यं ब्रह्म सनातनम् ।
हृदयं सर्वभूतानां श्रुतिरेषा सनातनी ॥७६॥
सोमादित्यान्वयाः सर्वे राघवाः कुरवस्तथा ।
पठन्ति शुचयो नित्यं सावित्रीं प्राणिनां गतिम् ॥७७॥
अभ्यासे देवतानां च सप्तर्षीणां ध्रुवस्य च ।
मोक्षणं सर्वकृच्छ्राणां मोचयत्यशुभात्सदा ॥७८॥

वृद्धैः काश्यपगौतमप्रभृतिभिर्भृग्वंगिरोऽत्र्यादिभिः
शुक्रागस्त्यबृहस्पतिप्रभृतिभिर्ब्रह्मर्षिभिः सेवितम् ।
भारद्वाजमतं ऋचीकतनयैः प्राप्तं वशिष्ठात् पुनः
सावित्रीमधिगम्य शक्रवसुभिः कृत्स्ना जिता दानवाः ॥७९॥

यो गोशतं कनकशृङ्गमयं ददाति
विप्राय वेदविदुषे च बहुश्रुताय ।
दिव्यां च भारतकथां कथयेच्च नित्यं
तुल्यं फलं भवति तस्य च तस्य चैव ॥८०॥
धर्मो विवर्धति भृगोः परिकीर्तनेन
वीर्यं विवर्धति वसिष्ठनमोनतेन ।
संग्रामजिद्भवति चैव रघुं नमस्यन्
स्यादश्विनौ च परिकीर्तयतो न रोगः ॥८१॥
एषा ते कथिता राजन् सावित्री ब्रह्म शाश्वती ।
विवक्षुरसि यच्चान्यत्तत्ते वक्ष्यामि भारत ॥८२॥

इति सावित्रीव्रतोपाख्यानम् ।

अथ अन्नपूर्णास्तोत्रम्

नित्यानन्दकरी वराभयकरी सौन्दर्यरत्नाकरी
निर्धूताखिलघोरपावनकरी प्रत्यक्षमाहेश्वरी।
प्रालेयाचलवंशपावनकरी काशीपुराधीश्वरी
भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी ॥१॥

नानारत्नविचित्रभूषणकरी हेमाम्बराडम्बरी
मुक्ताहारविलम्बमानविलसद्वक्षोजकुम्भान्तरी।
काश्मीरागुरुवासिता रुचिकरी काशीपुराधीश्वरी
भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी ॥२॥

योगानन्दकरी रिपुक्षयकरी धर्म्मार्थनिष्ठाकरी
चन्द्रार्कानलभासमानलहरी त्रैलोक्यरक्षाकरी।
सर्वैश्वर्यसमस्तवाञ्छितकरी काशीपुराधीश्वरी
भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी ॥३॥

कैलासाचलकन्दरालयकरी गौरी उमा शङ्करी
कौमारी निगमार्थगोचरकरी ओंकारबीजाक्षरी।
मोक्षद्वारकपाटपाटनकरी काशीपुराधीश्वरी
भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी ॥४॥

दृश्यादृश्यप्रभूतवाहनकरी ब्रह्माण्डभाण्डोदरी
लीलानाटकसूत्रभेदनकरी विज्ञानदीपाङ्कुरी।
श्रीविश्वेशमनःप्रसादनकरी काशीपुराधीश्वरी
भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी ॥५॥

उर्वी सर्वजनेश्वरी भगवती मातान्नपूर्णेश्वरी
वेणीनीलसमानकुन्तलहरी नित्यान्नदानेश्वरी ।
सर्वानन्दकरी दृशां शुभकरी काशीपुराधीश्वरी
भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी ॥६॥
आदिक्षान्तिसमस्तवर्णनकरी शम्भोस्त्रिभावाकरी
काश्मीरा त्रिजलेश्वरी त्रिलहरी नित्याङ्कुरा सर्वरी ।
कामाकाङ्क्षकरी जनोदयकरी काशीपुराधीश्वरी
भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी ॥७॥
देवी सर्वविचित्ररत्नरचिता दाक्षायणी सुन्दरी
वामं स्वादुपयोधरप्रियकरी सौभाग्यमाहेश्वरी ।
भक्ताभीष्टकरी दशाशुभकरी काशीपुराधीश्वरी
भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी ॥८॥
चन्द्रार्कानलकोटिकोटिसदृशा चन्द्रांशुबिम्बाधरी
चन्द्रार्काग्निसमानकुन्तलधरी चन्द्रार्कवर्णेश्वरी ।
माला पुस्तकपाशसांकुशधरी काशीपुराधीश्वरी
भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी ॥९॥
क्षत्रत्राणकरी महाभयकरी माता कृपासागरी
साक्षान्मोक्षकरी सदाशिवकरी विश्वेश्वरी श्रीधरी ।
दक्षाक्रन्दकरी निरामयकरी काशीपुराधीश्वरी
भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी ॥१०॥
अन्नपूर्णे सदापूर्णे शङ्करप्राणवल्लभे ।
ज्ञानवैराग्यसिद्ध्यर्थं भिक्षां देहि च पार्वति ॥११॥

माता च पार्वती देवी पिता देवो महेश्वरः ।
बान्धवाः शिवभक्ताश्च स्वदेशो भुवनत्रयम् ॥१२॥

इति श्रीमच्छङ्कराचार्यविरचितमन्नपूर्णाष्टकस्तोत्रं सम्पूर्णम् ।

अथ शीतलाष्टकम्

अस्य श्रीशीतलास्तोत्रस्य महादेव ऋषिः । अनुष्टुप् छन्दः । शीतला देवता । लक्ष्मी बीजम् । भवानी शक्तिः । सर्वविस्फोटकनिवृत्तये जपे विनियोगः ।

ईश्वर उवाच ।

वन्देऽहं शीतलां देवीं रासभस्थां दिगम्बराम् ।
मार्जनीकलशोपेतां शूर्पालंकृतमस्तकाम् ॥१॥
वन्देऽहं शीतलां देवीं सर्वरोगभयापहाम् ।
यामासाद्य निवर्तेत विस्फोटकभयं महत् ॥२॥
शीतले शीतले चेति यो ब्रूयाद्दाहपीड़ितः ।
विस्फोटकभयं घोरं क्षिप्रं तस्य प्रणश्यति ॥३॥
यस्त्वामुदकमध्ये तु धृत्वा पूजयते नरः ।
विस्फोटकभयं घोरं गृहे तस्य न जायते ॥४॥
शीतले ज्वरदग्धस्य पूतिगन्धयुतस्य च ।
प्रनष्टचक्षुषः पुंसस्त्वामाहुर्जीवनौषधम् ॥५॥
शीतले तनुजान्रोगान्नृणां हरसि दुस्त्यजान् ।
विस्फोटकविदीर्णानां त्वमेकाऽमृतवर्षिणी ॥६॥

गलगण्डग्रहा रोगा ये चान्ये दारुणा नृणाम् ।
त्वदनुध्यानमात्रेण शीतले यांति संक्षयम ॥७॥
न मन्त्रो नौषधं तस्य पापरोगस्य विद्यते ।
त्वामेकां शीतले धात्रीं नान्यां पश्यामि देवताम् ॥८॥
मृणालतंतुसदृशीं नाभिहृन्मध्यसंस्थिताम् ।
यस्त्वां संचिन्तयेद्देवि तस्य मृत्युर्न जायते ॥६॥
अष्टकं शीतलादेव्या यो नरः प्रपठेत्सदा ।
विस्फोटकभयं घोरं गृहे तस्य न जायते ॥१०॥
श्रोतव्यं पठितव्यं च श्रद्धाभक्तिसमन्वितैः ।
उपसर्गविनाशाय परं स्वस्त्ययनं महत् ॥११॥
शीतले त्वं जगन्माता शीतले त्वं जगत्पिता ।
शीतले त्वं जगद्धात्री शीतलायै नमो नमः ॥१२॥
रासभो गर्दभश्चैव खरो वैशाखनन्दनः ।
शीतलावाहनश्चैव दूर्वाकंदनिकृंतनः ॥१३॥
एतानि खरनामानि शीतलाग्रे तु यः पठेत् ।
तस्य गेहे शिशूनां च शीतलारुङ् न जायते ॥१४॥
शीतलाष्टकमेवेदं न देयं यस्य कस्यचित् ।
दातव्यं च सदा तस्मै श्रद्धाभक्तियुताय वै ॥१५॥
इति श्रीस्कन्दपुराणे शीतलाष्टकस्तोत्रं सम्पूर्णम् ।

———

अथ गङ्गाष्टकम्

मातः शैलसुतासपत्नि वसुधा शृङ्गारहारावलि
स्वर्गारोहणवैजयन्ति भवतीं भागीरथीं प्रार्थये ।
त्वत्तीरे वसतस्त्वदम्बु पिबतस्त्वद्वीचिषु प्रेंखत-
स्त्वन्नाम स्मरतस्त्वदर्पितदृशः स्यान्मे शरीरव्ययः ॥१॥

त्वत्तीरे तरुकोटरांतरगतो गंगे विहंगो वरं
त्वन्नीरे नरकान्तकारिणि शिवे मत्स्योऽथवा कच्छपः ।
नैवान्यत्र मदांधसिन्धुरघटासंघट्टघण्टारण-
त्कारत्रस्तसमस्तवैरिवनितालब्धस्तुतिर्भूपतिः ॥२॥

उक्षा पक्षी तुरग उरगः कोऽपि वा वारणो वा
वाराणस्यां जननमरणक्लेशदुःखासहिष्णुः ।
न त्वन्यत्र प्रविरलरणत्कंकणक्वाणमिश्रं
वारस्त्रीभिश्चमरमरुता वीजितो भूमिपालः ॥३॥

काकैर्निष्कुषितं श्वभिः कवलितं गोमायुभिर्लुंठितं
स्रोतोभिश्चलितं तटाम्बुलुलितं वीचीभिरांदोलितम् ।
दिव्यस्त्रीकरचारुचामरमरुत्संवीज्यमानः कदा
द्रक्ष्येऽहं परमेश्वरि त्रिपथगे भागीरथि स्वं वपुः ॥४॥

अभिनवबिसवल्ली पादपद्मस्य विष्णो-
र्मदनमथनमौलेर्मालतीपुष्पमाला ।
जयति जयपताका काप्यसौ मोक्षलक्ष्म्याः
क्षपितकलिकलङ्का जाह्नवी नः पुनातु ॥५॥

एतत्तालतमालसालसरलव्यालोलवल्लीलता-
च्छन्नं सूर्यकरप्रतापरहितं शंखेन्दुकुन्दोज्ज्वलम् ।
गन्धर्वामरसिद्धकिन्नरवधूत्तुङ्गस्तनास्फालितं
स्नानाय प्रतिवासरं भवतु मे गांगं जलं निर्मलम् ॥६॥
गांगं वारि मनोहारि मुरारिचरणच्युतम् ।
त्रिपुरारिशिरश्चारि पापहारि पुनातु माम् ॥७॥
पापापहारि दुरितारि तरङ्गधारि
शलप्रचारिगिरिराजगुहाविदारि ।
झङ्कारकारि हरिपादरजोपहारि
गांगं पुनातु सततं शुभकारि वारि ॥८॥
गङ्गाष्टकं पठति यः प्रयतः प्रभाते
वाल्मीकिना विरचितं शुभदं मनुष्यः ।
प्रक्षाल्य गात्रकलिकल्मषपंकमाशु मोक्षं
लभेत्पतति नव नरो भवाब्धौ ॥९॥
इति श्रीवाल्मीकिविरचितं गङ्गाष्टकं सम्पूर्णम् ।

आनन्द लहरी

श्रीगणेशाय नमः । भवानी स्तोतुं त्वां प्रभवति चतुर्भिर्न वदनैः प्रजानामीशान स्त्रिपुरमथनः पञ्चभिरपि । न षड्भिः सेनानी र्दशशत मुखैरप्यहि पतिस्तदान्येषां केषां कथय कथमस्मिन्नव सरः ॥१॥ घृतक्षीरद्राक्षामधुमधुरिमा कै रपि पदै. विशिष्याना-

रुचेया भवति रसनामात्रविषयः। तथा ते सौन्दर्यं परम शिव-दृङ्मात्रविषयः कथङ्कारंब्रूमः सकलनिगमा गोचर गुणं ॥२॥ मुखे ते ताम्बूलं नयनयुगले कज्जलकला ललाटे काश्मीरं विलसति गले मौक्तिकलता। स्फुरत्काञ्ची शाटी पृथुकटितटे हाटकमयी भजामि त्वां गौरीं नगपतिकिशोरीमविरतम् ॥३॥ विराजन्मन्दारद्रुमकुसुमहार स्तनतटी नद द्वीणानाद श्रवणविलसत्कुण्डल गुणा। नताङ्गी मातङ्गी रुचिरगतिभङ्गीभगवती। सती शम्भोरम्भोरुहचटुल चक्षुर्विजयते ॥४॥ नवीनार्कभ्राजन्मणिकनकभूषापरिकरैर्वृताङ्गी सारङ्गी रुचिरनयनाऽङ्गीकृत शिवा। तडित्पीता पीताम्ब ललितमञ्जीर सुभगाममापर्णा पूर्णा निरवधिसुखैरस्तु सुमुखी ॥५॥ हिमाद्रेः सम्भूता सुललितकरैः पल्लवयुता सुपुष्पा मुक्ताभिर्भ्रमरकलिता चालकभरैः। कृतस्थाणुस्थाना कुचकलनता सूक्ति सरसा रुजां हन्त्री गन्त्री विलसति चिदानन्द लतिका ॥६॥ सपर्णामाकीर्णां कतिपयगुणैः सादरमिह, श्रयन्त्यन्ये वल्लीं मम तु मतिरेवं विलसति। अपर्णैका सेव्या जगति सकलैर्यत्परिवृतः पुराणोऽपि स्थाणुः फलतिकिलकैवल्यपदवीम् ॥७॥ विधात्रीधर्माणां त्वमसि सकलाम्नाय जननी, त्वमर्थानां मूलंधनदनमनीयाङ्घ्रिकमले। त्वमादिः कामानां जननि कृतकन्दर्पविजये सतां मुक्तेर्बीजं त्वमसि परमब्रह्ममहिषी ॥८॥ प्रभूता भक्तिस्ते यदपि न ममालोलमनसस्त्वया तु श्रीमत्या सदय भवलोक्योऽहमधुना। पयोदः पानीयं दिशति मधुरं चातकमुखे भृशं शङ्के कैर्वा विधिभिरनुनीता मम मतिः ॥९॥ कृपापाङ्गा लोकं वितर तरसा साधुचरिते नते

युक्तोपेक्षा मयि शरणदीक्षामुपगते। न चेदिष्टं दद्यादनुपदमहो कल्पलतिका विशेषः सामान्यैः कथमितरवल्ली परिकरैः ॥१०॥ महान्तं विश्वासं तवचरणपङ्के रुहयुगे निधायान्यन्नैवाश्रितमिह मयादैवतमुमे। तथापि त्वच्चेतो यदिमयि न जायेत सदयं निरालम्बो लम्बोदरजननि कं यामि शरणम् ॥११॥ अयः स्पर्शेलग्नं सपदि लभते हेम पदवीं यथा रथ्यापाथः शुचि भवतिगङ्गौघमिलितं। तथा तत्तत्पापैरतिमलिन मन्तर्मम यदि त्वयि प्रेम्णा सक्तं कथमिव न जायेत् विमलं ॥१२॥ त्वदन्यस्मादिच्छा विषय फललाभेन नियमस्त्वनर्थानामि च्छाधिकमपि समर्था वितरणे। इति प्राहुः प्राञ्चः कमलभवनाद्यास्त्वयिमनस्त्वदासक्तं नक्तं दिवमुचितमीशानि कुरुतन् ॥१३॥ स्फुरन्नाना रत्न स्फटिकमयभित्तिप्रतिफलत्वदाकारं चञ्च च्छशधरविलासौघ शिखरं। मुकुन्दब्रह्मेन्द्र प्रभृति परिवारं विजयते तवागारं रम्यं त्रिभुवन महाराज गृहिणि ॥१४॥ निवासः कैलासे विधिशतमखाद्याः स्तुतिकराः कुटुम्बं त्रैलोक्यं कृत करपुटः सिद्ध निकरः। महेशः प्राणेशास्तदवनिधराधीश तनये नये सौभाग्यस्य क्वचिदपि मनागस्ति तुलना ॥१५॥ वृषो वृद्धो यानं विषमशनमाशा निवसनं श्मशानं क्रीड़ाभूर्भुजगनिवहो भूषणविधिः। समग्रा सामग्री जगति विदितैव स्मररिपोर्यदे तस्यैश्वर्यं तव जननि सौभाग्य महिमा ॥१६॥ अशेष ब्रह्माण्डप्रलयविधि नैसर्गिक मतिः श्मशानेष्वासीनः कृतभसितलेपः पशुपतिः। दधौ कण्ठे हालाहलमखिलभूगोल कृपया भवत्याः संगत्या फलमिति च कल्याणि कलये ॥१७॥ त्वदीयं सौन्दर्यं

निरतिशयमालोक्य परया भियैवासिद्गङ्गाजलमयतनुः शैलतनये। तदैतस्यास्तास्यं शरदनंकमलं वीक्ष्य कृपया प्रतिष्ठामातेने निजशिरसि वासेन गिरीशः ॥१८॥ विशाल श्रीखण्डद्रवमृगमदाकीर्णघुसृणप्रसूनव्यामिश्रं भगवति तवाभ्यंगसलिलम्। समादाय स्रष्टा चलितपादपांसून् निजकरैः समाधत्ते सृष्टिं विबुध पुरपङ्क्तेरुहदृशाम ॥१९॥ वसन्ते सानन्दे कुसुमितलताभिः परिवृते स्फुरन्नानापद्मे सरसि कलहंसाति सुभगे। सखीभिः खेलन्ती मलयपवनान्दोलितजले स्मरेद्यस्त्वां तस्य ज्वरज्वनितपीडाऽपसरति ॥२०॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमच्छङ्कराचार्य विरचिताऽऽनन्दलहरी सम्पूर्णा॥

अथ त्रिगुण आरती शिवजी की

श्लोक

कर्पूरगौरं करुणावतारं संसारसारं भुजगेन्द्रहारं

सदावसन्तं हृदयारविन्दे भवं भवानी सहितं नमामि

जय शिव ओंकारा हर ॐ शिव ओंकारा।
ब्रह्मा विष्णु सदाशिव अर्धंगी धारा॥

एकानन चतुरानन पंचानन राजै।
हंसासन गरुड़ासन वृषवाहन साजै॥
जय शिव ओंकारा हर ॐ शिव ओंकारा॥

दोयभुज चार चतुर्भुज दशभुज ते सोहै।
तीनों रूप निरखता त्रिभुवन जग मोहै॥
जय शिव ओंकारा हर ॐ शिव ओंकारा॥

अक्षमाला वनमाला रुण्डमाला धारी।
चन्दनमृगमद चन्द्रा भाले शुभकारी॥
जय शिव ओंकारा हर ॐ शिव ओंकारा॥

श्वेताम्बर पीताम्बर बाघम्बर अंगे।
सनकादिक प्रभुतादिक भूतादिक संगे॥
जय शिव ओंकारा हर ॐ शिव ओंकारा॥

कर मध्ये कमंडलु चक्र त्रिशूल धरता।
जगकर्ता जगभर्ता जग संहार कर्ता॥
जय शिव ओंकारा हर जय शिव ओंकार॥

ब्रह्मा विष्णु सदाशिव जानत अविवेका।
प्रणव अक्षरनु मध्ये ये तीनों एका ॥
जयशिव ओंकारा हर जय शिव ओंकारा॥
काशी में विश्वनाथ विराजे नन्दी ब्रह्मचारी।
नितउठ भोग लगावत महिमा अति भारी॥
जय शिव ओंकारा हर जै शिव ओंकारा॥
त्रिगुणस्वामीजीकी आरती जो कोई नर गावे॥
भगत शिवानन्द स्वामी; मन वांछित फल पावे॥
जय शिव ओंकारा हर जय शिव ओंकारा॥

अथ शिवजी की आरती

शीश गङ्ग अर्द्धङ्ग पार्वती सदा विराजत कैलासं
नन्दी भृङ्गी नृत्य करत है गुण भक्तन शिवकी दासी॥
शीतलमन्द सुगन्ध पवन वहै वैठे हैं शिव अविनासी।
करत गान गन्धर्व समसुर रागरागिनी अतिगासी॥
यक्ष रक्ष भैरव जहं डोलत बोलत हैं वनके वासी।
कोयल शब्द सुनावत सुन्दर भंवर करत है गुंजासी॥
कल्पद्रुम अरु पारिजात तरु लाग रहे हैं लक्षासी।
कामधेनु कोटिक चहुं डोलत करत फिरत है भिक्षासी॥
सूर्यकान्त सम पर्वत शोभित चन्द्रकान्त भवमी वासी।

छहो ऋतु नित झलत रहत हैं पुष्पचढ़त है वर्षासी ॥
देव मुनिजनकी भीड़ पड़त हैं निगम रहत जो नितगासी
ब्रह्मा विष्णु जाको ध्यान धरत हैं कछु शिव हमको फरमासी॥
ऋद्धिसिद्धिके दाता शंकर सदा आनन्द नित सुखरासी ।
जिनको सुमिरत सेवा करता टूट जाय यमकी फांसी ॥
त्रिशूलधरजी को ध्यान निरन्तर मन लगायकर जो गासी ।
दूर करो विपता शिव तनकी, जन्म जन्म शिवपदपासी ॥
कलासी काशीके वासी अविनाशी मेरी सुध लीज्यो ।
सेवक जान सदा चरननको आपनो जान दरश दीज्यो ॥
तुमतो प्रभु जी सदा सयाने अवगुण मेरे सब ढकियो ।
सब अपराध क्षमा कर शंकर किंकरकी विनती सुनियो ॥
अभयदान दीजै प्रभु मोको सकल सृष्टिके हितकारी ।
भोलेनाथ बाबा भक्त निरंजन भव भंजन भव सुखकारी ॥
काल हरो हर कष्ट हरो हर दुःख हरो दारिद्र्य हरो ।
नमामि शंकर भजामि शंकर हरहर शंकर त्वं शरणम् ॥

अथ श्री दुर्गाजीकी आरती

मंगलकी सेवा सुन मेरी देवा हाथ जोड़ तेरे द्वारे खड़े ।
पान सुपारी ध्वजा नारियल ले ज्वाला तेरे भेंट धरे ॥
सुन जगदम्बे न कर विलम्बे संतन को भंडार भरे ।

सन्तन प्रतिपाली सदा खुसाली जय काली कल्याण करे ॥
बुद्धि विधाता तू जगमाता मेरा कारज सिद्ध करे ।
चरणकमलका लिया आसरा शरण तुम्हारी आन परे ॥
जब जब भीड़ पड़ी भक्तन पर तब तब आय सहाय करे ।
सन्तन प्रतिपाली सदा खुसाली जय काली कल्याण करे ॥
बार बार तैं सब जग मोह्यो तरुणी रूप अनूप धरे ।
माता होकर पुत्र खिलावे कहीं भारज्या भोग करे ॥
सन्तन प्रतिपाली सदा खुसाली जय काली कल्याण करे ॥
सन्तन सुखदाई सदा सहाई सन्त खड़े जयकार करे ।
ब्रह्मा विष्णु महेश सहस फल लिये भेंट तेरे द्वार खड़े ।
अटल सिंहासन बैठी माता शिर सोने का क्षत्र फिरे ॥
वार शनिश्चर कुंकुम बरणो जब लुंकड़पर हुकुम करे ।
खड्ग खप्र त्रिशूल हाथ लिया रक्तबीज कूं भस्म करे ॥
शुम्भनिशुम्भ विदारे महिपासुर कूं पकड़ दले ।
सन्तन प्रतिपाली सदा खुसाली जय काली कल्याण करे ॥
आदितवार आदको वीरा जन अपनेको कष्ट हरे ।
कोप होकर दानव मारे चण्डमुण्ड सब चूकर रे ॥
जब तुम देखो श्यामरूप होय पलमें संकट दूर करे ।
सन्तन प्रतिपाली सदा खुसाली जय काली कल्याण करे ॥
सौम्य स्वभाव धर्यो मेरी माता जनकी अरज कबूल करे ।
सिंह पीठ पर चढ़ी भवानी अटल भवन में राज करे ॥
दर्शन पावें मंगल गावें सिद्ध साध तेरे भेंट करें ।

'सन्तन प्रतिपाली सदा खुसाली जय काली कल्याण करे ॥
ब्रह्मा वेद पढ़ें तेरे द्वारे शिवशङ्करजी ध्यान धरें।
इन्द्र कृष्ण तेरी करें आरति चमर कुबेर डुलाय रहे ॥
जय जननी जय मातु भवानी अटल भवनमें राज्य करे।
'सन्तन प्रतिपाली सदा खुसाली जय काली कल्याण करे ॥

अथ श्री दुर्गाजी की आरती

जय जय अम्बे गौरी मैया मंगलमूर्ती मैया जय आनन्द करणी।
तुमको निशि दिन ध्यावत हर ब्रह्मा शिवरी ॥ टेक॥
मांग सिन्दुर विराजत टीको मृगमदको।
उज्ज्वल-से दोउ नैना चन्द्रवदन नीको ॥
जय अम्बे गौरी मैया जय मंगलमूर्ती मैया जय आनन्द करणी।
कनक समान कलेवर रक्तांबर राजे।
रक्त पुष्प गलमाला कण्ठन पर साजै ॥
जय अम्बे गौरी मैया जय मंगलमूर्ती मैया जय आनन्द करणी।
केहरि वाहन राजत खड्ग खपरधारी
सुरनर मुनिजन सेवत तिनके दुखहारी ॥
जय अम्बे गौरी मैया जय मंगलमूर्ती मैया जय आनन्द करणी।
कानन कुण्डल शोभित नासाग्रे मोती।
कोटिन चन्द्र दिवाकर समराजत ज्योति ॥

जय अम्बे गौरी मैया जय मंगलमूर्ती मैया जय आनन्द करणी।

शुम्भनिशुम्भ विदारे महिषासुर घाती।

धूम्रविलोचन नैना निशि दिन मदमाती॥

जय अम्बे गौरी मैया जय मंगलमूर्ती मैया जय आनन्द करणी।

चौंसठ योगिनि गावत नृत्य करत भैरुँ।

बाजत ताल मृदंगा और बाजत डमरू॥

जय अम्बे गौरी मैया जय मंगलमूर्ती मैया जय आनन्द करणी।

भुजा चार अति शोभित खड्ग खपरधारी।

मनवांछित फलपावत सेवत नर-नारी॥

जय अम्बे गौरी मैया जय मंगलमूर्ती मैया जय आनन्द करणी।

कञ्चन थाल विराजत अगर कपूरकी बाती।

श्रीमालकेतु में राजुत कोटि रतन ज्योती॥

जय गौरी अम्बे मैया जय मंगलमूर्ती मैया जय आनन्द करणी।

या अम्बेजी की आरति जो कोई नर गावे।

भनत शिवानन्द स्वामी, सुख सम्पत्ति पावे॥

अथ श्री लक्ष्मीजी की आरती

जय लक्ष्मी माता जय लक्ष्मी माता। तुकक्ूं निशिदिन सेवत हर विष्णु धाता ॥टेक॥ ब्रह्माणीः रुद्राणी; कमला तू हि है जगमाता। सूर्य्य चन्द्रमा ध्यावत नारद ऋषि गाता॥ जय लक्ष्मी माता जय लक्ष्मी माता॥ दुर्गा रूप निरंजनि सुख

सम्पत्ति दाता। जो कोई तुमको ध्यावत ऋद्धिसिद्धि धनपाता॥ जय लक्ष्मी माता जय लक्ष्मी माता॥ तू ही है पाताल वसन्ती तू ही है शुभ दाता। कर्म प्रभाव प्रकाशक जगनिधिसे त्राता॥ जय लक्ष्मी माता जय लक्ष्मी माता॥ जिस घर थारो वासो ताहिमें गुण आता। करन सकै सोइ कर ले मन नहिं धड़काता॥ जय लक्ष्मी माता जय लक्ष्मी माता॥ तुम विन यज्ञ न होवे वस्त्र न होय राता। खान पान को विभव तुम्हें विन कुणदाता॥ जय लक्ष्मी माता जाय लक्ष्मी माता॥ शुभ गुणसुन्दरयुक्ता क्षीर-निधीजाता। रत्न चतुर्दश तोकूं कोई भी नहीं पाता॥ जयलक्ष्मी माता जय लक्ष्मी माता॥ या आरति लक्ष्मीजी की जो कोई जन गाता। उर आनन्द अति उमंगे पाप उतर जाता॥ जय लक्ष्मी माता जय लक्ष्मी माता॥ स्थिरचर जागत वचावे कर्म प्रेरल्याता। राम प्रताप मैया की शुभ दृष्टिचाता॥ जाय लक्ष्मी माता जय लक्ष्मी माता॥ तुमको निशिदिन सेवत हर विष्णु धाता।

पुष्पांजलिः

ॐ यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। तेह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वो साध्याः सरन्तिः देवाः॥ ओं राजाधिराजाय प्रसह्य साहिने। नमो वयं वैश्रवणो ददातु॥ कुबेराय वैयवणाय महाराजाय नमः॥

ओं स्वस्ति साम्राज्यं भोज्यं स्वराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं

महाराज्यमाधिपत्यम समन्तपर्यायी स्यात् सर्वभौमः सार्वायुप आन्तादापरार्धात्पृथिव्यै समुद्रपर्यन्तयी एकराडिति तदप्येप श्लोकोऽभिगीतो मरुतः परिवेष्टारो मरुतस्यावसन् गृहे ॥ आविक्षितस्य कामप्रेर्विश्वे देवाः सभासदः ॥ पुष्पाञ्जलि समर्पयामि ॥ कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतेः स्वभावात्। करोमि यद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पये तत् ॥

शिवस्तुतिः (पुष्पांजलिः)

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी। लिखति यदि गृहित्वा शारदा सर्वकालं तदपि तव गुणानामीश पारं न याति। १। वन्दे देवमुमापतिं सुरगुरुं वन्दे जगत्कारणं वन्दे पन्नगभूषणं मृगधरं वन्दे पशूनां पतितम्। वन्दे सूर्यशशाङ्कवह्निनयनं वन्दे मुकुन्दं प्रियं वन्दे भक्तजनाश्रयं च वरदं शिवं शंकरम्। २। शान्तं पद्मासनस्थं शशधर-मुकुटं पंचवक्त्रं त्रिनेत्रं शूलं वज्रं च खड्गं परशुमभयदं दक्षिणाङ्गे वहन्तम्। नागं पाशं च घण्टां डमरुकसहितं सांकुशं वामभागे नानालंकारयुक्तं स्फटिकमणिनिभं पार्वतीसं नमामि ॥ ३ ॥

श्री रामस्तुति

श्री रामचन्द्र कृपाल भजुमन हरण भव भय दारुणम्।
नवकंज लोचन कञ्ज मुख कर कञ्ज पद कंजारुणम ॥

कंदर्प अगनित अमित छवि नव नील नीरद सुन्दरम् ।
पटपीत मानहु तड़ित रुचि शुचि नौमि जनक सुतावरम् ॥
भजु दीनबन्धु दिनेश दानव दैत्यवंश निकंदनम ।
रघुनन्द आनन्द कन्द कोशल चन्द दशरथ नन्दनम् ॥
सिर मुकुट कुण्डल तिलक चारु उदार अङ्ग विभूषणम्।
आजानु भुज शर-चाप धर संग्रामजित खर दूषणम् ॥
इति वदति तुलसीदास शंकर शेष मुनिमन रञ्जनम् ।
मम हृदयकञ्ज निवास करु कामादि खलदल गञ्जनम् ॥
मन जाहि राच्यो मिलहि सो वर सहज सुन्दर सांवरो ।
करुणा निधान सुजान शील सनेह जानत रावरो ॥
इहि भांति गौरी अशीश सुनि सिय सहित हिय हर्पित अली।
तुलसी भवानी पूजि पुनि पुनि मुदित मन मन्दिर चली ॥
जानि गौरि अनुकूल सिय हिय हर्ष न जात कहि।
मंजुल मंगल मूल, बाम अङ्ग फरकन लगे ॥

सियावर रामचन्द्रकी जय ।

श्रीहनुमते नमः ।

श्रीहनुमानचालीसा

॥ दोहा ॥

श्रीगुरुचरण सरोज रज, निजमन मुकुर सुधार ।
बरणौं रघुवर विमल यश, जो दायक फलचार ॥

बुद्धि हीन तनु जानिके, सुमिरौं पवनकुमार ।
बलबुद्धि विद्या देहु मोहि, हरहु कलेश विकार ॥

॥ चौपाई ॥

जय हनुमान ज्ञान गुनसागर, जय कपीश तिहुंलोक उजागर ।
राम दूत अतुलित बलधामा, अञ्जनि पुत्र पवनसुत नामा ॥
महावीर विक्रम बजरंगी, कुमति निवार सुमति के संगी ।
कञ्चन बरन विराज सुबेसा, कानन कुण्डल कुञ्चित केसा ।
हाथ वज्र अरु ध्वजा विराजै, काँधे मूंज जनेऊ छाजै ।
शङ्करसुवन केसरीनन्दन, तेज प्रताप महाजगवन्दन ।
विद्यावान् गुणी अति चातुर, रामकाज करिबे को आतुर ।
प्रभुचरित्र सुनिबेको रसिया, रामलषन सीता मन बसिया ।
सूक्ष्मरूप धरि सियहिं दिखावा, विकट रूप धरि लंक जरावा ।
भीमरूप धरि असुर संहारे, रामचन्द्र के काज सँवारे ।
लाय सजीवन लषण जिवाये, श्री रघुवीर हरषि उरलाये ।
रघुपति कीनी बहुत बड़ाई, तुम मम प्रिय भरत सम भाई ।
सहसवदन तुम्हरो यश गायो, अस कहि श्रीपति कण्ठ लगायो ।
सनकादिक ब्रह्मादि मुनीशा, नारद शारद सहित अहीशा ।
यम कुबेर दिगपाल जहाँ ते, कवि कोविद कहि सकैं कहाँ ते ।
तुम उपकार सुग्रीवहिं कीन्हा, राम मिलाय राजपद दीन्हा ।
तुम्हरो मन्त्र विभीषण माना, लंकेश्वर भये सब जग जाना ॥
युग सहस्र योजन जो भानू, लीला ताहि मधुर फल जानू ।

प्रभु मुद्रिका मेलि मुख माहीं, जलधि लाँघि गये अचरज नाहीं।
दुरगम काज जगतके जेते, सुगम अनुग्रह तुम्हरे तेते।
राम दुलारे तुम रखवारे, होत न आज्ञा बिन पैसारे।
सब सुख लहै तुम्हारी सरना, तुम रक्षक काहू को डर ना।
आपन तेज सम्हारो आपै, तीनों लोक हांकते कांपै।
भूत पिसाच निकट नहिं आवै, महावीर जब नाम सुनावै।
नासै रोग हरै सब पीरा, जपत निरन्तर हनुमत बीरा।
संकटसे हनुमान छुड़ावै, मन क्रम वचन ध्यान जो लावै।
सबपर राम तपस्वी राजा, तिनके काज सकल तुम साजा।
और मनोरथ जो कोई लावै, तासु अमित जीवन फल पावै।
चारों युग परताप तुम्हारा, है परसिद्ध जगत उजियारा।
साधुसंतके तुम रखवारे, असुर निकन्दन राम दुलारे।
अष्ट सिद्धि नव निधि के दाता, अस वर दीन जानकी माता।
राम-रसायन तुम्हारे पासा, सादर तुम रघुपति के दासा।
तुम्हरे भजन रामको भावै, जन्म जन्म के दुःख बिसरावै।
अन्तकाल रघुपतिपुर जाई, जहां जन्म हरि भक्त कहाई।
और देवता चित्त न धरई, हनुमत सेय सर्व सुख करई।
संकट हरे मिटै सब पीरा, जो सुमिरै हनुमत बल बीरा।
जय जय जय हनुमान गोसांईं, कृपा करो गुरु देवकी नाईं।
सह शत वार पाठ कर जोई, छूटै बन्दि महा सुख होई।
जो यह पढ़ै हनुमान चालीसा, होय सिद्ध साखी गौरीसा।
तुलसीदास सदा हरि चेरा, कीजै नाथ हृदय महँ डेरा।

॥ दोहा ॥

पवन तनय सङ्कट हरण, मङ्गल मूरति रूप ।
रामलषण सीता सहित, हृदय वसहु सुरभूप ।

श्रीहनुमानाष्टक

बाल समय रवि भक्ष लियो तब तिनहुं लोको भयो अँधियारी ।
ताहि सो त्रास भयो जगको यंह संकट काहु से जात न टारो ॥
*देवन आनि करी विनती तब छाड़ि दियो रवि कष्ट निवारो ।
को नहिं जानत है जगमें कपि संकट मोचन नाम तिहारो ॥
बालिकी त्रास कपीश बसै गिरिजात महाप्रभु पंथ निवारो ।
चौंकि महामुनि साप दियो तब चाहिय कौन उपाय बिचारो ॥
के द्विज रूप लिआय महाप्रभु सो तुम दास के सोक निवारो । को०
अङ्गदके सँग लेन गये सिय खोज कपीस यह वैन उचारो ॥
जीवन ना बचि हौ हमरो जु विना सुधि लाय इहाँ पग धारो ।
हेरि थके तट सिन्धु सबै तब लाय सिया सुधि प्राण उबारो ॥ को०
रावन त्रास दई सियको सब राक्षसि सो, कहि सोक निवारो ।
ताहि समय हनुमान महाप्रभु जाय महा रजनीचर मारो ॥
चाहत सीय अशोक सो आगि सु दे प्रभु मुद्रिका सोक निवारो । को०
बान लग्यो उर लक्ष्मण के तब प्राण तजो सुत रावन मारो ॥

लै गृह वैद्य सुखेन समेत तबै गिरि द्रोण सुवीर उपारो।
लाय सजीवन हाथ दई तव लक्ष्मणके तुम प्राण उबारो॥ को०
रावण युद्ध अजान कियो तव नाग कि फांस सबै सिर डारो।
श्री रघुनाथ समेत सबै दल मोह भयो यह संकट भारो॥
आनि खगेस तबै हनुमानजु वन्धन काटि सुत्रास निवारो। को०
वन्धु समेत जबै अहिरावन लै रघुनाथ पताल सिधारो॥
देविहिं पूजि भली विधिसो वलिदेन सबै मिलि मंत्र विचारो।
जाय सहाय भयो तबहीं अहिरावन सैन्य समेत संहारो॥ को०
काज कियो वड़ देवन के तुम वीर महाप्रभु देखि विचारो।
कौनसो संकट मोहि गरीव को जो तुमसो नहिं जात है टारो॥
वेगि हरो हनुमान महाप्रभु जो कछु संकट होय हमारो। को०

॥ दोहा ॥

लाल देह लाली लसे अरू धरि लाल लंगूर।
वज्रदेह दानव दलन जय जय जय कपिसूर॥

भजन

(१)

है अपरम्पार प्रभो तुम्हारी महिमा।
अद्भुत है तुम्हारी माया नहिं पार किसीने पाया।

गये ऋषि मुनि सब हार ॥ प्रभो० ॥
रवि चन्द्र और ये तारे, चर अचर जीव जड़ सारे।
तुम्हीं को रहे पुकार ॥ प्रभो० ॥
हो जगत के आदि कारण, तुम किये हुए हो धारण।
तुम्हीं करते संहार ॥ प्रभो० ॥
सब बलों में तुम ही बल हो, सब चल हैं तुम्हीं अचल हो।
तुम्हीं सुख के भण्डार ॥ प्रभो० ॥
यों वासुदेव गाता है, जो तुम्हें हृदय लाता है।
वही जन होवे पार ॥ प्रभो० ॥

(२)

पितु मातु सहायक स्वामि सखा तुम ही इक नाथ हमारे हो।
जिनके कछु और अधार नहीं तिनके तुम ही रखवारे हो।
सब भांति सदा सुख दायक हो दुख दुर्गुण नाशनहारे हो।
प्रतिपाल करो सिगरे जगको अतिशय करुना उर धारे हो।
भूलिहैं हमहीं तुमको तुम तो हमरी सुध नाहिं बिसारे हो।
उपकारन को कछु अन्त नहीं छिन ही छिन जो विस्तारे हो।
महाराज महा महिमा तुम्हरी समुझे बिरले बुधवारे हो।
शुभशान्तिनिकेतन प्रेमनिधे! मन मन्दिर के उजियारे हो।
इस जीवन के तुम जीवन हो, इन प्रानन के तुम प्यारे हो।

(३)

जगदीश ज्ञानदाता सुखमूल शोकहारी।
भगवन् तुम्हीं सदा हो निष्पक्ष न्यायकारी।

सबकाल सर्वज्ञाता सविता-पिता-विधाता ।
सब में रमे हुए हो हे विश्वके विहारी ।
कुछ तो दया करोगे हम मांगते यही हैं ।
हमको मिले स्वयं ही उठने की शक्ति सारी ।
कर दो बलिष्ट आत्मा घबराय ना दुखों से ।
कठिनाइयों का जिससे तर जाय सिन्धु भारी ।

(४)

भगवन् हमारा जीवन संसार के लिए हो ।
यह जिन्दगी हो लेकिन उपकार के लिए हो ।
ब्रह्मचर्य के व्रती हों, सतधर्म में रती हों ।
बस लगन जो लगी हो सुविचारके लिए हो ।
उद्देश्य को अधूरा मर जाय पर न छोड़ें ।
पतवार बुद्धि कर में, मंझधार के लिए हो ।
उत्तम स्वभाव हमारा· दुश्मनका मन रिझावे ।
वह देखते ही कह दे, तुम प्यार के लिए हो ।
मन से शरीर धन से जग का सदा भला हो ।
मन मे घृणा हमारे; कुविचार के लिए हो ।
संसार ही की सेवा, शुभ टेक हो हमारी ।
चाहे हमारा यह तन तलवार के लिए हो ।

(५)

उठ जाग मुसाफिर भोर भई, अब रैन कहाँ जो सोवत है।
जो जागत है सो पावत है, जो सोवत है सो खोवत है।
टुक नींद से अंखियां खोल जरा, और अपने प्रभुसे ध्यान लगा।
यह प्रीति करन की रीति नहीं, प्रभु जागत है तू सोवत है।
जो कल करना हो आज कर ले, जो आज करनां सो अब कर ले।
जब चिड़ियों ने चुग खेत लिया, फिर पछताये क्या होवत है।
नादान भुगत करनी अपनी, ऐ पापी पाप में चैन कहाँ?
जब पाप की गठरी शीश धरी, फिर शीश पकड़ क्यों रोवत है।

(६)

विश्वपति के ध्यान में जिसने लगाई हो लगन।
क्यों न हो उसको शान्ति, क्यों न हो उसका मन मगन।
काम क्रोध लोभ मोह शत्रु हैं सब महाबली।
इनके हनन के वास्ते, जितना हो तुमसे कर यतन।
ऐसा बना स्वभाव को, चित्त की शान्ति से तू।
पैदा न हो ईर्ष्या की आँच, दिल में कहीं करे जलन।
मित्रता सब से मन में रख त्याग के वैर भाव को।
छोड़ दे टेढ़ी चाल को, ठीक कर अपनी तू चलन।
जिससे बड़ा है न कोई जिसने रचा है यह जगत।
उसका ही रख तू आश्रय, उसकी ही तू पकड़ शरण।

छोड़ के राग द्वेषको, मन में तू उसका ध्यान कर।
तुझ पै दयाल होवेंगे, निश्चय है परमात्मन।
आप दया स्वरूप हैं, आप ही का है आश्रय।
कृपा दृष्टि कीजिये मुझ पै, हो जब समय कठिन।
मन में मेरी हो चाहना, मोक्ष का रास्ता मिले।
मार के मन को केवला इन्द्रियों को करे दमन।

(७)

तुम हो प्रभु चांद, मैं हूं चकोर।।
तुम हो कमल फूल, मै रस का भौंरा।
ज्योति तुम्हारी का मैं हूं पतंगा।
तुम आनन्द घन हो, मैं हूं वन का मोरा।
जैसे है चुम्वक को लोहे से प्रीती।
मुझे खींच लेवे प्रभू प्रेम तोरा।
पानी विना जैसे हो मीन व्याकुल।
ऐसे ही तड़पाय तेरा विछोड़ा।
एक बूंद जल का मैं प्यासा हूं प्यारे।
करो प्रेम वर्षा हरो ताप मोरा।

(८)

कर हरि नैया मेरी पार।
तुम विन कौन बचावन हारा, यह जग पारावार।

पाप प्रलोभन इन्द्रिन भगवन्, खींचि करी मंझधार।
मन केवट माया नद में, घेरा पञ्च मकार।
ढीली पड़ी सुरत की डोरी, स्वामीन तुम्हें विसार।
बार-बार टकरात दुःसह दुख टूट गया पतवार।
नाव पुरानी झांझरि हो गई, क्षण में डूबन हार।
बड़ी हात गहो करुणाकर, पार करो करतार।

(९)

जिसमें तेरा नहीं विकाश, ऐसा कोई फूल नहीं है ॥ टेक ॥
मैंने देख लिया सब ठोर, तुझ-सा मिला न कोई और।
सब का तू ही है सिर मौर, इसमें कुछ भी भूल नहीं है।
तुझ से मिलकर करुणाकन्द, मुनिवर पाते हैं आनन्द।
तेरा प्रेम सच्चिदानन्द, किसको मङ्गलमूल नहीं है।
उर धर धर्म जीवनाधार, गुरुजन कहें पुकार पुकार।
उसका बेड़ा होगा पार, जिसके तू प्रतिकूल नहीं है।
तेरा गाये अखिल गुण गान, करनी करता है निष्काम।
मन में है शङ्कर सुखधाम मेरे संशय शूल नहीं है।

(१०)

शरण अपनी में रख लीजै, दयामय दास हूं तेरा।
तुझे तजकर कहाँ जाऊं, हितू को और है मेरा।
भटकता हूं मैं मुद्दत से, नहीं विश्राम पाता हूं।
दया की दृष्टि से देखो, नहीं तो डूबता बेड़ा।

सताया राग द्वेषों का, तपाया तीन तापों का।
दुखाया जन्म मृत्यू का, हुआ तंग हाल है मेरा।
दुखों का मेटनेवाला, तुम्हारा नाम सुनकर मैं।
शरण में आ गिरा अब तो भरोसा नाथ है तेरा।
क्षमा अपराध कर मेरे, फकत अब आश है तेरी।
दया बलदेव पर करके, बना ले नाथ निज चेरा।

(११)

जीवन बन तू फूल समान।
पर उपकार सुरभि से सुरभित, सन्तत हो सुख दान।
स्वच्छ हृदय तो खिल जा प्यारे, तू भी परम प्रेम को धारे।
सुखदाई हो सब का जगमें, पास बसे सम्मान। जीवन०।
कठिन कण्टकों के घेरे में, दारुण दुखदाई फेरे में।
पड़कर विचलित कहीं न होना, बनना नहीं अन :: न। जीवन०।
शत्रु मित्र दोनों का हित हो, पावन यह शुभ तेरा व्रत हो।
मधुदाता बन सबका प्यारा, तजकर भेद विधान। जीवन०।
दे तू सुरभि टूटने पर भी, पैरों तले टूटने पर भी।
इस विधि से प्रभु की माला में, पा ले प्रिय स्थान। जीवन०।

(१२)

हुआ ध्यान में ईश्वर के जो मगन,
उसे कोई क्लेश लगा न रहा।
जब ज्ञान की गङ्गा में न्हाया,
तो मन में मैल ज़रा न रहा।।

परमात्मा को जब आत्मा में,
लिया देख ज्ञान की आंखों से।
प्रकाश हुआ मन में उसके,
कोई उससे भेद छिपा न रहा॥
पुरुषारथ ही इस दुनिया में,
हर कामना पूरी करता है।
मन चाहा सुख उसने पाया,
जो आलसी वन के पड़ा न रहा॥
दुखदायी हैं सब शत्रु हैं,
यह विषय हैं जितने दुनिया के।
वही पार हुआ भवसागर से,
जो जाल में इनके फँसा न रहा॥
यहाँ वड़े वड़े महाराज हुए,
वलवान हुए विद्वान हुए।
पर मौत के पंजे से 'केवल',
संसार में कोई वचा न रहा॥

(१३)

प्रीतम तू ही प्रेम का धाम।
जग से प्रीति करी वहुतेरी, मिला न कछु विश्राम। प्रीतम०।
तेरे प्रेम, अमृत से, प्यारे, जीता विश्व तमाम।
स्वच्छ समीर मेघ इत्यादिक, सभी प्रेम के काम। प्रीतम०।
एक वार भी जिसने पिया, तेरे प्रेम का जाम।

जीवन भर प्रभु प्रेम का, उसमें हुआ मुकाम। प्रीतम०।
प्रेम स्वरूप जोगेश्वर कह के, ऋषि मुनि करें प्रणाम।
गावें गीत प्रेममय होकर, ले ले तेरा नाम। प्रीतम०।
बूड़े तेरे प्रेम सिन्धु में, गिरिधर स्वामी राम।
मैत्रेयी मीरा तुलसी, सुर, तुकाजी राम। प्रीतम०।
है निमग्न रस सागर में, रसिक शिरोमणि श्याम।
ले चल अब नवरत्न मुझे भी, जहाँ प्रभू का धाम। प्रीतम०।

(१४)

हमने ली है फक़त इक तुम्हारी शरण,
हे पिता और कोई सहारा नहीं।
पतितपावन अब आसरा दो हमें,
आसरा और कोई हमारा नहीं॥
न बुद्धि, न भक्ति, न विद्या का बल,
हृदय प चढ़ा पाप कर्मों का मल।
तुम्हारी दया का फक़त आसरा,
तुमने किस किसको स्वामी उबारा नहीं॥
हुए मोह माया के वश में यहाँ,
फँसे लोभ क्रोध और अहंकार में।
पड़ी नैया अपनी है मँझधार में,
नज़र आता कोई किनारा नहीं॥
अविद्या है यह कैसी छायी हुई,
सभी कर्म गुण की सफाई हुई।

आस तुम से ईश्वर लगाई हुई,

यही द्वार है और द्वारा नहीं॥

यहाँ वेदपाठी न ज्ञानी रहे,

न योद्धा रहे और न दानी रहे।

बचा लो पिता हे पिता लो बचा,

और दर पै तो जाना गवारा नहीं॥

यह विनती है मेरी पिता मान लो,

अनाथों के दुःखों को पहचान लो।

तुम्हीं सब के अज्ञान को जान लो,

हाथ अब तक किसीको पसारा नहीं॥

(१५)

पीकर तेरा प्रेम प्याला हो जाऊं मतवाला,

प्रेम की बाती प्रेम का दीपक प्रेम का होवे ज्वाला।

मन मन्दिर में जगमग करके हो जावे उजियाला।

मेरे घरके अन्दर बहता होवे प्रेम का नाला

जब जब प्यास लगे उसमें से भरकर पीलूं प्याला

धो दे प्रेम वारि से अब तू मन मेरा मटियाला।

तेरे प्रेम के रङ्ग में रङ्ग कर हो जाऊँ रंगियाला।

प्रेम अश्रु से सिंचित प्रेम का बाग लगे हरियाला।

प्रेम प्रसून लगे हों उसमें उनकी गूथूं माला।

(१६)

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।

हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप पुंजहारी ॥१॥
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो।
मो समान आरत नहिं, आरतहर मोसो॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू ठाकुर, हौं चेरो।
तात, मात, गुरु, सखा तू सब विधि हितु मेरो॥
तोहि मोहि नाते अनेक मानिये जो भावै।
ज्यों ज्यों तुलसी कृपालु चरन सरन पावै॥

(१७)

अब लौं नसानी, अब ना नसैं हौं।
राम कृपा भव निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं।
पायो नाम चारु चिन्तामनि उर करते न खसै हौं।
स्याम रूप रुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहिं कसै हौं॥
परवस जानि हंस्यो इन इन्द्रिन निज वस ह्वै न हंसै हौं।
मन मधुपहिं प्रन करि, तुलसी, रघुपति-पदकमल वसै हौं॥

(१८)

मन पछितैहै अवसर वीते।
दुर्लभ देह पाइ परिपद भजु, करम वचन अरु हीते॥
सहसबाहु दसवदन आदि नृप, बचे न काल बलीते।
हम हम करि धन-धाम सँवारे अन्त चले उठि रीते॥
सुत वनितादि जानि स्वारथरत, न करु नेह सब हीते।
अन्तहुं तोहि तजेंगे पामर तू न तजै अब हीते॥

अव नाथहिं अनुराग जागु जड़, त्यागु दुरासा जीते।
बुझै न काम-अग्नि तुलसी कहुं विपय भोग वहु घीते ।।४।।

(१६)

माधव ! मो समान जग माहीं।
सब विधि हीन मलीन दीन अति लीन विपय कोउ नाहीं ।।
तुम सम हेतु रहित कृपालु आरत हित ईसहिं त्यागी।
मैं दुख शोक विकल कृपालु केहि कारण दया न लागी ।।
नाहित कछु अवगुन तुम्हार अपराध मोर मैं माना।
ग्यान भवन तनु दियहु नाथ सो उपायन मैं प्रभु जाना ।।
वेनु करील श्रीखण्ड वसन्तहिं दूपन मृपा लगावै।
सार रहित हतभाग्य सुरभि पल्लव सो कहु कहँ पावै ।।
सब प्रकार मैं कठिन मृदुल हरि दृढ़ विचार जिय मोरे।
तुलसीदास प्रभु मोह शृंखला छूटहिं तुम्हारे छोरे ।।

(२०)

सुनेरी मैंने निर्वल के वल राम।
पिछली साख भरूं सन्तन की आड़े संवारे काम ।।
जब लग गज वल अपनो वरत्यो नेक सरो नहिं काम।
निर्वल है वल राम पुकास्यो आये आधे नाम।
द्रुपद सुता निर्वल भई तादिन गह लाये निज धाम ।।
दुःशासन की भुजा थकित भइ वसन रूप भये श्याम।
जप वल तप वल और बाहु वल चौथो है वल दाम।
सूर किोर शकृपा से सब वल हारे को हरि नाम ।।

(२१)

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जिन तन दियो ताहि बिसरायो ऐसो नमकहरामी॥
भरि भरि उदर विषय को धावों, जैसे शूकर ग्रामी।
हरिजन छोड़ हरि विमुखन की निस दिन करत गुलामी॥
पापी कौन बड़ो है मोते, सब पतितन में नामी।
सूर पतित को ठौर कहां है सुनिये श्रीपति स्वामी॥

(२२)

प्रभु मोरे अवगुन चित ना धरो।
सम दरसी है नाम तिहारो, चाहो तो पार करो।
इक नदिया इक नार कहावत मैलो नीर भरो।
जब दोउ मिलि के एक बरन भये सुरसरि नाम पर्यो॥
इक लोहा पूजा में राखत इक घर बधिक पर्यो।
पारस गुन अवगुन नहिं चितवत, कंचन करत खरो॥
यह माया भ्रम जाल कहावत सूरदास सिगरो।
अब कि बेर मोहि पार उतारो नहिं प्रन जात टरो॥

(२३)

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले ॥टेक॥
हीरा पायो गांठ गठियायो।
बार बार वाको क्यों खोले॥
हलकी थी जब चढ़ी तराजू।
पूरी भई तब क्यों तोले॥

सुरत कलारी भई मतवारी।
मदवा पी गई बिन घोले॥
हंसा पाये मान सरोवर।
ताल तलैया क्यों डोले॥
तेरा साहिब है घर माहीं।
बाहर नैना क्यों खोले॥
कहे कबीर सुनो भाई साधो।
साहिब मिल गये तिल ओले॥

(२४)

झिनी झिनी बीनी चदरिया।
काहे के ताना काहे के भरनी कौन तारसे बीनी चदरिया॥
इङ्गला पिङ्गला ताना भरनी सुखमन, तारसे बीनी चदरिया।
आठ कमल दल चरखा डोले पांच तत्त्व गुन तीनी चदरिया॥
साइं को सियत मास दस लागे ठोक ठोक के बिनी चदरिया।
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी ओढ़ि के मैली कीनी चदरिया॥
दास कबीर जतन से ओढ़ी ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया॥

(२५)

अवधू, जागत नीन्द न कीजै।
काल न खाय कल्प नहीं व्यापें, देहि जुरा न छीजै।
उल्टी गंग समुद्रहि सोखै ससिहर सूर गरासै।
नवगृह मारि रोगिया बैठे जलमै बिंब प्रकासै।
डाल गह्यां थैं मूल न सूझै मूल गह्यां फल पावा।

ववई उलटि सरपकौं लागी धरणि-महारस खावा।
बैठि गुफामें सब जग देख्या, वाहर कछु न सूझै।
उलटैं धनकि पारधी मार्‌यो यहु अचरज कोई बुझै।
औंधा घड़ा न जलमें डूबै सूधा सू भर भरिया।
जाकौं यहु जग घिणकरि चालै ता प्रसादि निस्तरिया॥
अम्बर बरसै, धरती भीजै यहु जाणै सब कोई।
धरती बरसै अम्बर भीजै, बुझै विरला कोई।
गाँवणहारा कदै न गावै अणबोल्या नित गावै।
नटवर पेखि पेखितां पेखे अनहद बैन बजावै।
कहणी-रहणी निज तन जाणै यहु सब अकथ कहाणी
धरती उलटि अकाशहिं धावै यहु पुरुषा की वाणी॥
बाझ पियाले अमृत सोख्या नदी-नीर भरि राख्या।
कहै कबीर ते विरला जोगी धरणि महारस चाख्या॥

(२६)

सुमरन करले मेरे मना।
तेरी बीती जाति उमर हरि बिना॥ ध्रु०॥
कूप नीर विनु, धेनु क्षीर विनु, मन्दिर दीप विना।
जैसे तरुवर फल विन हीना, तैसे प्राणी हरिनाम बिना॥
देह नैन बिन, रैन चन्द्र बिन, धरती मेह बिना।
जैसे ब्राह्मण वेद विहीना, तैसे प्राणी हरि नाम बिना॥
काम क्रोध मद लोभ निहारो छोड़ दे अब सन्त जना।
कहे नानक शाह सुन भगवन्ता या जगमें नहिं कोई अपना॥